हिन्दी-गद्य-मीमांसा

रमाकान्त त्रिपाठी

हिन्दी-गद्य-मीमांसा

लेखक—

रमाकान्त त्रिपाठी, एम० ए०

जसवन्त कालेज, जोधपुर।

प्रकाशक—

सिटी बुक हाउस, कानपुर।

१९३२

द्वितीय वार १००० मूल्य ३॥)

प्रस्तावना

हिन्दी में गद्य–लेखन के विलम्ब के कुछ कारण

यह देखा जाता है कि प्रत्येक देश के साहित्य में पद्य का प्रचार गद्य से प्रथम होता है। महाकाव्य अथवा वीर-गाथायें ही सभी जातियों की प्राचीनतम साहित्यिक सम्पत्ति होती हैं। गद्य-काव्य अधिकतर उसी समय बनते हैं जब किसी देश की सामाजिक अवस्था अत्यधिक सभ्यतापूर्ण या यों कहिए कि पार्थिवतापूर्ण हो जाती है। सभ्यता और दुनियादारी ये दोनों शब्द पर्यायवाची से हैं, क्योंकि ज्यों ज्यों मानव-समाज अपनी आदिम अवस्था से निकल कर क्रमशः अत्यधिक सभ्य होता जाता है और उसकी ज्ञानराशि तथा सांसारिक आवश्यकतायें बढ़ती जाती हैं त्यों त्यों उसकी मानसिक दशा में क्रमशः बड़ा विपर्यय होता जाता है। एक परिणाम यह होता है कि आवश्यकताओं के बढ़ते रहने तथा जीवन–संग्राम के अत्यन्त गम्भीर होने से लोगों की व्याव-हारिक दृष्टि प्रबलतर होती जाती है। एवं लौकिक असुविधाओं तथा कठिनाइयों का सामना करते करते उनकी बौद्धिक शक्तियों का उपयोग बढ़ता ही जाता है। जो आवेश तथा जो

मानसिक स्वातंत्र्य प्रदर्शन करने के अवसर मनुष्य को प्रारम्भिक अव्यवस्थित दशा में मिला करते थे वे उसे उसकी प्रौढ़ावस्था में विविध प्रकार के सामाजिक बन्धनों से जकड़ जाने पर नहीं मिलते। तभी तो कहा गया है कि सभ्यता और वास्तविक कविता इन दोनों में पारस्परिक द्वेष है। मैकाले ने इसी विषय के प्रतिपादन में जो बड़ी इमारत खड़ी की है वह सब निस्सार नहीं है। उसमें बहुत कुछ तथ्य भी है। क्योंकि सचमुच सभ्यता की वृद्धि के साथ साथ मनुष्यों में ऐहिकता की मात्रा का भी उत्कर्ष होता जाता है; उनकी हार्दिक तथा मानसिक शक्तियों का सामञ्जस्य क्षीण हो जाता है और केवल मात्र उनकी बुद्धि की तीक्ष्णता बढ़ती जाती है। अतएव अधिकांश मनुष्यों में कविता को सराहने तथा उससे आत्मानन्द प्राप्त करने की शक्ति क्षीण हो जाती है। सभ्य जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कलाओं के विकास से कवितोचित परिस्थिति का न्यूनाधिक लोप होता है और इसके प्रतिकूल गद्य-लेखकों के लिए मार्ग खुलता जाता है।

इस व्यावहारिकता अथवा बौद्धिकता का सम्बन्ध गद्य-लेखन की प्रथा से सूक्ष्मरूप में दिखलाकर एक बात और कहनी है। शायद पद्य का प्रचार पहले पहल इस कारण से भी होता हो कि पद्य में जो बात लिखी होती है उसे स्मरण रखना सब के लिए अधिक सरल रहता है। गद्य की पंक्तियों को स्मरण रखना इतना सहल काम नहीं। अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध लेखक

सिडनी ने भी अपनी सम्मति यही दी है। इसी लिए गद्य लिखने की परिपाटी प्रत्येक देश में तभी पड़ी थी, जब मुद्रण-यंत्रों का आविष्कार तथा प्रचार हुआ, उसके पहले कभी नहीं या बहुत कम हुआ। मुद्रणयंत्रों का सब से बड़ा उपयोग यह था कि उनके द्वारा बहुत सी प्रतिलिपियाँ तैयार हो सकती थीं, और बड़े से बड़े गद्य-ग्रन्थ भी लिखे जा सकते थे तथा उनके प्रचार होने का पूरा सुभीता भी हो सकता था।

यहीं पर एक बात और उल्लेख्य है। जब समाज में शिक्षित समुदाय की वृद्धि होती है, तभी गद्य-साहित्य की खपत होना सम्भव हो सकता है। अनपढ़ अथवा अधकचरे लोग भी कविता को बहुत कुछ समझ सकते हैं और उसको शीघ्र कण्ठस्थ करके उससे आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु गद्य की वाक्य-रचना को एकाएक हृदयंगम कर लेना तथा उसमें लिखे हुए किसी लम्बे लेख का भाव केवल सुन कर ही समझ लेना साधारण अशिक्षित पुरुष की शक्ति के बाहर होता है। इस सिद्धान्त की परिपुष्टि पं० प्रतापनारायण मिश्र तथा अन्य कई १९ वीं शताब्दी वाले हिन्दी-लेखकों के गद्य-लेखों से होती है। प्रतापनारायण मिश्र का गद्य न तो विद्वत्तापूर्ण ही था और न सर्वोच्च कोटि के साहित्यिक गद्य का नमूना ही था। यद्यपि उसमें अनेक ऐसे गुण थे जो उत्तम प्रकार के गद्य में होते हैं, और यद्यपि हिन्दी-गद्य उनका बड़ा आभारी रहेगा, तथापि अन्त में यही मानना पड़ता है कि

उसकी भाषा तथा उसका स्वरूप दोनों प्रारम्भिक गद्य के से थे। उन्होंने जान बूझ कर ऐसी ग्रामीणतापूर्ण सुबोध भाषा लिखी थी जो अल्प शिक्षित हिन्दी-जनता को ग्राह्य हो सके। एक प्रकार से उन्होंने अपनी शैली-द्वारा आधुनिक गद्य-साहित्य के प्रचार का शिलान्यास सा किया था। यदि प्रतापनारायण के समकालीन अन्य लेखक घोर संस्कृतमय भाषा लिख गये होते तो आज हिन्दी-गद्य की इतनी विभिन्न रोचक शैलियाँ देखने को न मिलतीं।

संस्कृत में गद्य का अभाव इस कारण रहा होगा कि उसके साहित्याचार्यों ने साहित्य को धार्मिक स्वरूप देना चाहा था। जो कोई नया काव्य अथवा नाटक लिखता था उसे अपनी कविता का विषय अथवा नाटक का कथानक रामायण या महाभारत से ही लेना पड़ता था। साहित्य से लौकिकता कई रूपों में हटाई जाती थी — काव्यों में देवी-देवताओं की स्तुतियाँ अवश्य रखनी होती थीं। नाटकों का अन्त सदैव सुखप्रद ही होता था, संयोग की जगह वियोग दिखाना वर्जित था। नाटकों में यह स्वाभाविक ही था कि पात्रों की बोलचाल बहुधा गद्य में ही हो, पर तब भी ज़्यादातर वे कविता ही में वार्तालाप करते थे।

ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दी पर भी संस्कृत-साहित्य की इस काव्यमयता का बड़ा प्रभाव पड़ा होगा। हिन्दी का संस्कृत से सम्बन्ध भी बहुत घनिष्ट रहा है। उसका छन्दःशास्त्र,

उसके अलंकार, उसकी शब्दावली सभी संस्कृत से ली गई हैं। इसके सिवाय प्राचीन हिन्दी-साहित्य के प्रायः सभी लेखक संस्कृत के पूर्ण ज्ञाता थे। अतएव, शायद संस्कृतकाव्यकारों के सिद्धान्त को मान कर ही उन्होंने रोज़ की बोलचाल की भाषा या गद्य में कुछ लिखना हेय समझा हो। हिन्दी में गद्य लिखने की प्रथा देर में इससे भी प्रारम्भ हुई होगी कि उसका साहित्यिक काल अधिकतर धार्मिक आन्दोलनों के बीच में ही पड़ गया था। १५ वीं और १६ वीं शताब्दियों के आसपास जब सूरदास और तुलसीदास के द्वारा हिन्दी-साहित्य का सर्वोत्कृष्ट भाग निर्मित हो रहा था, तब वल्लभाचार्य और रामानन्द वैष्णव-धर्म को बड़े वेग से समस्त भारत में फैला रहे थे। ऐसे वायुमण्डल में जहाँ

"कीन्हें प्राकृत-जन गुण-गाना,
शिर धुनि गिरा लागि पछिताना"

की गूँज हो रही हो, गद्य लिखना तो दूर रहा, सांसारिक विषयों पर कविता लिखना ही असम्भव था। हाँ, यह दूसरी बात है कि राज-दरबारों में राज-कृपा के आश्रय में सभी प्रकार की साहित्यिक चर्चा हो सकती थी और हुई भी। जायसी, गंग, रहीम, सेनापति तथा अन्य कवियों ने हिन्दी में लौकिक (Secular) साहित्य की रचना इसी कारण कर पाई कि या तो वे राजदरबारों के प्रभाव के निकट रहे या समकालीन धार्मिक आन्दोलनों के प्रवेग से बाहर रहे, जिससे

उनके दिमाग़ों में वह व्यावहारिकता अथवा चांचल्य उपस्थित रहा होगा जिससे समस्त गद्य-लेखन को प्रेरक-शक्ति मलती है।

अब, यदि कहा जाय कि मुसलमान-राज्य में और विशेष कर मुग़ल-सम्राटों के आधिपत्य में जब एक से एक बढ़े चढ़े हास्यप्रिय दरबारी रहा करते थे जो रात-दिन अपने हँसी के लतीफ़ों से क़हक़हे मचाये रहते थे, तब ऐसी अनुकूल परिस्थिति में गद्य लिखने की प्रथा का प्रचार क्यों न हो पाया? बात ठीक है, और इसका यथेष्ट समाधान करना भी कठिन है। परन्तु इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि मुग़लों के राज्यकाल में और ख़ासकर अकबर और उसके निकटतम उत्तराधिकारियों के समय में प्रजा अपेक्षाकृत सुख, शान्ति से थी, तथापि इसी प्रसंग में इतिहास साक्षी है कि उस समय भी नित्य नये रणकौतुक रचे जाते थे। स्वयं अकबर को भी अन्त तक कभी राजपूतों से, कभी सीमान्त-प्रदेशवालों से और कभी दक्षिणवाले राज्यों से लड़ते ही बीता। सारांश यह है कि भारत में सर्वत्र किसी न किसी रूप में रण-चर्चा की गूँज भरी रहती थी। ऐसी रण-शब्द-ध्वनित स्थिति में भला गद्य-लेखकों के लिए कहाँ स्थान था? यदि लेखक भी होते तो वाचकों का ठिकाना न था। पद्मावती के जौहर करने की जो जोश दिलाने वाली कथायें राजपूतों में प्रचलित थीं उनकी ध्वनि से ज्ञात होता है कि उस समय ऐसे साहित्य की माँग

थी जो रणांगण में कड़खे का सा काम कर सके। साधारण चारणों का सम्मान लोग अधिक करते थे; यदि गद्य-लेखक कोई होता तो उसको कोई न पूछता।

अभी कह चुके हैं कि मुग़ल-राज्य के से शान्ति-मय काल में गद्य-साहित्य को प्रोत्साहन न मिला। किन्तु, तब भी यह निर्विवाद है कि राज-दरबार के मुसलमान-दरबारियों तथा विद्वानों के द्वारा भविष्य में गद्य-प्रचार होने की समुचित सामग्री तैयार हो गई थी। एक तो अकबर ऐसे लोक-प्रिय सम्राट् की निष्पक्षता तथा सहृदयता पर मुग्ध होकर हिन्दू, मुसलमान सभी को निर्द्वन्द्वतापूर्वक जीवन व्यतीत करने का अवसर मिला। पारस्परिक सौहार्द से उन्हों ने एक दूसरे की भाषा-वेष का अनुकरण तथा अध्ययन किया। जैसा कि राजा शिवप्रसाद कहते हैं हिन्दुओं ने अपनी भाषा निरी फ़ारसीमय बना डाली और बड़े गर्व से उसको बोल-चाल तक में प्रयोग करने लगे। फल यह हुआ कि किसी समय हिन्दू, मुसलमानों में जो घृणापूर्ण भाव एक दूसरे के प्रति रहे थे, उनका बहुत कुछ लोप हो गया और वे स्वतंत्रतापूर्वक आपस में मिलने जुलने लगे। अकबर के दरबार में ही ख़ानख़ाना, अबुलफ़ज़्ल तथा बीरबल आदि इस गंगा-यमुनी संगम का उदाहरण प्रस्तुत करते थे। अस्तु, अकबरी दरबार के द्वारा पारस्परिक मिलन तथा गप्प-गोष्ठी का बड़ा प्रचार हुआ, और इसी के साथ साथ एक प्रकार से गद्योपयुक्त लौकिक चर्चा की जड़ जमी जो वर्षों

के उपरान्त १९ वीं शताब्दी में पल्लवित हुई।

१६ वीं और १७ वीं शताब्दियों में हिन्दी-गद्य के अभाव का एक और बड़ा कारण था। अकबर के समय तक जैसा कि अभी संकेत किया जा चुका है हिन्दुओं ने अपनी भाषा को फ़ारसी में डुबोना शुरू कर दिया था। इसी व्रजभाषा तथा मुग़ल-सैनिकों की बाज़ारू भाषा के संमिश्रण से उर्दू का जन्म हुआ था। इसके सिवाय मुग़ल-दरबार की लिखा-पढ़ी भी फ़ारसी में ही होती थी। इन्हीं कारणों से हिन्दी का अस्तित्व तक छिपा रहा था। जब औरंगज़ेब की कुचालों से मरहटों और सिक्खों ने हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान का डंका बजाया, तब तत्कालीन हिन्दू-साहित्य पर भी उसका प्रतिघात हुआ। हिन्दी-कविता जिसका मूल सिद्धान्त संस्कृत-कवियों की भांति यह रहा था :—

"शृंगारी चेत्कविः काव्ये ज़ातं रसमयं जगत्" उसका एक दम से काया-पलट हो गया, उसमें भूषण के हाथ से वीर-रस का समावेश किया गया।

इस प्रकार जब से एक ओर हिन्दू लोग अपने जातीय जीवन का विच्छेद मुसलमानों से करने लगे तथा दूसरी ओर मुसलमानी राज्य की नींव अंग्रेज़ों की शक्ति के उपक्रमण से उखड़ने लगी, तभी से हिन्दी-साहित्य का कलेवर परिवर्तित होना शुरू हुआ। तभी से मुसलमानी राज-दरबारों के सांसारिकतापूर्ण वैभव और आडम्बर के वायुमण्डल में तैयार

की हुई भूमि में हिन्दी-गद्य का आधुनिक स्वरूप उत्पन्न हुआ। लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' के गद्य की शुद्धता इस बात का प्रमाण देती है कि उस समय तक हिन्दू लोग अपनी भाषा को यावनी संगति से कहाँ तक हटा ले गये थे।

मुसलमानों के संसर्ग से हिन्दी को एक लाभ और हुआ था। हिन्दी-गद्य के विकास में यह बड़ी भारी अड़चन पड़ रही थी, कि किसी एक प्रान्तीय भाषा को सर्वमान्य माध्यम बनाना असम्भव सा हो रहा था। एक स्थान से दूसरे स्थान तक आने जाने के कोई समुचित साधन तो थे ही नहीं। बस फल यह होता था कि प्रत्येक जनपद के निवासी अपनी अपनी भाषा का व्यवहार करते थे। मुग़लों के समय में सारे देश में एक प्रकार की एकता उत्पन्न होगई। एक सम्राट् की छत्र-छाया में रहने से तथा हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक व्यवहार से भारत का अधिकांश एक सूत्र में बँध सा गया था। शायद इसी ऐक्य के प्रभाव से तथा प्रत्येक प्रान्तीय भाषा पर फ़ारसी की चोट लगने से क्रमशः लोगों की बोलचाल में साम्य आने लगा होगा। समय पाकर जब बोलचाल की भाषा को साहित्यिक भाषा बनने का अवसर मिला, तभी से बघेली, मागधी, राजस्थानी आदि विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के स्थान में एकमात्र खड़ी बोली के प्रयोग का मार्ग खुल गया।

अन्त में अंग्रेज़ी राज्य के जमने से तथा विदेशियों की

शिक्षा के लिए पाठ्यपुस्तकों की रचना होने से हिन्दी-गद्य को बड़ा प्रोत्साहन मिला जैसा कि लल्लूलाल और सदल मिश्र के ग्रन्थों से स्पष्ट ज्ञात होता है।

इस अध्याय में हिन्दी-गद्य-विकास के विलम्ब की विवेचना करते हुए जो कारण अनुमान के रूप में निर्दिष्ट किये गये हैं उनमें से कोई एक स्वतन्त्र रूप से काफ़ी युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं हो सकता। इस बात का पता लगाना कि साहित्य के अमुक अंग की पुष्टि देर में क्यों हुई सरल काम नहीं है। जिस प्रकार मानव जीवन रहस्यमय तथा निगूढ़ है, उसी प्रकार साहित्यिक विभागों तथा उपविभागों की सृष्टि और विकास भी सामाजिक परिस्थिति के अनुसार नियमित होने के कारण रहस्यमय होते हैं। अतएव इस बात की गवेषणा करना कि किसी समय-विशेष में किसी साहित्य में कविता तथा नाट्यकला की उन्नति क्यों हुई तथा किसी दूसरे समय में उनका ह्रास होने पर गद्य-लेखों का प्राचुर्य क्यों हुआ भ्रममूलक है।

अस्तु, हिन्दी गद्य-साहित्य के प्रारम्भ होने में इतनी देर क्यों हुई ? इस प्रश्न का ठीक ठीक, व्यापक तथा संतोषजनक उत्तर देना असम्भव है। वास्तव में यह निश्चितरूप से तै करना कठिन है कि पहले समाज की परिस्थिति में ऐसी कौन सी बातें उपस्थित थीं जिनके कारण लेखकों की प्रवृत्ति गद्य लिखने की ओर न होती थी, तथा अब ऐसा कौन सा परि-

वर्तन घटित हो गया है, जो उस ओर उन्हें प्रोत्साहित करता है ।

हिन्दी-गद्य का विकास

आजकल हिन्दी का जो स्वरूप देख पड़ता है, उसके उद्गमस्थान तथा प्रारम्भिक काल का पता लगाना कठिन है। केवल भाषातत्वज्ञों की निर्मित की हुई अनुमान की भित्ति का सहारा लेकर यह कहा जा सकता है कि १२ वीं शताब्दी के लगभग आधुनिक बोलचाल की तथा पुस्तकों में लिखी हुई हिन्दी की नींव पड़ी होगी। मुसलमानों के आक्रमण के पहले शौरसेनी, मागधी आदि भिन्न भिन्न अपभ्रंश प्रान्तीय भाषाओं का प्रचार रहा था। ज्यों ज्यों मुसलमानी सभ्यता का सिक्का भारत में जमता गया त्यों त्यों उनकी भाषा का भी रंग उत्तरोत्तर यहाँ की बोली पर चढ़ता गया। जैसा कि राजा शिवप्रसाद कहते हैं, संस्कृत की गौरव-गरिमा तो हिन्दू-साम्राज्य के अस्त होने के साथ ही लुप्त होने लगी थी। बस फिर क्या था, अरबी, तुरकी और फ़ारसी जो मुसलमान-शासक तथा सैनिक अपनी जिह्वाओं पर रख कर लाये थे, उनका संमिश्रण प्रान्तीय भाषाओं से हुआ। फ़ारसी को राज-दरबार की भाषा बनने का सौभाग्य मिलने से इस संमिश्रण में और भी सुगमता हुई।

अस्तु, व्रजभाषा जो वर्तमान हिन्दी की जननी कही जाती है, उसका भी विदेशी भाषाओं के संसर्ग से काया-पलट

हुआ। यहाँ पर स्मरण रखने को बात है कि मुसलमान विजेताओं ने ही उस समय की प्रचलित देहली तथा मेरठ के आसपास की भाषा को 'हिन्दी' नाम दिया था। सम्भव है कि पहले पहल हिन्दुओं ने इस देशी तथा विदेशी भाषाओं के संगम को घृणा की दृष्टि से देखा हो। परन्तु, अन्त में आपस में बोल-चाल, आचार-व्यवहार की सुविधा का ख़्याल करके उन्होंने अपनी भाषा को खिचड़ी बन जाने दिया। एक समय ऐसा आया जब कि बड़े से बड़े कट्टर हिन्दू पत्र-व्यवहार तक फ़ारसी में करने लगे। देवनागरी अक्षरों का चलन तो बन्द ही सा हो गया था। उस भाषा को चाहे हिन्दी कहिए चाहे उर्दू।

इस मिश्रित भाषा का परिपक्व स्वरूप १४ वीं शताब्दी में ख़ुसरो की कविता में मिलता है। ख़ुसरो अलाउद्दीन ख़िलजी के समय में दिल्ली में था। फ़ारसी में कविता करने के सिवाय उसने हिन्दी में भी बहुत कुछ लिखा है। उसकी 'ख़ालिक़बारी', पहेलियाँ, दोसख़ुने तथा ग़ज़लें प्रसिद्ध हैं।

"बिया बिरादर, आवरे भाई। बिनशी, मादर, बैठरी माई।"

ख़ुसरो ने इस प्रकार की पंक्तियों में फ़ारसी और 'हिन्दवी' को ख़ूब मिलाया है, और एक प्रकार से आजकल की खड़ी बोली की जड़ जमाई है।

'चार महीने बहुत चले और महीने थोरी।
अमीर ख़सरो यों कहे तू बता पहेली मोरी॥'

इस पहेली की भाषा सीधी हिन्दी का नमूना है। यह इस बात का उत्तम प्रमाण है कि ख़ुसरो के समय तक व्रज-भाषा तथा फ़ारसी के संयोग से एक ऐसी कसी हुई भाषा का प्रौढ़ रूप तैयार हो गया था जो आगे चल कर यथासमय साहित्यिक प्रयोग के उपयुक्त सिद्ध हो सकेगी।

ख़ुसरो के बाद १५ वीं शताब्दी में कबीर साहब ने स्वयं अधिक शिक्षित न होने के कारण बहुतकर गँवारी, बोल-चाल की भाषा में रचना की। उनकी भाषा प्राय: ग्रामीणतापूर्ण है परन्तु उसकी व्यंजक-शक्ति बड़ी प्रबल है। उसमें फ़ारसी, अरबी, संस्कृत तथा ठेठपन सभी का मेल है। जहाँ जहाँ उनकी भाषा परिमार्जित है, वहाँ फ़ारसी-शब्दों की ख़ूब धूम है।

"साहब के दरबार में, कमी काहु की नाहिं ;
बन्दा मौज न पावहीं, चूक चाकरी माहिं।"

तथा,

"छोड़ बदबख़्त तू क़हर की नज़र को,
खोल दिल बीच जहाँ बसत हक्का।
अजब दीदार है अजब महबूब है,
करन कारन जहाँ सबद सच्चा॥"

ये दोनों पद इस बात के स्पष्ट उदाहरण हैं कि १५ वीं शताब्दी तक मुसलमानी संस्कृति का प्रभाव हिन्दू-विचार तथा हिन्दू-भाषा पर कितना गहरा पड़ चुका था। 'हिन्दवी'

भाषा निरी फ़ारसीमय हो चुकी थी। परन्तु इसी सम्बन्ध में यह बात भी स्मरणीय है कि राज-काज में मुसलमानों के सम्पर्क में रहते रहते हिन्दुओं ने भी अपनी भाषा तथा वेष दूसरों को सिखला दिये थे। अकबर के समय में तो उसकी समदर्शिता के कारण हिन्दू और मुसलमानों की पारस्परिक घनिष्टता और भी बढ़ गई थी। यहाँ तक कि रहीम तथा रसखान से हिन्दी-कवि तथा अबुलफ़ज़ल और फ़ैज़ी ऐसे संस्कृतज्ञ देख पड़ने लगे थे।

इस प्रकार फ़ारसी के सहवास से हिन्दी को प्रारम्भिक समय में कई लाभ हुए। एक तो मुसलमान-सम्राटों की ओर से जो कर्मचारीगण भिन्न भिन्न प्रान्तों में नियुक्त होकर जाते थे, वे अपने साथ फ़ारसी ले जाते थे। वे सब कार्यवाही उसी में करते थे। और जिस जिस प्रान्त में वे रहते थे वहीं उनके द्वारा फ़ारसी का प्रचार होता था। वहाँ के लोग उनसे मिलते जुलते फ़ारसी के शब्द तथा मुहावरे सीख लेते होंगे। परिणाम यह होता था कि भिन्न भिन्न प्रान्त वाले, जो साधारणतया अपनी अपनी भाषायें बोला करते थे, क्रमशः एक भाषाभाषी बनने लगते थे। शायद यह सब इस बात का एक पक्का सबूत है कि १६ वीं शताब्दी तक हिन्दी में कविता करने वाले सभी कवि व्रजभाषा का न्यूनाधिक परिमाण में आश्रय लेने लगे। और व्रजभाषा ही कविता की सर्वमान्य भाषा निश्चित होगई। विशेष कर हिन्दी-गद्य के लिए तो

यह बड़ा आवश्यक था कि प्रान्तीय बोलियों में जितना ही अधिक साम्य हो उतनी ही उसकी उन्नति अथवा प्रचार में सरलता हो सकती थी। यही कारण था कि इतने विलम्ब के उपरान्त १९ वीं शताब्दी के पूर्वकाल में ब्रिटिश-शासन के जमने पर तथा अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रबल झोंके में प्रान्तीय भाषाओं की विभिन्नता और वैषम्य के दूर होने पर हिन्दी में उत्कृष्ट गद्य-साहित्य का श्रीगणेश हो गया।

अस्तु, हिन्दी की उत्पत्ति तथा उसकी साहित्यिक परिस्थिति पर १६ वीं शताब्दी के लगभग तक विचार करके अब उसके गद्य-साहित्य के क्रमिक विकास पर ध्यान देना है। अभी संकेत किया जा चुका है कि शुरू शुरू में गद्य लिखने की प्रथा के चलने में कैसी रुकावटें पड़ रही थीं। एक ओर प्रान्तीय भाषायें बोल–चाल तथा लिखने की भाषा के बीच में दीवाल खड़ी कर रही थीं। यदि कोई व्रज का निवासी लेखक गद्य की पुस्तक लिखने बैठता तो स्वभावतः वह व्रजभाषा में ही लिखता। परन्तु उसका प्रचार व्रज–भूमि के बाहर शायद ही और कहीं हो पाता। यह तै करना खेल तो था नहीं कि सब जगहों के रहने वाले बोलें चाहे जौन सी भाषा पर लिखें कोई एक भाषा। यह प्रश्न तो उसी दशा में हल हो सकता था जब किसी वाह्यशक्ति के आघात से उन्हें एक भाषा स्वीकार करने पर बाध्य होना पड़ता।

इसी तरह अन्य कई विघ्न गद्य के विकास पर पड़ रहे

थे। परन्तु, क्योंकि बहुत काल तक गद्य का सर्वथा अभाव रहा, इस लिए लोग पद्य ही बोलते रहे होंगे, ऐसा भी नहीं कह सकते। तात्पर्य केवल यह है कि जिस प्रकार कविता में लिखने और बोलने की भाषा का सम्मेलन हो चुका था, उस प्रकार का निश्चय गद्य के विषय में न हो पाया था। सच तो यह है कि स्वप्न में भी लेखकों के दिमाग़ में इस बात का ख़्याल न समाता था कि गद्य में भी कोई लेखन-शैली हो सकती है। इसके लिए भी हम तत्कालीन लेखकों को दोषी नहीं ठहरा सकते, क्योंकि वे ऐसे वातावरण में स्थित थे जो गद्य के सर्वथा प्रतिकूल था; केवल कविता ही उसमें पनप सकती थी।

वैसे तो साहित्यक पुरातत्वज्ञों को प्राचीन हिन्दी-साहित्य में गद्य-लेखों की खोज करते समय कुछ सामग्री मिल ही जावेगी। परन्तु उसमें से अधिकांश इस ढंग की है जिससे कुतूहलमात्र की संतुष्टि हो जाती है, और जो इस विचार से साहित्यिक अजायबघर में रखने योग्य है। उदाहरणार्थ, पृथ्वीराज के समय के कुछ पूर्व, गोरखनाथ के तितर-बितर गद्य-लेख इसी श्रेणी में परिगणित हो सकते हैं। सबसे पहला समीचीन गद्य का नमूना गोकुलनाथ की "चौरासी तथा दो सौ बावन वैष्णवों की बार्ता" में मिलता है। उनका स्फुरणकाल १६ वीं शताब्दी का अन्तिम भाग माना जाता है। हम उनकी वार्त्ताओं को १६ वीं शताब्दी की आदर्श गद्य-रचनायें मानकर उनपर विचार करेंगे।

वह शताब्दी धार्मिक आन्दोलनों का युग थी। इसलाम की निरनुक्रोशता तथा धार्मिक आवेग के संघर्षण से म्रियमाण हिन्दू–धर्म की शुष्क अस्थियों में भी जीवन–ज्योति का संचार हो उठा। शंकराचार्य की बौद्धिक फ़िलासोफ़ी की उत्पन्न की हुई सुषुप्तावस्था से इसलाम–धर्म की आवेशपूर्ण पैग़ंबर–पूजा ने हिन्दुओं को जगाया। हिन्दू–समाज ने अपना अस्तित्व सुरक्षित रखने के लिए राम और कृष्ण की भक्ति की गूँज देश भर में फैलाई।

इसी आवेशपूर्ण भक्तिवाद का संदेश लेकर स्वामी रामानन्द तथा वल्लभाचार्य ने उत्तरी भारत में भ्रमण किया। सारे देश में थोड़े ही समय में राम और कृष्ण की लीलाओं के कीर्तन बड़े ही उल्लासपूर्वक होने लगे। इस देश व्यापी भक्ति–मार्ग के उत्थान ने भारत के विभिन्न प्रान्तों में बड़े बड़े सन्त पैदा कर दिये। इन सन्तों ने स्वयं भक्ति-जनित आनन्दातिरेक का अनुभव तो किया ही, पर साथ ही साथ उन्होंने उस आनन्द को जन–साधारण के दिलों में भी पहुँचाने का तथा उसके द्वारा उनमें एक नई स्फूर्ति उत्पन्न करने का पूरा प्रयत्न किया। एवं, सूरदास, तुलसीदास, अष्ट छाप वाले भक्तों ने तथा अन्योन्य संतों ने अपनी साहित्यिक रचनाओं के द्वारा अपने भावों का प्रचार करना शुरू किया। यद्यपि कबीर और दादू जैसे ज्ञान–मार्गियों ने तथा सूर, तुलसी जैसे भक्तिमार्गियों ने अपने अपने सिद्धान्त पृथक् पृथक् रूप में लोगों के सामने

रक्खे, पर उन सबों ने उत्तरी भारत में सर्वत्र प्रचलित भाषा का ही कुछ हेर-फेर से अपने अपने ढंग से प्रयोग किया। इन सबों की रचनाओं में जो यह साधारण जनता की बोल-चाल की भाषा व्यवहृत हुई है इसका सम्बन्ध तत्कालीन भक्तिमार्ग की देश-व्यापी प्रवृत्ति से था। बात यह थी कि उस समय के प्रायः सभी सन्तों ने यह समझ लिया होगा कि जब तक हम अपने सिद्धान्त बोल-चाल की भाषा में नहीं प्रकट करते तब तक उनका प्रभाव विशदरूप में जनता पर नहीं पड़ सकेगा। बात भी ऐसी ही थी। क्योंकि, अब वह समय नहीं था कि जब सारे देश में संस्कृत का ही आधिपत्य था और वेद-शास्त्र को समझने की तालिका ब्राह्मण पण्डितों के हाथ में थी। मुसलमान साम्राज्य के जमने से भारत के जीवन पर तथा उसकी विचार-धारा पर बड़ा परिवर्तन हो चुका था। इस समय की हिन्दू जनता अपनी प्राचीन संस्कृति में तथा साहित्य में श्रद्धा ज़रूर रखती थी और उनके तत्त्वों को फिर से जानने की उसे जिज्ञासा अवश्य थी; पर उद्भट पंडितों के मुँह से दुरूह व्याख्यान सुनने के लिए उसे धैर्य न था। हाँ, यदि नित्य-प्रति की बोल-चाल की भाषा से मिलती जुलती, भक्तिप्लावित तरल भाषा में उन्हें कोई बड़े से बड़े गहन दार्शनिक तत्त्वों का भी दिग्दर्शन कराने को तैयार होता तब तो सभी लोग उसे सुनते।

जनता की इसी प्रवृत्ति को देख कर तथा अपने प्रचार करने

के उद्देश्य की सफलता की सम्भावना देख कर ही १५ वीं और १६ वीं शताब्दियों के बहुत से संत कवियों ने संस्कृत की विद्वत्ता रखते हुए भी उस समय की हिन्दी भाषा में ही अपने ग्रन्थ लिखे थे। इस प्रसंग में कबीर तथा तुलसीदास ने अपने विचार बड़ी ही स्पष्ट रीति से प्रकट किये हैं।

कबीर कहते हैं:—

संसकिरत संसार में, पंडित करै बखान ।
भाषा भक्ति दृढ़ावही, न्यारा पद निर्वान ॥१॥
संसकीरत है कूप-जल, भाषा बहता नीर ।
भाषा सतगुरु सहित है, सत मत गहिर गँभीर ॥२॥
पूरन बानी वेद की, सोहत परम अनूप ।
आधी भाषा-नेत्र बिन, को लखि पावे रूप ॥३॥

तुलसीदास जी कहते हैं:—

का भाषा का संसकृत, प्रेम चाहिए साँच ।
काम जो आवै कामरी, का करि सकै कमाँच ॥५॥

ऊपर दिये हुए कबीर के दूसरे दोहे से यह बात कितनी अच्छी तरह ज्ञात होती है कि उस समय के सभी मननशील लोगों को यह भली भाँति विदित था कि संस्कृत का विकास-प्रवाह व्याकरण के नियमों से जकड़ जाने से न जाने कब बंद होगया था जिससे वह साधारण प्रयोग के लिए सर्वथा अनुपयुक्त हो चुकी थी। इसके प्रतिकूल उत्तरी भारत में क्रमशः एक नई भाषा बन रही थी जिसका भविष्य बड़ा उज्ज्वल देख

पड़ता था। क्यों कि इस भाषा का रुख़ वाग्धारा की ओर ही था और इसी से उसकी सजीवता का पूरा प्रमाण मिलता था। तभी तो कबीर ने उसे 'बहता नीर' कहा है।

इस प्रकार तत्कालीन भक्त कवियों तथा ज्ञानी संतों के प्रयत्न से भाषा पर एक नया लौकिक अथवा यों कहिए कि लोकसत्तात्मक प्रभाव पड़ा जिसके कारण साहित्य का आदर्श ही एक दम से बदल गया। अभी तक अधिकतर कवि प्रायः रीति-सम्बन्धी अथवा शृंगार रस-विषय कवितायें ही लिखा करते थे। पर भक्ति आन्दोलन के आवेग में पड़ कर घोर शृंगारी कवियों को भी अपने हृद्गत भाव भक्तिरस में डुबो कर उन पर एक नया सात्विक आवरण चढ़ा कर प्रदर्शित करने की प्रेरणा सी हुई। इसके अतिरिक्त उस समय के बहुत से भक्ति-रस-प्रेरित काव्य साहित्य का ध्येय जनता में सद्भावों को उद्दीप्त करने का हो गया।

तुलसीदास जी ही को लीजिए। उन्हों ने स्वयं रामायण के आरम्भ में अपना उद्देश्य निर्द्धारित करते हुए कहा है:—

कीरति, भनिति, भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

तात्पर्य यह है कि उस काल के भक्त कवियों के द्वारा हिन्दी-साहित्य पर एक नया रंग आगया।

पर, इस समीक्षा से अभिप्राय यह है कि हिन्दी-गद्य के उपयुक्त एक सुचिक्कण भाषा के बनने में जो रुकावटें अभी तक

पड़ रही थीं उनमें से एक बड़ी रुकावट इस भक्ति-आन्दोलन से दूर हुई। अभी तक उत्तर भारत की बोल-चाल की कई प्रान्तीय भाषायें थीं, उनमें से किसी एक को अथवा उन सबके यथोचित परिमाण में मिले हुए मिश्रित स्वरूप को साहित्यिक उपयोग के लिए सर्वस्वीकृत होने का सुअवसर न मिल पाया था। यह काम भक्त कवियों ने अपने काव्य-ग्रन्थों तथा भक्ति-रस-पूर्ण पदों के द्वारा अच्छी तरह कर दिया।

इस सम्बन्ध में तुलसीकृत रामायण का स्थान प्रथम आता है। अकेली रामायण के द्वारा जिस प्रकार बहु-संख्यक लोगों की रुचि हिन्दी-साहित्य की ओर उद्दीप्त हुई है उसका अनुमान तक नहीं हो सकता।

इसी तरह कबीर, मीरा, सूर, तुलसी, दादू आदि प्रधान ज्ञानियों तथा भक्तों के पदों ने सारे भारतवर्ष में सहृदय लोगों के दिलों में जो घर कर लिया है उसके कारण भी १५ वीं तथा १६ वीं शताब्दियों में हिन्दी के भाषा-संगठन को तथा परिस्कृति में कुछ कम सहायता न मिली होगी।

मुग़लों की छत्रच्छाया में भारतीय गान-विद्या को जो समुचित समादर प्राप्त हुआ था और जिसके कारण बैजू बावरा, मियाँ तानसेन आदि तत्कालीन उस्तादों को प्रोत्साहन मिला उसके सबब से भी हिन्दी को क्रमशः आगे बढ़ने में पूर्ण योग मिला होगा। क्योंकि, उनके पदों को गाते गाते तथा सुनते सुनते लोगों की बोली पर ही नहीं बल्कि साहि-

त्यिक भाषा पर भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ा होगा। यह बात केवल अनुमान करने की है। इस सम्बन्ध में अकाट्य प्रमाणों को एक जगह इकट्ठा करके उनके आधार पर निस्संकोच कह बैठने की गुंजायश नहीं हो सकती।

इस प्रकार भक्ति—आन्दोलन के प्रवाह के वेग से तथा मुग़लों के प्रोत्साहन से गान-विद्या आदि अन्य कलाओं का सर्वग्राह्य स्वरूप में प्रचार होने से उस समय हिन्दी को एक साहित्यिक रूप मिलने में बड़ी ही सहायता मिली। ठीक इसी समय अर्थात् १६ वीं शताब्दी के बीच में हिन्दी में कई तरह का उच्च कोटि का साहित्य बनना शुरू हुआ। पर इस प्रसंग में उस समय के उच्चकोटि के काव्य-साहित्य का उल्लेख न करके केवल गद्य-साहित्य पर ही विचार करना है और यह दिखाना है कि उसका भी तत्कालीन भक्ति—मार्ग की प्रगति से घनिष्ट सम्बन्ध है।

अभी कह चुके हैं कि वल्लभाचार्य ने १६ वीं शताब्दी के मध्यभाग में उत्तरी भारत में कृष्ण-भक्ति का खूब प्रचार किया। इन्हीं के पुत्र विट्ठलनाथ जी थे जिन्होंने अष्ट छाप की भक्त-कवि-मण्डली की स्थापना की थी। इन्हीं विट्ठलनाथ जी के एक गोकुलनाथ जी नामक सुपुत्र थे। इन्होंने वल्लभाचार्य जी के साथ साथ उत्तरी भारत में बड़ी दूर तक पर्यटन किया था। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' नाम की पुस्तकों में उन्होंने उन वृत्तान्तों

का उल्लेख किया है जो यात्रा में उन्होंने स्वयं देखे होंगे अथवा वल्लभाचार्य की सगुण कृष्ण-भक्ति का प्रचार करने के लिए तथा आचार्यों की महिमा का गान करने के लिए जो गढ़ ली गई हैं। इस प्रकार इन दोनों पुस्तकों का उद्देश्य वस्तुतः वैष्णव धर्म के पुष्टि संप्रदाय के सिद्धान्तों का प्रचार करना ही है।

एवं, लेखक का ध्येय निरा धार्मिक है। कोरे आत्मानन्द के लिए उसने उसे कदापि नहीं लिखा था। इसी से उसकी शैली में सादगी है। उसकी पदयोजना में किसी प्रकार की उड़ान के लक्षण नहीं हैं। उसकी वैयक्तिकता अदृश्य है तथा उसमें भाव-वैचित्र्य लाने के लिए हास्य आदि का समावेश नहीं किया गया। रोचकता से यदि आपका अभिप्राय रचना-तारल्य अथवा हास्यपूर्णता से है तो वह गोकुलनाथ के गद्य में ढूँढ़ने पर भी न मिल सकेगी। हाँ, एक दूसरे प्रकार की रोचकता उसमें अवश्य है। उसकी कथाओं के पात्र जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से लिये गए हैं। चोर, उठाईगीर, लुच्चों से लेकर मथुरा के चौबों, सेठों, साहूकारों, दरबारियों तक का सभी का हाल है। इसके सिवाय प्रत्येक प्रान्त के लोग उन वार्ताओं में मिलते हैं। इस विभिन्नता के कारण वे काफ़ी मनोरंजक प्रतीत होती हैं। गोकुलनाथ की वार्ताओं को पढ़ते समय यही ज्ञात होता है कि मानो हम स्थानान्तर में विचरण कर रहे हैं और प्रति दिन के लौकिक जीवन का चित्र हमारे

सम्मुख खिंच रहा है। एक बात अवश्य है कि अन्त में यही समझ पड़ता है कि यह जो लौकिकतामय चित्र सामने प्रस्तुत है वह भक्ति के चौखटे में जड़ा हुआ है। जिसे देखिए वही पहले चाहे जितने जघन्य कर्म क्यों न करता रहा हो, अन्त में वैष्णव-धर्म को बात की बात में स्वीकार कर लेता है। यही एक बात है जिसके कारण गोकुलनाथ की वार्ताओं को हम उच्चकोटि के गद्य-साहित्य में सम्मिलित करने से हिचकते हैं। तब भी यह देखते हुए कि उनके समय तक हिन्दी में उनकी टक्कर का कोई भी स्वतंत्र गद्य-ग्रन्थ नहीं बना था, हम गोकुलनाथ को महत्त्वपूर्ण लेखक मानते हैं।

यह तो हुई चौरासी तथा दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ताओं के प्रतिपाद्य विषय की बात। अब उनके गद्य की ऐतिहासिक महत्ता की विवेचना करनी है।

गोकुलनाथ अपने समय के एक मात्र गद्य-लेखक कहे जा सकते हैं। वार्ताओं के लिखने में उनका उद्देश्य चाहे जो रहा हो परन्तु, हिन्दी में गद्य-कथायें लिखने की परिपाटी उन्हीं ने डाली है। इनकी वाक्य-रचना में पुनरुक्तिदोष तथा विषमता विद्यमान हैं और उसमें एक प्रकार का शैथिल्य भी है। तिस पर भी उन्हों ने इतने बड़े बड़े ग्रन्थ गद्य में लिखने का साहस करके भावी लेखकों के लिए उससे भी अधिक परिमार्जित भाषा में भिन्न भिन्न प्रकार की रचनायें करने का

द्वार खोल दिया। सब से बड़ा काम गोकुलनाथ ने यह किया कि उन्हों ने वर्णन करने के लिए गद्य का प्रयोग करके उसकी वर्णन-शक्ति बढ़ाई अर्थात् नाना प्रकार के पुरुष-स्त्रियों के वृत्तान्त लिखते समय उन्हें अपने शब्द-कोष को काफ़ी विस्तृत बनाना पड़ा। फ़ारसी, अरबी, व्रजभाषा, गुजराती, पंजाबी, मारवाड़ी तथा ठेठ बोलियों तक के शब्द और मुहावरे लाकर उन्हें उन लोगों के सम्बन्ध की चित्र-विचित्र घटनायें वर्णन करनी पड़ीं। अतएव इस वर्णन-विभिन्नता के तद्रूप शब्द-बाहुल्य की आवश्यकता के अनुसार गोकुलनाथ ने हिन्दी-गद्य के विकास में बड़ा योग दिया।

यद्यपि जटमल और बनारसीदास जो क्रम से 'गोरा-बादल की कथा' तथा 'अर्द्धकथानक' नामक दुष्प्राप्य गद्य-पुस्तकों के रचयिता कहे जाते हैं, शायद गोकुलनाथ के समकालीन रहे हों, तथापि हम प्राचीन गद्य-लेखकों की श्रेणी में उन्हें अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दे सकते। एक तो उनका लिखा हुआ गद्य बहुत कम परिमाण में प्राप्त हुआ है, और दूसरे जो कुछ मिलता है वह काफ़ी सुसंगठित तथा सुप्रवाह नहीं है। उसमें उस प्रकार की स्वाभाविकता नहीं जो गोकुलनाथ की भाषा में है। ऐसी अवस्था में हिन्दी-गद्य के विकास के अध्ययन करने वाले को जटमल तथा बनारसीदास के नाम केवल इस लिए स्मरण रखने चाहिए कि उन्होंने सुरति मिश्र आदि अन्य कई टीकाकारों की भाँति ऐसे समय में जब गद्य लिखने की

प्रथा अदृश्य सी थी, अपनी छोटी-मोटी रचनाओं के द्वारा साहित्य के एक आवश्यक अंग को लोप होने से बचाया। उनका ठीक ठीक साहित्यिक स्थान गद्य-शैली के विचार से तभी निश्चित हो सकेगा जब उनके सम्पूर्ण गद्य-ग्रन्थ उपलब्ध होंगे।

एक तरह से 'चौरासी तथा दो सौ बावन वैष्णवों की बार्ता' के उपरान्त कोई भी विशेष मार्के की पुस्तक गद्य में नहीं मिलती जब तक कि १९ वीं शताब्दी का उदय नहीं होता। कई वर्ष हुए १६२७ ई० की लिखी हुई हस्त-लिखित 'शृंगारशतक' की टीका मिली थी, जो किशोरदास नामक लेखक की लिखी हुई है। ऐतिहासिक दृष्टि से उस टीका का कोई ख़ास महत्व नहीं। बात यह है कि उसकी भाषा केवल पर्यायवाची शब्दों का ढेर है। कहीं कहीं उसमें प्रान्तीयता यहाँ तक भरी है कि पढ़ने वाला गूढ़ता के दलदल में फँस जाता है। वाक्य-निर्माण भी इतना लचर है कि यह प्रतीत होता है कि लेखक बड़ा असावधान तथा अल्पशिक्षित रहा होगा।

किशोरदास की भाषा से इतना तो अनुमान अवश्य होता है कि गोकुलनाथ के बाद गद्य बहुत कम लिखा गया था जिसके कारण उनके उत्तरवर्ती लेखकों को गद्य लिखने में बड़ी कठिनाई मालूम हुई। तभी किशोरदास को टीका लिखते हुए अशक्ति का अनुभव हुआ होगा।

किशोरदास की टीका से एक बात का और पता लग सकता है। वह यह कि शायद १७ वीं शताब्दी या यों कहिए

कि किशोरदास के समय तक हिन्दी–साहित्य में एक तरंग पैदा हो गई थी जिसका अन्तिम लक्ष्य फ़ारसी, उर्दू के वहिष्कार करने तथा संस्कृत के आश्रय लेने का था। और नहीं तो कम से कम हिन्दी–गद्य के जो थोड़े से लेखक थे, उन्होंने जान–बूझ कर अपनी भाषा से फ़ारसी आदि अन्य विदेशी भाषाओं के शब्दों को निकालना आरम्भ किया होगा। उनकी दृष्टि में गोकुलनाथ के गद्य की इस प्रकार की फ़ारसी–अरबी की शब्दावली हेय जान पड़ी। एवं, जैसा कि किशोरदास की भाषा की शुद्धता तथा संस्कृतमयता से सिद्ध होता है, उस समय के अन्य गद्य–लेखकों ने गोकुलनाथ की चलाई हुई रीति का विरोध किया।

यह कहा जा सकता है कि शायद किशोरदास या अन्य किसी लेखक के निर्दिष्ट किये हुए शुद्धता के मार्ग पर चलने से हिन्दी–गद्य के विकास पर आघात पहुँचा हो। क्योंकि किसी भाषा का गद्य बिना दूसरी भाषाओं से मिश्रित हुए, केवल अपनी भाषा के शब्द–कोष पर निर्भर रह कर कभी भी उन्नति नहीं कर सकता; असंख्य भावों को सजीव-रूप में व्यक्त करने की सामर्थ्य प्राप्त करने के लिए उसे दूसरी भाषाओं के चुभते हुए शब्द तथा प्रयोग सीखने पड़ते हैं।

अस्तु, किशोरदास के बाद १९ वीं सदी तक हिन्दी का गद्य–साहित्य कोरा पड़ रहा। सम्भव है कि कुछ ग्रन्थ इस बीच में लिखे भी गये हों, किन्तु अभी तक एक का भी पता

नहीं चल सका ।

वास्तव में सैयद इंशा, लल्लूलाल और सदल मिश्र ने ही गद्य की नींव डाली । इनमें से इंशा ने अपनी, 'रानी केतकी की कहानी' उर्दू–लिपि में ही लिखी थी, यद्यपि उनकी भाषा खड़ी बोली अथवा आजकल की बोल–चाल तथा लिखने–पढ़ने की हिन्दी ही थी ।

सैयद इंशा एक बहुभाषाभाषी पुरुष थे । उनकी तबीयत में पूरी मस्ती थी । बस फिर क्या था, उनको यह धुन सवार हुई कि गद्य में एक ऐसी कहानी लिखी जाय कि जिसमें उनकी फ़ारसी, अरबी, तुरकी की विद्वत्ता का लेश भी न आने पावे, और जो ऐसे मुहावरेदार शैली में हो कि उसे सर्वसाधारण समझ सकें । इसी उद्देश्य को ध्यान में रख कर उन्होंने 'रानी केतकी की कहानी' लिख डाली । इस कहानी की भाषा बड़ी सरल और रसीली है । सचमुच इस में न तो 'हिन्दी (अर्थात् संस्कृतपूर्ण हिन्दी) का छुट है' और न 'और किसी बोली का पुट है' । इंशा ने इस कहानी के द्वारा उत्कृष्ट गद्य–शैली का अच्छा नमूना प्रस्तुत किया जो हिन्दी और उर्दू दोनों के भविष्य लेखकों के बड़े काम का निकला । प्राचीन गद्य–लेखकों ने किसी पथ-प्रदर्शक को न देख कर बड़ी दबी क़लम से, बड़े परिश्रम से गद्य लिखा था, जो आज-कल के साधारण से साधारण वाचक के विचार में भद्दा जँचता है । इंशा ने स्पष्ट दिखला दिया कि किस ढंग से उच्च

कोटि का गद्य लिखा जा सकता है।

यद्यपि इंशा ने इस उद्देश्य का डंका पीट कर 'केतकी की कहानी' न लिखी थी कि उससे वे अँधेरे में टटोलते हुए लेखकों को गद्य लिखने की तमीज़ सिखलावें, तथापि अपनी उस एक रचना के नाते वे हिन्दी-साहित्य के भी उतने ही धुरन्धर निर्मायकों में से हैं जितने कि वे उर्दू-साहित्य में गिने जाते हैं।

इंशा के गद्य के कई गुण स्मरणीय रहेंगे। उनकी भाषा पर उनकी चंचल प्रकृति का पूरा प्रतिबिम्ब है; उनका रँगीलापन प्रत्येक भाव तथा प्रत्येक पद में नाचता हुआ देख पड़ता है। उनके गद्य में सबसे बड़ी और अनोखी बात यह है कि उसमें एक प्रकार की घनिष्टता है जिसके कारण उसे पढ़ने वाले का चित्त लेखक की ओर आपसे आप खिच जाता है और उसके जोवन-वृत्तान्त जानने की जिज्ञासा उसमें उत्पन्न हो जाती है। यह घनिष्टता का गुण सदैव उच्चकोटि के गद्य में ही मिलता है। पंडित प्रतापनारायण मिश्र और पंडित बालकृष्ण भट्ट के लेखों में भी इंशा का सा गाढ़ सौहार्द पाया जाता है। यह मानते हुए भी किसी साहित्यिक प्रणाली का उत्त्पत्तिस्थान सरलता से इंगित करना बड़ा कठिन है, अनुमानतः इतना कह सकते हैं कि प्रतापनारायण मिश्र की शैली पर सैयद इंशा का बहुत अशों में प्रभाव

पड़ा है। यह भी न सही, तो कम से कम मिश्र जी के और इंशा के गद्य में घना साम्य है और वे दोनों एक लेखन-परम्परा के अनुयायी थे।

हिन्दी-गद्य के ऐतिहासिक विकास में इंशा का ख़ास स्थान है। उनके पहले हिन्दी में गद्य-साहित्य सिवाय गोकुलनाथ की वार्ताओं, बनारसीदास के दो-एक ग्रन्थों तथा कुछ टीकाओं के था ही नहीं। जैसा कि अभी कहा जा चुका है गोकुलनाथ को सब विचारों से गद्य-साहित्य का एक सीमाचिन्ह मान सकते हैं, क्योंकि उन्होंने काफ़ी संख्या में कथायें लिखीं और उनके बहाने बहुत सा सुसम्बद्ध गद्य-समूह इतने पहले पुस्तकों के रूप में प्रस्तुत किया। 'चौरासी वैष्णवों की बार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवों की बार्ता' को तब भी वास्तविक प्रकार के गद्य-साहित्य में परिगणित नहीं कर सकते, क्योंकि उनका ध्येय सर्वथा धार्मिक था। उनके द्वारा वैष्णव-धर्म की महत्ता दिखाना तथा उसको सर्वग्राह्य बनाकर उसका प्रचार करना ही गोकुलनाथ का एकमात्र अभिप्राय था। उन कथा-वार्ताओं से वाचकों को लौकिक आनन्द की प्राप्ति कराना तथा 'प्राकृत-जन-गुण-गान' करके उनकी हास्य-प्रियता को संतुष्ट करना इनमें से किसी भी अर्थ की सिद्धि के लिए प्रयत्न नहीं किया गया।

प्रत्युत, इंशा ने 'रानी केतकी की कहानी' इसी

मतलब से लिखी थी कि "जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव-भाव और कूद-फाँद, लपट-झपट दिखाऊं जो देखते ही आप के (वाचक के) ध्यान का घोड़ा अपनी चौकड़ी भूल जाय" अर्थात् अपनी भाषा के चमत्कार से पाठकों को चकित करना ही उनका उद्देश्य था। क्या ही निरा लौकिक उद्देश्य उनका था! गोकुलनाथ की तरह किसी मत-विशेष के प्रचार करने की नियत उनसे कोसों दूर थी। अस्तु, इंशा ने अपनी 'कहानी' के द्वारा गद्य को धार्मिकता के बंधन से मुक्त करके उसे घोर लौकिकता के पथ पर चलाने की रीति दिखलाई। इसी अर्थ में उन्हें हम हिन्दी का एक बड़ा सहायक मानते हैं।

लल्लूलाल और सदल मिश्र ने निश्चित रूप में हिन्दी-गद्य की नींव डाली। पर 'सिंहासन बत्तीसी', 'प्रेमसागर', तथा 'नासिकेतोपाख्यान' को गद्य में लिखने की प्रेरणा उन दोनों को एक नई दिशा से मिली। लल्लूलाल और सदल मिश्र दोनों कलकत्ते के फ़ोर्टविलियम कालेज में अध्यापक थे, जो ईस्ट इंडिया कम्पनी की ओर से आये हुए कर्मचारियों को देशी भाषाओं की शिक्षा देने के लिए खोला गया था। उसी कालेज के मुख्याध्यापक गिलक्राइस्ट साहब के अनुरोध से उन दोनों लेखकों को हिन्दी में ऐसी पाठ्य पुस्तकें तैयार करने का काम सौंपा गया था जिनके द्वारा ताज़े विलायत से आये हुए कम्पनी के अफ़सर देश-भाषा सीख सकें। गिल-

क्राइस्ट साहब के दिये हुए आदेश का दोनों ने भिन्न भिन्न रीति से अनुसरण किया। लल्लूलाल ने अपना 'प्रेमसागर' ऐसी भाषा में लिखा जिसमें उर्दू-शब्दों तथा मुहावरों का नाम तक न था, और जो यहाँ तक परिष्कृत थी कि उसमें आद्योपान्त शुद्ध ब्रजभाषा की धूम थी। इसके सिवाय 'प्रेमसागर' के गद्य में शब्दाडम्बर तथा काव्यमयता भी ख़ूब है। सीधी-सादी बोल-चाल की मुहावरेदार भाषा का आश्रय न लेकर उन्हों ने पद्मात्मक गद्य का आविष्कार कर डाला है। इसी दृष्टि से लल्लूलाल का स्थान हिन्दी-गद्य के इतिहास में उतना ऊँचा नहीं जितना कि हुआ होता यदि वे 'सिंहा-सन-बत्तीसी' वाली भाषा को अपनाकर उसी में 'प्रेमसागर' की रचना करते। क्योंकि 'सिंहासन-बत्तीसी' में उन्होंने स्वतंत्रतापूर्वक हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी आदि सभी को आव-श्यकतानुसार भाषा की विशदता तथा व्यंजक-शक्ति बढ़ाने के लिए प्रयुक्त किया है। कुछ भी हो, लल्लूलाल ने हिन्दी-गद्य को, चाहे जान बूझ कर या अनजान में ऐसे साँचे में ढाल कर तैयार किया जिससे कि वह आगे चल कर साधा-रण विषयों के अनुपयुक्त होने पर भी एक विशेष प्रकार के उपयोग के लिए समुचित सिद्ध हुआ। क्योंकि उसकी रसपूर्णता, काव्यमयता तथा वर्णन-विशदता के समावेश से एक ख़ास तरह की आवेशपूर्ण गद्य-शैली का जन्म हुआ है जिसके परिपोषकों में से आजकल के कई लेखकों की गिनती

हो सकती है। अस्तु, यह होते हुए भी कि लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' की शुद्ध, व्रजभाषा से रँगी हुई, काव्योचित भाषा को मुद्रित पुस्तकों के द्वारा चिरायु करके हिन्दी-गद्य की नौका, उलटी-गंगा बहाकर, खेई, इतना निसन्देह मानना पड़ता है कि तब भी उन्होंने एक ऐसी प्रणाली चलाई जिससे हिन्दी में मिश्रित तथा संस्कृत दोनों रीतियों के ओतप्रोत से कई विभिन्न शैलियों का आविर्भाव हुआ। तात्पर्य यह है कि जहाँ आगामी गद्य-लेखकों को खड़ी बोली के मिश्रित गद्य के नमूने सैयद इंशा तथा सदल मिश्र ने प्रस्तुत किये वहीं लल्लू-लाल ने उनके सामने ऐसी भाषा लिख कर रक्खी जो बहुत कुछ आवश्यक अंगों में परिवर्तित किये जाने पर शान्त, कोमल मनोवेगों के व्यक्त करने के लिए अच्छे संस्कृत माध्यम का काम दे सकती थी।

सम्भवत: सदल मिश्र ताड़ गये होंगे कि किसी समय हिन्दी-साहित्य में ऐसी स्थिति आवेगी जब गद्य और पद्य की भाषा में आकस्मिक उलट-पलट होगी, यहां तक कि गद्य से भी व्रजभाषा का साम्राज्य उखड़ेगा और उसके स्थान में खड़ी बोली अर्थात् देहली, आगरे के पड़ोस की बोल-चाल की भाषा का व्यवहार होगा। यही कारण है कि उन्होंने 'नासिकेतोपाख्यान' के गद्य को यथासम्भव उसी मुहावरेदार मिश्रित भाषा में लिखा है। इतना तो कहना कठिन है कि उनकी भाषा बिल्कुल सोलह आने आजकल की उत्कृष्ट हिन्दी

अर्थात् बोल-चाल की मिश्रित भाषा है, पर लल्लूलाल के मुक़ाबिले में उन्होंने शुद्धता का ध्यान कम रक्खा है और प्राय: इस बात का प्रयत्न किया है कि भाषा को थोड़ा-बहुत चुभीली बनाने के लिये उर्दू, फ़ारसी कहीं से भी उपयुक्त मुहावरे तथा शब्द लिये जायँ। तभी तो 'लगी कहने' ऐसा उर्दू का वाक्यविन्यास तथा 'कानाकानी', 'उथल-पुथल', 'रोने कलपने लगा', 'फूलो फलो' इस प्रकार के दोहरे पदों का प्रयोग उन्होंने किया है, जिनसे कही हुई बात ख़ूब जँचती है।

वास्तव में गोकुलनाथ के उपरान्त हीन तथा शिथिल हुए हिन्दी-गद्य को उठाने वाले लेखकों में सदल मिश्र का नाम विशेष रीति से महत्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में वे इस लिए और भी श्रेय के भागी हैं कि ऐसे समय पर जब कि उन्हें ठीक ठीक दिशा का संकेत करने वाला कोई भी पूर्ववर्ती लेखक न था, उन्होंने अपने आन्तरिक ज्ञान से यह जान लिया कि भविष्य में क्या गद्य और क्या कविता दोनों की वही सर्वमान्य भाषा बनेगी जो शताब्दियों के हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक संपर्क से बोल-चाल में प्रयुक्त होने लगी थी। यही समझ कर अंग्रेज़ अफ़सरों के लिए उन्होंने जो पाठ्य पुस्तकें बनाईं वे सब मिश्रित भाषा में ही लिखीं।

सदल मिश्र के उपरान्त हिन्दी के सोद्देश्य तथा सचित गद्य-लेखों में राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' का नाम सबसे प्रथम आता है। परन्तु उनके गद्यविषयक विचारों की गवेषणा

करने के पूर्व इस बीच के समय में (अर्थात् १८०२ से १८६४ तक) जो देश की स्थिति में भिन्न भिन्न परिवर्तन हुए थे, उनका इस लिए उल्लेख करना आवश्यक है, क्योंकि गद्य के प्रचार तथा उन्नति में उनका बड़ा दूरव्यापी प्रभाव पड़ा था।

स्थूलरूप से कह सकते हैं कि इन लगभग साठ वर्षों के समय में दो प्रकार की नई घटनायें हिन्दुस्तान में घटित हुईं जिनका प्रभाव गहरा पड़ा। सब से प्रथम तो मैकाले की अनुमति से लार्ड विलियम बेंटिंक के समय में देशवासियों की शिक्षा का प्रबन्ध पाश्चात्य ढंग पर अर्थात् अंग्रेज़ी के माध्यम द्वारा होना निश्चित हुआ। एवं तदनुसार उपयुक्त पाठ्य पुस्तकों की रचना हुई और लोगों की प्रवृत्ति अंग्रेज़ी पढ़ने की ओर हुई। इसके सिवाय पढ़कर लोगों को कम्पनी के दफ़्तर में नौकरियाँ भी मिलने लगीं। इस प्रकार पाश्चात्य शिक्षा पाने तथा पाश्चात्य प्रभुओं की नौकरी करने का इस देश के लोगों पर क्रमशः यह प्रभाव पड़ा कि उनके संकुचित विचार एकदम उड़ से गये और उन अंग्रेज़ों के रहन–सहन, वेष–भूषा, बोल–चाल को अनुकरण करने की इच्छा उनमें अदृश्य रूप में जाग्रत हुई। फलतः ईस्ट इंडिया कम्पनी की धनलिप्सा, जो उसके व्यावसायिक युद्धों के रूप में प्रकट होती थी, धीरे धीरे शायद इस देश के निवासियों के संतोष-मय जीवन को डगमग करने लगी। अनुमानतः कहा जा सकता है कि कम्पनी के वाणिज्य–कुशल कर्मचारियों के

द्वारा यहाँ के लोगों पर बहुत कुछ दुनियादारी अथवा ऐहिकता का रंग चढ़ा होगा। इस बात पर अनावश्यक परिणाम में ज़ोर न देकर इतना कहना उचित होगा कि अंग्रेज़ी राज्य के साथ साथ भारतीय जीवन के तल में एक प्रकार की लौकिकता या यों कहिए कि व्यावहारिकता दृष्टिगोचर होने लगी, जो एतद्देशीय गद्य-साहित्य के लिए हितकर सिद्ध हुई।

दूसरी ओर पाश्चात्य साहित्य से अवगत होने पर यहाँ के शिक्षित लोगों की आँखें खुली होंगी कि उनका साहित्य उस समय तक कितना अपांग रहा था जिसमें कविता के अतिरिक्त और कुछ था ही नहीं। परन्तु ठीक उसी समय तक अर्थात् १९ वीं शताब्दी के मध्यकाल तक अकेला अंग्रेज़ी-साहित्य ही काफ़ी सम्पन्न बन चुका था। उसमें 'बेकन के निबन्ध', ड्राइडन की सुन्दर मँजी हुई भाषा के लेख, गिबन् का ओजपूर्ण इतिहास, एडीसन और स्टील के सुबोध तथा परिष्कृत भाषा में लिखे हुए लेख इस प्रकार के उत्कृष्ट गद्य के उदाहरण मिलते थे। एवं तत्कालीन सुशिक्षित भारतीयों को इस बात का दुःखपूर्ण अनुभव हुआ होगा कि उनके देश के साहित्य कैसे रंक थे। इस अनुभव के कारण शायद उनमें से बहुतों को गद्य–साहित्य की उन्नति में भाग लेने का प्रोत्साहन मिला होगा।

सन् १८५४ में सर चार्ल्स उड् (Sir Charles Wood)

ने विलायत से एक योजना तैयार करके भेजी जिसमें हिन्दुस्तान की देशी भाषाओं में यहाँ के लोगों को शिक्षा देने के लिए देहाती स्कूलों के खोलने की अनुमति दी गई थी। अस्तु, जिस प्रकार मैकाले उच्च शिक्षा के अंग्रेज़ी के माध्यम द्वारा दिये जाने का प्रबन्ध कर गये थे, वैसे ही उड् साहब ने देशी भाषाओं के अध्ययन की नींव रक्खी। तदनुसार गाँव गाँव स्कूल खुले। तभी से सक्रम हिन्दी पढ़े-लिखे लोगों का समुदाय बनने लगा। उनके लिए जो पाठ्यक्रम निर्धारित हुआ तथा जो पाठ्य पुस्तकें बनीं, उनके द्वारा हिन्दी को और विशेष कर हिन्दी-गद्य के विकास को बड़ी उत्तेजना मिली क्योंकि उनको पढ़े हुए लोगों में से भावी लेखक और भावी वाचक बन कर निकले।

परन्तु, यह दिखाने के बाद कि उन सब कारणों से हिन्दी-लेखकों की प्रवृत्ति गद्य लिखने की ओर हुई यह सहसा मान लेना अनुचित है कि १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भकाल में ही, लल्लूलाल तथा सदलमिश्र के समय से ही, हिन्दी की उन्नति का द्वार खुल गया था। क्यों कि बात यह है कि हिन्दी को उर्दू से बड़ा भय था। क्योंकि ऐसी प्रथा चली हुई थी कि हिन्दी वाले भी अपनी पुस्तकें फ़ारसी अक्षरों में लिखने लग गये थे। प्रेमसागर के ढंग के ग्रन्थ लगभग ६० वर्ष तक नहीं बने। उधर फ़ारसी-लिपि की धूम मची रही।

अभाग्यवश १८३५ ई० में सरकारी दफ़्तरों में फ़ारसी-

लिपि के साथ साथ हिन्दी जारी हुई। इससे देवनागरी-अक्षरों का लोप सा होने लगा, यहाँ तक कि जैसा बाबू बालमुकुन्द जी गुप्त कहते हैं 'जो लोग नागरी-अक्षर सीखते थे वह फ़ारसी-अक्षर सीखने पर विवश हुए और हिन्दी-भाषा हिन्दी न रह कर उर्दू बन गई।' गुप्त जी के ही शब्दों में 'हिन्दी उस भाषा का नाम रहा जो टूटी-फूटी चाल पर देवनागरी-अक्षरों में लिखी जाती थी।'

अन्त में यहाँ तक नौबत पहुँचो कि देवनागरी अक्षर लोग भूल गये। बात यह थी कि अदालती काम सब उर्दू में होता था, इस लिए राजदरबार की सम्मानित तथा रईसी भाषा का स्थान उसी को प्राप्त था। पढ़े-लिखे लोगों, ख़ास कर नौकर-पेशा वालों, के घरों में पत्र-व्यवहार तक उर्दू में होने लगा।

१६ वीं शताब्दी के मध्य तक उर्दू का प्रावल्य रहा। तब कुछ फ़ारसी, अंग्रेज़ी पढ़े हुए लोगों का ध्यान देवनागरी की कुदशा की ओर आकर्षित हुआ। इनमें से राजा शिव-प्रसाद तथा राजा लक्ष्मणसिंह मुख्य थे। इन महानुभावों का यह सिद्धान्त था कि राजकीय कामों में उर्दू चाहे जितनी समादृत क्यों न हो पर जन-साधारण के हित के लिए देव-नागरी का पुनरुज्जीवन करना परम आवश्यक था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अर्थात् सर्वसाधारण में देवनागरी-अक्षरों का प्रचार करने के लिए सन १८४५ ई० में राजा

शिवप्रसाद ने काशी से "बनारस-अख़बार" निकालना शुरू किया। उसकी भाषा उर्दू तथा लिपि देवनागरी होती थी। उसकी भाषा का उदाहरण नीचे दिया जाता है:—

"यहाँ जो नया पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं के मदद से बनता है उसका हाल कई दफ़ा ज़ाहिर हो चुका है। अब वह मकान एक आलीशान बनने का निशान तय्यार हर चेहार तरफ़ से हो गया बल्कि इसके नक़शे का बयान पहले मुंदर्ज है सो परमेश्वर के दया से साहब बहादुर ने बड़ी तन्देही मुस्तैदी से बहुत बेहतर और माकूल बनवाया है।" राजा साहब की भाषा का 'आधा तीतर-आधा बटेर'-पन स्पष्ट है। अक्षर देवनागरी के हैं किन्तु शब्द उर्दू के हैं। इस खिचड़ी के दो कारण हैं। एक तो लल्लूलाल के बाद किसी लेखक का गद्य-ग्रन्थ हिन्दी में लिखा हुआ राजा साहब के सामने न था जिससे उन्हें सहायता मिलती। लल्लूलाल की भाषा "उनकी पोथी में ही रह गई। आगे और पोथियाँ लिख कर किसी ने उनकी भाषा की उन्नति नहीं की।" उर्दू का गद्य वैसे भी हिन्दी के गद्य के कुछ पहले प्रारम्भ हुआ था और इसके सिवाय 'प्रेमसागर' के बाद उर्दू में तो लगातार धड़ाधड़ गद्य लिखने का क्रम जारी रहा। पर हिन्दी-गद्य बिल्कुल प्रषुप्त दशा में रहा। देवनागरी-अक्षरों का अप्रचार ही इसका बड़ा कारण था। अतः राजा शिवप्रसाद ने उनका

पुनः प्रयोग करके हिन्दी की उन्नति के मार्ग में से एक बड़ी रुकावट हटाई। इस हिसाब से उन्होंने जो कुछ भी अनगढ़ हिन्दी लिखी है उसका बड़ा महत्व रहेगा।

वैसे तो राजा साहब के अपने कुछ भाषा-विषयक विशद सिद्धान्त थे। अपने "इतिहास तिमिरनाशक" की भूमिका में वह साफ़ साफ़ कहते हैं कि:—

" I may be pardoned for saying a few words to those who always urge the exclusion of Persian words, even those which have become our household words, from our Hindi books, and use in their stead Sanskrit words, quite out of place and fashion, or those coarse expressions which can be tolerated only among a rustic population... Our Court-language in usage is Urdu, and the Court-language has always been regarded by all nations as the most fashionable language of the day. If we cannot make the Court-character, which is unfortunately Persian, universally used to the exclusion of Devanagari, I do not see why we should attempt to create a new language."

अर्थात् राजा शिवप्रसाद उन शुद्धि-वादियों के सर्वथा विरुद्ध थे जिन्हें हिन्दी को संस्कृतमय तथा फ़ारसी, उर्दू से

बिल्कुल मुक्त रखने की सनक सवार रहती है। कोई भी शब्द, चाहे वह फ़ारसी का हो अथवा तुरकी का, यदि चिरकाल से साधारण प्रयोग में आते रहने से उसकी व्यंजना-शक्ति बढ़ गई है तो केवल पक्षपात की दृष्टि से उसको निकालना वे बुरा समझते थे। यहाँ तक तो उनका सिद्धान्त ठीक है, किन्तु जब वे ग्रामीण मुहावरों या शब्दों को केवल ग्रामीणता के विचार से हेय कहते हैं तब आश्चर्य होता है। यदि ग्रामीणता सचमुच ऐसी जघन्य वस्तु है (तथा नागरिकता ऐसी सुन्दर वस्तु है) तब तो पंडित प्रतापनारायण के सारे लेख जला देने के योग्य ही ठहरेंगे!

चाहे जो हो, राजा शिवप्रसाद ने दो प्रकार से हिन्दी-गद्य की उन्नति में सहायता की है। एक तो, जैसा अभी कहा जा चुका है, उन्होंने चिर-अप्रचलित देवनागरी अक्षरों का प्रचार किया और दूसरे हिन्दी-उर्दू मिली हुई भाषा का आविष्कार करके उन्हों ने हिन्दी-गद्य को शुरू से दुरूहता के गड्ढे में गिरने से बचाया। वस्तुतः लल्लूलाल की भाषा की अत्यधिक शुद्धता को रोकने का राजा शिवप्रसाद ने अच्छी तरह प्रयत्न किया।

पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू बालमुकन्द गुप्त तथा अन्य मिश्रित शैली के लेखकों के आदि-गुरु राजा शिवप्रसाद ही कहे जा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त स्वयं शिक्षा-विभाग में उच्च पद पर रह

कर इसी मिश्रित भाषा में अपने हाथ से पाठ्य पुस्तकें लिख कर उन्होंने हिन्दी और उर्दू को बहुत कुछ एक दूसरे से मिलाने का प्रयत्न किया; और इस दिशा में वे जो काम कर गये हैं, उसी के आधार पर आजकल भी भाषा के साम्यवादी चल रहे हैं। अस्तु, हिन्दी और उर्दू के बीच में 'पुल बनाना' ही उनके साहित्यिक जीवन का एक ध्येय था और इसी सम्बन्ध में हिन्दी और उर्दू दोनों के लिए वे बराबर महत्व-पूर्ण रहेंगे।

राजा शिवप्रसाद के साथ ही राजा लक्ष्मणसिंह का नाम भी आधुनिक हिन्दी-गद्य के निर्माण के प्रसंग में स्मरणीय है। राजा लक्ष्मणसिंह ने यद्यपि 'सितारेहिन्द' के साथ हिन्दी के प्रचार में भरपूर सहयोग किया, तथापि वे उनके हिन्दी और उर्दू के बीच में पुल बनाने के प्रयत्न में सम्मिलित न हुए। रघुवंश का गद्यानुवाद करते समय अपने प्राक्कथन में वे कहते हैं कि "हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और पारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोल-चाल है। हिन्दी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं। उर्दू में अरबी-पारसी के। परन्तु कुछ अवश्य नहीं है कि अरबी-पारसी के शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं जिसमें अरबी-पारसी के शब्द भरे हों।"

एक ओर राजा शिवप्रसाद का यह कहना है कि केवल

संस्कृत की शब्दावली से भरी हुई भाषा को हिन्दी कहना गर्ह्य है तथा दूसरी ओर राजा लक्ष्मणसिंह का यह कहना है कि अरबी-फ़ारसी के शब्दों के बिना भी हिन्दी बोली जा सकती है, इससे स्पष्टतया ज्ञात होता है कि उन दोनों के गद्य-विषयक सिद्धान्तों में आकाश-पाताल का अन्तर है। राजा शिवप्रसाद तो उर्दू की मदद से हिन्दी-गद्य को अपने पैरों पर खड़ा करना चाहते थे तथा उन दोनों भाषाओं की विभिन्नता को यथासम्भव घटाना चाहते थे। इसके विपरीत राजा लक्ष्मणसिंह लल्लूलाल के निर्दिष्ट किये हुए मार्ग का अनुसरण करके हिन्दी को उर्दू से अधिकाधिक अलग करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। राजा लक्ष्मणसिंह का यह मत उनके समय के अधिकांश सचेतहृदय हिन्दू लेखकों के विचार के अनुकूल था। क्योंकि बहुत दिनों तक फ़ारसी-भाषी शासकों के हाथ में हिन्दी अपने अस्तित्व को उर्दू की पुष्टि में न्योछावर करती रही थी और इस प्रकार स्वयं अपने कलेवर को खो चुकी थी। हिन्दुओं ने यह समझा होगा, जैसा कि श्री बालमुकुन्द जी गुप्त कहते थे, कि "फ़ारसी, अरबी शब्दों के बहुत मिल जाने से हिन्दी हिन्दी नहीं रही कुछ और ही हो गई। हिन्दुओं के काम वह नहीं आ सकती।"

तभी राजा लक्ष्मणसिंह तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के द्वारा एक व्रजभाषा-मिश्रित भाषा का प्रचार हुआ जो राजा शिव-प्रसाद के सिद्धान्तों से प्रतिकूल था।

राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा का एक नमूना देकर भारतेन्दु के गद्य के विषय में कहना है:—

"अनसूया–(हौले प्रियम्वदा से) सखी मैं भी इसी सोच विचार में हूँ। अब इससे कुछ पूछूँगी। (प्रगट) महात्मा तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो ? और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो ? क्या कारन है कि जिससे तुमने अपने कोमल मन को इस कठिन तपोवन में आकर पीड़ित किया है ?"

अब इसके पूर्व कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कार्य पर विचार करें, यह आवश्यक है कि उनके समय तक जो रूप हिन्दी-गद्य को प्राप्त हो चुका था उसका सिंहावलोकन किया जावे। आधुनिक गद्य-साहित्य की नींव वास्तव में लल्लूलाल के समय से ही पड़ी थी और कई कारण थे जिनसे उसके विकास में उत्तरोत्तर सहायता मिलती गई। सब से बड़ी सहायता छापेख़ानों के प्रचार से हुई। सन् १८३७ में दिल्ली में सबसे पहला हिन्दी का लीथो-प्रेस खुला। धीरे धीरे बनारस, कलकत्ता आदि भिन्न भिन्न स्थानों में कई हिन्दी-प्रेस होगये। इस छपाई की सुविधा का यह परिणाम हुआ कि लोगों में पढ़ने-लिखने की ओर प्रवृत्ति हुई और जिनमें कुछ भी साहित्यिक रुचि थी वे या तो समाचारपत्र निकालने लगे या समयोपयुक्त पुस्तकें लिखने लगे। तभी तो १९ वीं शताब्दी के आरम्भ में

'बाग़ोबहार', 'रानी केतकी की कहानी', 'सुखसागर', 'प्रेम-सागर', आदि अनेक गद्य-पुस्तकें लिखी गईं तथा 'बनारस-अख़बार', 'कवि-वचन-सुधा', आदि पत्र प्रकाशित होने लगे। तात्पर्य यह है कि मुद्रणयंत्र की सहायता से जब किसी लेख अथवा पुस्तक की असँख्य प्रतियाँ बात की बात में तैयार करना सम्भव हो गया, तब विशेष कर गद्य-लेखकों को बड़ा प्रोत्साहन मिला। क्योंकि जिन प्रान्तीय बोलियों की विभिन्नता तथा बाहुल्य के कारण प्राचीन काल से गद्य को कोई एक निश्चित, सर्वमान्य स्वरूप न मिल पाया था वह अब सम्भव होने लगा। बात यह है कि किसी प्रबन्ध अथवा विचार-समूह को छपी हुई सूरत में देख कर जनसाधारण की प्राय: यह धारणा तुरन्त हो जाया करती है कि वह वेद-वाक्य के तुल्य मान्य है। इसी से जब अनेक प्रान्तीय बोलियों के बोलने वालों ने एक ख़ास तरह की मिश्रित भाषा को छपे हुए रूप में चिरस्थायी बना हुआ देखा तब उन्होंने उसे साहित्यिक कामों के लिए ग्राह्य समझ लिया। अस्तु, मुद्रणयंत्र के द्वारा हिन्दी-गद्य की भाषा का प्रश्न शीघ्र तै हो गया अर्थात् खड़ी बोली ही सर्वसम्मति से उस काम के लिए स्वीकृत की गई। केक्सटन् ने चासर की पुस्तकें तथा उन पर अपनी लिखी हुई भूमिकायें छापकर अंग्रेज़ी-गद्य की भाषा को चिरस्थायी स्वरूप देने में जो कार्य किया था, वही लल्लूलाल और सदल मिश्रने 'प्रेमसागर' तथा 'नासिकेतोपाख्यान' को पाठ्य पुस्तकों के लिए छपवा कर ईस्ट

इंडिया कम्पनी के द्वारा करवाया था।

जिस समय भारतेन्दु ने नाटक लिखना शुरू किया था उस समय तक लल्लूलाल, सदल मिश्र, मुंशी सदासुख, राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिंह आदि थोड़े से गद्य-लेखक हो चुके थे; परन्तु उनमें से एक भी यह निर्धारित न कर पाया था कि हिन्दी में गद्य किस ढंग से लिखा जाय जिससे वह भाषा के विचार से न तो उर्दू में ही सम्मिलित हो जाय और न निरा संस्कृतमय ही हो जावे। लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' में गद्य लिखने की एक आज़माइश की जिसमें उर्दू को ढूँढ़ ढूँढ़ कर वहिष्कृत किया और व्रजभाषा की शाब्दिक तोड़-मरोड़ तथा कोमलकान्त पदावली का अधिकतर प्रयोग किया। फलतः उनका सा गद्य उनके पश्चात् किसी अन्य लेखक ने न लिखा, और वे अपने ढंग के निराले बने रहे।

सदल मिश्र ने खड़ी बोली के मुहावरे स्वीकार किये और लल्लूलाल की अपेक्षा उन्होंने अधिक प्रौढ़ भाषा लिखी। राजा शिवप्रसाद ने लल्लूलाल तथा सदल मिश्र के ठेठपन को निकाल कर एक ऐसी भाषा लिखी जो नागरिक सुघरता से पूरित थी, तथा जिसमें उत्कृष्ट उर्दू की झलक थी। हिन्दी का हिन्दीपन नाममात्र को सुरक्षित रखने के लिए राजा साहब ने बीच बीच में संस्कृत के तत्सम शब्द तथा व्रजभाषा के शब्द प्रयोग किये। परन्तु उन्होंने अन्त में देवनागरी-अक्षरों में उर्दू लिख कर रख दी। अतएव, यद्यपि राजा शिवप्रसाद ने लल्लूलाल के

प्रचलित किये हुए भ्रममूलक भाषा-शुद्धता के सिद्धान्त का निराकरण करके अपने हाथों से हिन्दी को उर्दू के व्यंजना-पूर्ण मुहावरों से सुसज्जित किया, तथापि वे भी इस कार्य को करते करते भटक गये ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ठीक इसी समय आविर्भूत हुए। उन्होंने हिन्दी-गद्य को अनिश्चितता की दशा से निकाल कर एक निर्दिष्ट दिशा में प्रेरित किया ।

भारतेन्दु के समय तक भारतीय जीवन के अंग अंग में पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव व्याप्त हो चुका था और अंग्रेज़ी शिक्षा पाये हुए लोग काफ़ी संख्या में तैयार हो चुके थे। इसके साथ ही साथ अंग्रेज़ी पढ़े हुए शिक्षित समुदाय में उस नई पश्चिमीय देशों से आई हुई ज्योति से ऐसी चकाचौंध सी हो गई थी कि उनमें से अधिकांश अपनी भाषा को भूलने लगे थे। बड़े से बड़े प्रतिष्ठित तथा सुशिक्षित घरों में भी उर्दू का सम्मान होता था क्योंकि उन दिनों वही एक मात्र राज-सम्मानित भाषा थी। हिन्दी का पुनरुत्थान करने में राजा लक्ष्मणसिंह अपना व्यक्तिगत प्रयत्न तो कर ही गये थे। परन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने बहुत से होनहार प्रतिभाशाली पुरुषों की विद्याभिरुचि उद्दीप्त की तथा उनकी एक साहित्यिक गोष्ठी बनाई। रात-दिन के उठने-बैठने वाले लोगों में केवल दो ही चार थे, किन्तु अन्य बहुत से हिन्दी-प्रेमी जैसे राधा-चरण जी गोस्वामी, बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, बदरीनारायण

चौधरी, श्रीनिवासदास, देवकीनंदन खत्री, प्रतापनारायण मिश्र आदि दूर दूर रहते हुए भी उनके संपर्क में रहते थे। और इसी अर्थ में वे उस हरिश्चन्द्र-मंडल के अन्तर्गत थे। सारांश यह है कि भारतेन्दु के प्रभाव में पड़ कर के ही उन्होंने भिन्न भिन्न प्रकार की रचनायें कीं।

हरिश्चन्द्र ने जनता में हिन्दी की ओर रुचि उत्पन्न करने के लिए नाट्य-कला का ही आश्रय लिया और अधिकतर नाट्य-ग्रंथों की रचना की। परन्तु उनके नाटक कोरी नाट्य-कला से भरे नहीं हैं। वे व्रजभाषा की बड़ी रसीली कविता से लबालब हैं। इसी नाट्य-कला तथा कविता का आस्वादन कराके भारतेन्दु ने अपने समय के शिक्षित समाज के ताटस्थ्य को दूर करके उसकी रुचि हिन्दी-साहित्य की ओर प्रवृत्त की।

यहाँ पर भारतेन्दु की कविता तथा नाट्यकला पर कुछ न कह कर केवल इस बात की विवेचना करनी है कि उनके द्वारा हिन्दी-गद्य के विकास में कहाँ तक तथा किस प्रकार सहायता मिली।

अभी संक्षेप में कहा जा चुका है कि भारतेन्दु की साहित्यिक शक्ति से हिन्दी अपनी म्रियमाण अवस्था से बात की बात में सजीव हो उठी। परन्तु यह कह सकते हैं कि यदि उन्हें अपने समय में उठी हुई देश-प्रेम की प्रबल लहर का सहारा न मिला होता तो वे अपनी मण्डली की सहायता से

भी हिन्दी का प्रचार उतना न कर पाते जितना करने में वे समर्थ हुए हैं। उनके 'भारत–दुर्दशा', 'भारत जननी', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' ये सब नाट्य–ग्रंथ इस बात के द्योतक हैं कि वे एक विशेष परिस्थिति को देख कर लिखे गये थे। उनमें जो व्यंग है वह उस समय के देश–प्रेम के झोंके में ही श्रोताओं अथवा वाचकों को रुचिकर तथा सरस सिद्ध हो सकता था।

अस्तु, ग़दर के बाद से ही जो देश–प्रेम के भाव जागृत हो उठे थे वे भारतेन्दु के समय तक अंकुरित हो गये थे। उस समय के हिन्दी–गद्य के प्रचार अथवा वृद्धि पर उन भावों का प्रभाव पड़ा था। बात यह है कि जब पढ़े लिखे लोगों को राजनैतिक परतंत्रता की असुविधाओं का तथा अपने जन्मसिद्ध स्वत्वों का ज्ञान हुआ, तब वे तरह तरह से शासकों और शासन-प्रणाली पर व्यंग करके अपने चित्त को तुष्ट करने लगे। अतएव उनकी देखादेखी जनसाधारण को भी यह समझने का अभ्यास होने लगा कि बाहरी आवरण के भीतर संसार की प्रत्येक वस्तु में कैसे कैसे अरुचिकर गुण भरे रहते हैं। ऐसी दशा में लोगों की प्रवृत्ति हास्य तथा त्याग की ओर हुई। फलतः, क्या राजनैतिक और क्या सामाजिक सभी प्रकार के दोषों की आलोचना कटाक्ष अथवा तानाबाज़ी द्वारा होने की रीति चल पड़ी।

एवं, उस समय के अधिकांश हिन्दी–लेखकों के लेख भी

व्यंग–हास्यपूर्ण होने लगे। भारतेन्दु ने 'भारत–दुर्दशा' आदि उपर्युक्त प्रहसनों में उसी लौकिक रुचि को सन्तुष्ट किया। पण्डित प्रतापनारायण मिश्र ने 'घूरे के लत्ता बिनैं कनातन का डौल बाँधैं' तथा 'मरे का मारैं शाह मदार' आदि लेखों में, पण्डित बालकृष्ण भट्ट ने 'माँगी रोटी मिला पत्थर', 'नाक निगोड़ी भी एक बुरी बला है' शीर्षक लेखों में, राधाचरण गोस्वामी ने 'नाईस्तोत्र' तथा 'बूढ़े मुँह मुहासे लोग देखें तमासे' आदि प्रहसनों में अपने ज़माने की व्यंगप्रियता का परिचय दिया।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने एक ओर तो प्राचीन संस्कृत-नाटकों का अनुवाद करके तथा स्वयं भी कई समयोपयुक्त मौलिक नाट्य–रचनायें करके उन्हें रंगमंच पर खेला और उनके द्वारा दर्शकों में हिन्दी–प्रेम तथा देश–प्रेम उत्पन्न किये। दूसरी ओर हिन्दी-गद्य को भी उन्होंने गौण रूप में प्रोत्साहन दिया। रससिद्ध कवि तो वे जन्म से ही थे और कविता ही उनकी स्वाभाविक भाषा थी। किन्तु, अपने अनुवादित तथा मौलिक नाटकों के पात्रों की बोलचाल की भाषा को एक ख़ास स्वरूप देकर उन्होंने गद्य-विकास में योग दिया है।

उनका लिखा हुआ गद्य दो, चार छोटी सी पुस्तकों के बाहर, केवल नाटकों में तथा उनकी भूमिकाओं में मिलता है। भारतेन्दु ने जिस ढंग से संस्कृत-नाटकों के अनुवाद किये हैं तथा 'भारतदुर्दशा' आदि मौलिक प्रहसनों में जैसी भाषा

लिखी है, उससे उनके गद्य का परिचय बहुत कुछ हो सकता है।

समष्टिरूप में कह सकते हैं कि हरिश्चन्द्र का गद्य द्विपार्श्विक है अर्थात् एक ओर उसका सम्बन्ध लल्लूलाल तथा राजा लक्ष्मणसिंह से कुछ बातों में है, तथा दूसरी ओर आजकल के खड़ी-बोली में लिखे हुए मिश्रितगद्य से है।

लल्लूलाल और राजा लक्ष्मणसिंह से उनके गद्य का सम्बन्ध यों है कि जिस प्रकार उनकी भाषा व्रजभाषा की कोमलता से युक्त है, उसी प्रकार भारतेन्दु की भाषा भी है। भारतेन्दु के गद्य का व्रजभाषा-साम्य कुछ शब्दों के प्रयोग से प्रकट होता है। वे आश्चर्य, चतुरता, कल्याण, साथ, वीणा के स्थान में अचरज, चातुरी, कल्यान, संग, बीना लिखते हैं जैसे कि राजा लक्ष्मणसिंह करते थे। वैसे तो उनका गद्य वाक्य-विन्यास तथा मुहावरों के हिसाब से बिल्कुल आधुनिक खड़ी बोली के गद्य के समान है। व्रजभाषा का रंग तो उनकी भाषा में इसी लिए है कि वे एक असाधारण कवि थे और कविता का सा लय, सामंजस्य तथा मार्दव गद्य में भी ढूँढ़ना उनके लिए सर्वथा स्वाभाविक सा था। तभी तो 'ण' की परुष झंकार से बचने के लिए वे 'न' की अल्पप्राण ध्वनि का आश्रय लेते थे।

हिन्दी-गद्य को आधुनिक स्वरूप देने तथा उसकी रोचकता और वैचित्र्य की वृद्धि करने में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्थूल-

रूप में तीन प्रकार से सहायता दी।

हिन्दी-लेखकों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही पहले पहल गद्य की भाषा में हास्य और व्यंग का पुट दिया। इसके सिवाय इन दोनों गुणों के प्रभाव को बढ़ाने की नियत से उन्होंने लोकोक्तियों तथा बोल-चाल के मुहावरों का भी प्रयोग किया है। 'भारत–दुर्दशा' में भारतेन्दु की भाषा के सर्वोत्तम उदाहरण प्राप्त होते हैं। जैसे सत्यानाश फ़ौजदारों की यह बातचीत:–"फूट, डाह, लोभ, भय, उपेक्षा······इन एक दर्जन दूतों को शत्रुओं की फ़ौज में हिला मिला कर ऐसा पंचामृत बनाया कि सारे शत्रु बिना मारे घंटा पर के गरुड़ हो गये। फिर अन्त में भिन्नता गई। इसने सबको काई की तरह फाड़ा।"

सबसे बड़ा उपकार भारतेन्दु ने हिन्दी–गद्य के साथ यह किया कि उन्होंने उसे अपने विभिन्न प्रकार के नाटकों तथा प्रहसनों में रखकर उसकी अपरिमितप्रयोग बनाने का प्रयत्न किया। उनके पूर्ववर्ती लेखकों में किसी ने भी उसकी वैचित्र्य-वृद्धि का ध्यान न दिया था। लल्लूलाल तथा राजा शिवप्रसाद ने केवल गद्य की वर्णनात्मक शक्ति यथासम्भव सँभाली थी; राजा लक्ष्मणसिंह का सारा समय हिन्दी और उर्दू की विवेचना करने में लग गया; 'शकुन्तलानाटक' तथा 'रघुवंश' के अनुवाद करने के उपरांत भी वे अपनी निज की गद्य–शैली पर अधिकार न प्राप्त कर सके।

भारतेन्दु के गद्य में एक विशेष बात यह है कि उसमें नागरिक चिक्कणता है यद्यपि व्यंजक-शक्ति बढ़ाने के उद्देश्य से, जैसा अभी कह चुके हैं, वे विषयोपयुक्त प्रसिद्ध पंक्तियों तथा मुहावरों का प्रयोग करते थे, तथापि भूलकर भी कभी वे पण्डित प्रतापनारायण की तरह खरे ग्रामीण शब्दों को अपनी भाषा में स्थान न देते थे। एवं, उनकी शब्दावली नागरिक सजधज से ही युक्त होती थी। उनके हास्य तथा व्यंग भी सदैव शिष्ट होते थे।

अन्त में हिन्दी-गद्य के लिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का यही महत्व है कि उन्होंने उसे अनिश्चितता के कर्दम से निकाल कर एक निश्चित दिशा में रक्खा। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह ने उसे उर्दू और हिन्दी की खींचा-तानी में डाल रक्खा था। हरिश्चन्द्र ने यह सदा के लिए तै कर दिया कि यदि हिन्दी-गद्य भविष्य में स्वतंत्र रीति से साहित्यिक प्रयोग के लिए प्रौढ़ और सुडौल बनना चाहे तो उसे व्रजभाषा तथा शुद्ध संस्कृत का प्रेम छोड़ कर खड़ी बोली अथवा मिश्रित भाषा की बीथी की ओर मुड़ना होगा।

भारतेन्दु के बाद शीघ्र ही गद्य की उन्नति के दो मार्ग खुल चुके थे। अर्थात् उपन्यास-लेखकों तथा हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी थी। १८६८ ई० में हरिश्चन्द्र ने 'कवि-वचन-सुधा' निकालना शुरू किया। शीघ्र ही 'अलमोड़ा-अख़बार', 'बिहारबन्धु', 'सदादर्श', 'सार-सुधानिधि', 'उचित

बक्ता', 'भारतमित्र', 'बंगवासी' आदि अनेक हिन्दी-पत्र प्रकाशित होने लगे। इन पत्रों के द्वारा उत्तरी भारत के कोने कोने में हिन्दी की चर्चा होने लगी और धीरे धीरे काफ़ी बड़ी संख्या में हिन्दी-लेखक देख पड़ने लगे। इससे पूर्व पत्र-पत्रिकाओं के अभाव में कितने ही उत्साही हिन्दी-लेखकों के हौसले मन के मनही में रह जाया करते थे। अब प्रकाशन के साधनों के बाहुल्य के कारण उन सब को यथेच्छा अपने विचार प्रकट करने तथा जनता तक उनको पहुँचाने की सुविधा हुई। परन्तु उस समय की पबलिक अधिकतर अधकचरे पढ़े-लिखे लोगों की थी। उसे हिन्दी-कविता में तो रुचि थी, किन्तु गद्य-लेखों को पत्र-पत्रिकाओं में छपे रूप में पढ़ने का शौक़ न था और न विदग्ध साहित्य को अवलोकन करने की ही उसे परवाह थी। एवं उस कविताप्रेमी वाचक-समुदाय को गद्य की ओर प्रेरित करने के लिए उन पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों को हलके सुबोध विषयों पर सुगम तथा चलती भाषा में लेख लिखना अनिवार्य था। अस्तु, किसी न किसी तरह हिन्दी-पत्रों की खपत होने लगी और उनमें लेख लिखनेवालों की तथा उनके पढ़ने वालों की संख्या दिन दिन बढ़ने लगी। एक परिणाम और हुआ कि इन पत्र-पत्रिकाओं की प्रचार-वृद्धि के साथ साथ हिन्दी-गद्य-विकास पर वाचकवृन्द की रुचि का प्रतिघात भी क्रमशः पड़ने लगा। भारतेन्दु के समय तक गद्य-साहित्य का निर्माण कुछ इने गिने लेखकों पर ही निर्भर रहा

था और उन पर किसी वाह्य सूत्र से प्रभाव न पड़ता था, जिससे वे स्वछन्द होकर मनमाने ढंग से गद्य लिखा करते थे। परन्तु अब से श्रोताओं अथवा वाचकों की रुचि–वैचित्र्य का पूरा विचार रखकर वे गद्य लिखने बैठते थे। यही कारण है कि तब के सभी गद्य–लेखक प्रायः समय–साधक थे। केवल पंडित बालकृष्ण भट्ट को छोड़ कर अधिकांश अन्य सभी लेखकों ने केवल जनता की मनस्तुष्टि करने का प्रयत्न किया और यह जान कर कि इस समय नैतिक उपदेश तथा मनो-रंजन ही की हवा चल रही है, सभी ने शिक्षापूर्ण तथा हास्यमय लेख लिखे।

अस्तु पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा हिन्दी-गद्य का सम्बन्ध लौकिक रुचि से घनिष्ट रूप में सदा के लिए स्थापित हो गया और इसी से उसमें एक प्रकार की सजीवता अथवा परिवर्तन-शीलता का संचार हुआ जिसका प्राचीन गद्य में सर्वथा अभाव था।

इसी प्रकार १९ वीं शताब्दी के अन्त में या २० वीं के शुरू में उपन्यासों की जो भरमार हुई उससे भी गद्य-शैली की समीचीनता बढ़ने लगी। तत्कालीन उपन्यासकारों में किशोरी-लाल गोस्वामी, देवकीनंदन खत्री, कार्तिकप्रसाद, गंगाप्रसाद गुप्त, गोपालराम गहमरी के नाम विशेषतः उल्लेख्य हैं। इन लोगों ने एक ख़ास तरह के सनसनी से भरे हुए, विचित्र-घटनाओं से युक्त उपन्यास लिखे थे। उनकी भाषा प्रायः बड़ी

फड़कीली और चमत्कारपूर्ण है। यद्यपि उनके कथानक ऐसी क्षणिक रोचकता की घटनाओं के आधार पर निर्मित हैं जिनसे उनका स्थायी साहित्यिक महत्व नहीं रहता, तथापि उनके वर्णन तथा चरित्र-चित्रण ऐसी गठीली भाषा में हैं जो स्मरणीय रहेगी। वास्तव में इस उपन्यास-पुंज ने दो बड़े उपयोगी कार्य किये। एक तो उसके द्वारा गद्य को अच्छा व्यायाम मिला। और जिस प्रकार भारतेन्दु के नाटकों के काव्यमय साँचे में पड़ कर गद्य बड़ा परिष्कृत होकर निकला, वैसे ही उन उपन्यास-कारों के हाथ में वह अत्यन्त लचीला तथा मँजा हुआ बन गया। उपन्यासों से हिन्दी पढ़नेवालों का समूह और भी बढ़ा। इसके अतिरिक्त उनकी रसीली, चुहचुहाती हुई वर्णन-शैली पर मुग्ध होकर लोगों की प्रवृत्ति निरी कविता की ओर से उचटी और गद्य की ओर आकृष्ट हुई। जो लोग अभी तक यह समझ रहे थे कि व्रजभाषा की मधुर कविता के बाहर साहित्य का राज्य हो ही नहीं सकता उनकी अब आँखें खुलीं और उन्हें ज्ञात हो गया कि गद्य में भी सुपाठ्य रचनायें हो सकती हैं।

इसी बीच में हिन्दी-गद्य के विकास में कई सामयिक सामाजिक परिवर्तनों का प्रभाव पड़ा। पाश्चात्य सभ्यता के संघर्ष से भारत की प्राचीन धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्था पर आघात पहुँचा। सनातनधर्म जिसके वास्तविक सिद्धान्त वाह्य आडम्बरों से दब गये थे, पश्चिम से आई हुई तर्क की

हवा के झोंके से समूल डगमगाने लगा। इसी अवसर पर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना की, और देश भर में चिरप्रचलित मूर्ति-पूजा आदि अन्य धार्मिक रस्मों के विरोध में अपने मत का प्रचार किया। आर्यसमाज के सिद्धान्तों का निचोड़ यही था कि धर्म के नाम से जितने पाखंड और ढकोसले केवल इसी लिए जनता ने अक्षुण्ण रक्खे हैं कि वे पूर्वजों के चलाये हैं, वे सब बिना किसी हिच-किचाहट के त्याग देने चाहिए, यदि उनसे देश के हित में बाधा पहुँचती हो। कोरी अन्ध-भक्ति, अन्ध-विश्वास के प्रति-कूल आर्यसमाज ने स्तुत्य कार्य किया। १५ वीं और १६ वीं शताब्दियों में वैष्णव सन्तों ने जो भक्ति की नदी बहाई थी उससे जातीय जीवन में जो निस्पृहणीय मानसिक शैथिल्य उत्पन्न हो गया था उसको हटाना ही स्वामी दयानन्द का मुख्य उद्देश्य था।

एवं, एक प्रकार से भक्ति तथा आवेशपूर्णता के विरुद्ध आर्यसमाज ने जो युद्ध छेड़ा था उसका प्रभाव भारतीय साहित्य पर अच्छा पड़ा। बात यह है, कि ब्राह्म समाज और आर्यसमाज के आने के पूर्व तक सभी प्रान्तों के साहित्य में कविता का प्राचुर्य रहा था, गद्य-ग्रन्थ नाम मात्र को ही थे। भक्त-कवियों की सिखाई हुई भावुकता की गरमी में बड़े से बड़े लेखक गद्य लिखने में असमर्थ थे। आर्यसमाज ने इस हार्दिक उन्माद को बड़े अपूर्व ढंग से दूर किया। स्वयं स्वामी

जी ने अपना मुख ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' ऐसी सीधी, तीव्र और लक्कड़तोड़ भाषा में लिखा कि जिससे कविता की छाया योजनों दूर रह जाती है। स्वामी जी के जिन दो तीन पत्रों की नक़ल प्रस्तुत संग्रह में दी गई है वे भी इस बात के परिपोषक हैं। इसके सिवाय आर्यसमाज की ओर से जो भजन उत्सवों पर गाये जाते हैं, उनमें कितनी गायन-शक्ति अथवा कविता की छटा रहती है, यह कहने की आवश्यकता नहीं! आर्यसामाजिक लेखों तथा कविताओं में भी आदि से अन्त तक इसी प्रकार की गद्यमयता और व्यंग की मात्रा ख़ूब रहती है। श्री नाथूराम जी 'शंकर' के 'रंकरोदन' की ये पंक्तियाँ देखिए:—

"लड़के लकड़ी बीन बीन कर ला देते हैं।
ईंधन भर का काम अवश्य चला देते हैं॥
वृद्ध चचा दो तीन बार जल भर देते हैं।
माँग माँग कर छाछ महेरी कर देते हैं॥
छप्पर में बिन बाँस घुने ऐरंड पड़े हैं।
बरतन का क्या काम घने घटखंड पड़े हैं॥
खाट कहाँ, छै सात फटे से टाट पड़े हैं।
चक्की पोसे कौन बिना भिड़ पाट पड़े हैं॥
कर कर केहरि-नाद वलाहक बरस रहे हैं।
अस्थिर विद्युद्दृश्य दसों दिस दरस रहे हैं॥
गँदला पानी छेद छत्त के छोड़ रहे हैं।
इन्द्रदेव जी टाँग त्राण की तोड़ रहे हैं॥"

इस प्रसंग में कह सकते हैं कि हिन्दी में व्यंग-साहित्य को उद्दीप्त करने का श्रेय आर्यसमाज को ही है। आर्यसमाज के प्रचारकों को सनातनधर्मियों तथा अन्य मतावलम्बियों से वाद-विवाद करते समय बड़ी ज़ोरदार, मख़ौलपने से भरपूर तथा व्यंगयुक्त भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। तभी वे विपत्तियों के सामने ठहर भी पाते हैं। ऐसा करते करते उन्हें लिखने में भी ऐसी ही भाषा का अभ्यास हो जाता है। एवं उस समय के जितने आर्यसमाजी गद्य-लेखक हो गये हैं उन सब के लेखों में वैसे ही व्यंग तथा हास्य पाये जाते हैं। प्रसिद्ध लेखक पं० रुद्रदत्त जी शर्मा का लिखा हुआ 'स्वर्ग में सबजेक्ट्स कमेटी' नामक लेख इस बात का प्रमाण है।

इस प्रकार के तत्कालीन लेखों से जान पड़ता है कि आर्यसमाजियों की हास्य–व्यंग–प्रियता ने समस्त हिन्दी-गद्य को उन्हीं गुणों से सम्पन्न किया। अस्तु, आर्यसमाज ने हिन्दी-गद्य को हास्य, व्यंग इन दो उपादानों के संमिश्रण से रोचक बनाया और उसके उपयुक्त एक परिस्थिति तैयार की।

आर्यसमाज ने गद्य पर एक और प्रभाव डाला। हिन्दी–गद्य की भाषा पर आर्यसमाज ने उर्दू का बड़ा प्रभाव डाला। बात यह थी कि कुछ कारणों से पंजाब में ही स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों की सब से अधिक विजय हुई। और पंजाब था उर्दू बोलने वालों तथा लिखने वालों का एक बड़ा केन्द्र। अतएव नवीन वैदिक धर्म के संदेश को सब तक पहुँचाने के

लिए यह परम आवश्यक था कि उसके परिपोषक जितने ग्रंथ, पर्चे तथा पत्र प्रकाशित हों वे हिन्दी और उर्दू दोनों ही में हों, ताकि दोनों के जानने वाले बिना किसी कष्ट के उन्हें समझ सकें। इसी आवश्यकता को दृष्टिगत करके क्या 'सत्यार्थप्रकाश', क्या वेद सभी उर्दू में छप गये और पत्र, पत्रिकायें, लेख आदि आमने–सामने हिन्दी और उर्दू दोनों में लिखे जाने लगे।

इस द्विभाषिकता का फल शायद यह हुआ कि हिन्दी बहुत कुछ उर्दू से मिली। क्योंकि बहुत से उभयनिष्ट शब्दों तथा मुहावरों का प्रवेश स्वभावत: हिन्दी और उर्दू दोनों में आपस में हुआ जिससे हिन्दी को शुद्ध रखने का प्रयत्न जो राजा लक्ष्मणसिंह आदि ने किया था वह निष्फल हुआ। उर्दू का आक्रमण एक दूसरी रीति से भी हिन्दी–गद्य पर हुआ। आर्यसमाज ने प्राचीन धार्मिक प्रथाओं की काट–छाँट करने के अतिरिक्त राष्ट्रीयता के भाव भी देश में उत्पन्न करने की भरसक कोशिश की और इसी सम्बन्ध में सर्वसाधारण में हिन्दी के प्रचार करने के उद्देश्य को भी अपने सामने रक्खा। इस कार्य में उसे इतनी सफलता हुई कि बहुत से फ़ारसी और उर्दू के जाननेवालों ने हिन्दी सीखी और उसे अपनाया। पं० ज्वालादत्त शर्मा, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पं० दीनदयाल शर्मा आदि ने हिन्दी में लिखना और बोलना तक आरम्भ किया। सम्भवत: इन लोगों ने अदृश्यरूप से अपने उर्दू के ज्ञान की

बदौलत हिन्दी-भाषा को मिश्रित बनाने में योग दिया।

उन दिनों आर्यसमाज तथा सनातनधर्म के अनुयायियों में जो शास्त्रार्थ नित्य होते रहते थे तथा उन दोनों धार्मिक दलों की ओर से जो वृत्ति-स्वीकृत उपदेशकों के यूथ तैयार हो गये थे उनकी वक्तृताओं का भी हिन्दी-गद्य पर कई प्रकार का प्रभाव पड़ा था। शास्त्रार्थ करते समय प्रत्येक पक्षवाले को अपने आशय को बड़ी विशद रीति से अपने प्रतिद्वन्द्वी के सामने रखना होता था, तथा उसे नीचा दिखाने के मुख्य उद्देश्य से हँसी, मज़ाक़, तानाज़नी तथा वावदूकता इन सब का आश्रय लेना होता था। एवं, अस्पष्टता अथवा असम्बद्धता से बचने में तथा अपनी भाषा को चित्ताकर्षक बनाने में शास्त्रार्थ करनेवाले लोग बड़ा रोचक तथा समीचीन गद्य बोलते थे, और लिखते थे।

इसी प्रकार धार्मिक उपदेशकों की वक्तृताओं में भी हिन्दी का एक अच्छा स्वरूप देख पड़ता था। वक्तागण पढ़े, अनपढ़े सभी भाँति के श्रोताओं का ध्यान रख कर उपदेश ऐसी भाषा में देते थे जो सुबोध होती थी परन्तु जो उपयुक्त लोकोक्तियों तथा मुहावरों के कारण बड़ी रोचक होती थी। अस्तु, इन उपदेशकों की वाक्कुशलता से गद्य पर दो प्रभाव पड़े। एक तो जिस प्रकार अभ्यस्त वक्ताओं के व्याख्यानों को सुनते सुनते लोगों की बोलचाल की भाषा अत्यधिक मिश्रित तथा व्यंजक होगई, उसी प्रकार गद्य-लेखों की शैली भी

चारुतर होगई। राजा शिवप्रसाद तथा राजा लक्ष्मणसिंह की अनिश्चितता तथा लल्लू लाल की अनगढ़ता हिन्दी–गद्य से दूर होने लगी।

दूसरे, जिस जोश में आकर उपदेशक लोग व्याख्यान देते समय हाथ पटकते थे और अपने भावों को व्यक्त करने के लिए जिन अनेक इंगितों का प्रयोग करते रहे होंगे तथा जो ओजपूर्ण भाषा बोलते थे, उन सब का प्रतिविम्ब गद्य शैली पर भी पड़ा। कहना न होगा कि उस समय के बहुत से लेखकों के गद्य में वक्तृताओं का सा तीव्र प्रवाह है और ओज है। पं० अम्बिकादत्त व्यास के मूर्ति–पूजा नामक लेख की भाषा इसका अच्छा उदाहरण है। नीचे इसी ओजपूर्ण भाषा का एक अवतरण 'सब भाषाओं में कौन उत्तम और प्राचीन है' शीर्षक लेख से दिया जाता है:—

"कुछ लोग कहते हैं कि पहिले तो देवनागरी का ख़त अच्छा नहीं, दूसरे जल्द नहीं लिखी जा सकती, तीसरे उसकी बोलचाल में शीरींपन नहीं आता और न शायरी में फ़साहत पाई जाती है इत्यादि बहुत कुछ रागमाला फेरते हैं। सच तो यह है कि वे लोग इसके मर्मभेद को नहीं जानते। इसी से नागरी को धाकरी समझते हैं। भला चटनी का स्वाद बन्दर क्या जाने? देखो, ख़त और जल्दी का दोष देते हैं। क्या कोई दिव्यचक्षु इन अक्षरों की गुनाई, पंक्ति की सुधाई और लेख की सुघड़ाई को अनुत्तम कह सकेगा? क्या यही

सौम्यता है कि एक सिर आकाश पर तो दूसरा पाताल पर छाजता है ? क्या यही जल्दपना है जो लिखा आलूबुखारा आया उल्लूबिचारा, लिखा गया छन्नू पढ़ने में आया भब्बू।"
('भारत-सुदशाप्रवर्तक, १८८१)

इन पंक्तियों की भाषा में लगभग वे सब गुण हैं जिनका उल्लेख ऊपर विस्तृत रीति से किया गया है और जो आर्यसमाज के द्वारा हिन्दी-गद्य में आये थे।

ऐसे समय जब कि धार्मिक उथल-पथल के कारण हिन्दी का कलेवर बदल रहा था, पंडित प्रतापनारायण मिश्र तथा पंडित बालकृष्ण भट्ट 'ब्राह्मण' और 'हिन्दी-प्रदीप' के लेखों से गद्य-साहित्य की सुदृढ़ नींव रख रहे थे। परन्तु मिश्र जी और भट्ट जी अलग अलग अपने अपने ढंग से यह काम कर रहे थे।

पंडित प्रतापनारायण अपने समय के बिल्कुल साथ थे। जैसा कि अभी कहा जा चुका है १९ वीं शताब्दी का अधिकतर भाग हिन्दी का प्रचार-काल था। नई नई पत्र-पत्रिकाओं तथा उपन्यासों के उद्योग से एक सुगम साहित्य का निर्माण किया जा रहा था, जिसके द्वारा उर्दू या अँगरेज़ी के जाल में फँसे हुए कितने एक शिक्षित लोग हिन्दी की ओर आकृष्ट किये जा रहे थे। सारांश यह है कि उस समय के लेखक हिन्दी-जनता की वृद्धि करने में लगे थे। प्रतापनारायण मिश्र में नैसर्गिक साहित्यिक प्रतिभा थी और उनकी लेखनी शक्तिपूर्ण थी। यदि उनके हृदय से तत्कालीन

राष्ट्रीयता के भाव तथा सामाजिक हितप्रेरणा इतने प्रबल रूप में न होते तो वे निस्सन्देह उच्चकोटि के लेखक हुए होते, परन्तु सामाजिक सुधारों की पुकार करते करते और अपने समय के अल्पशिक्षित समुदाय को गम्भीर और विदग्ध साहित्य की ओर प्रोत्साहित करने के अभिप्राय से, वे उसकी अपरिपक्व रुचि को सन्तुष्ट करने के योग्य हलके लेख लिखते रहने में यावज्जीवन फँसे रहे। इस प्रकार उनकी प्रतिभा केवल सुगम साहित्य की रचना में ही आबद्ध रही, और उन्हें अपने समय के साहित्यिक धरातल से ऊँचे उठने का कम अवकाश मिला। इस बात से यह ध्वनि कदापि नहीं निकलती कि प्रतापनारायण का स्थान हिन्दी-साहित्य में किसी प्रकार से हीन है। उनकी गणना तो उत्कृष्ट श्रेणी के लेखकों में सदैव रहेगी।

राजा शिवप्रसाद ने गद्य को बहुत कुछ स्थिर स्वरूप प्रदान किया था, पर उन्होंने आवश्यकता से अधिक उसे उर्दू से भर दिया था, यहाँ तक कि उनकी लिखी हुई हिन्दी कहीं कहीं तो अपना अस्तित्व खो बैठी है। राजा साहब संस्कृत-शब्दों तथा ग्रामीण भाषा से बेतरह चौंकते थे जैसा कि ऊपर उद्धृत की हुई उन्हीं की उक्ति से ज्ञात होता है। ख़ास कर ग्रामीण कहावतों तथा मुहावरों को निकाल कर उन्होंने हिन्दी-गद्य के विकास को बड़ा धक्का पहुँचाया। क्योंकि यह सर्व-मान्य मत है कि किसी भी भाषा के गद्य में सजीवता तभी

आती है जब उसमें चिरप्रचलित मुहावरों को समयानुसार बेरोक-टोक स्थान दिया जाता है, चाहे वे ग्रामीणों अथवा नागरिकों की बोलचाल से क्यों न लिये गये हों। गद्य की ही नहीं किन्तु साहित्य-मात्र की सब से बड़ी समस्या यही है कि जो कुछ कहा जाय वह पढ़ने वाले या सुनने वाले के चित्त पर तत्काल असर करे। एक ही भाव को प्रकट करने में कई शब्द समर्थ होते हैं, परन्तु कोई अधिक चमत्कारपूर्ण होता है और कोई उससे कम। अस्तु, राजा शिवप्रसाद नागरिक सभ्यता अथवा समीचीनता के अधिक वश में थे, तभी देहातियों के सुन्दर से सुन्दर प्रयोग गद्य में प्रयुक्त होने के लिए उन्हें अशिष्ट जान पड़े।

प्रतापनारायण मिश्र ने जान में या बेजान में ही राजा साहब तथा भारतेन्दु हरिचन्द्र की भाषा की घोर नागरिकता के विरोध में ग्रामीणता की बाढ़ चलाई। शहर के निवासी होने पर भी उन्होंने शहर वालों की कृत्रितमा का ज़रा सा भी अनुसरण न किया। लेख भी उनके 'भौं', 'दाँत', 'मरे का मारैं शाहमदार' ऐसे साधारण नित्य प्रति के विषयों पर हैं। लिखते समय उनका यही एक मात्र ध्येय रहता था कि जो कुछ कहा जाय वह सीधे-सादे किन्तु रोचक ढंग से हो। तभी तो उनकी भाषा ठेठ देहात की कहावतों तथा अन्य प्रकार की हास्यपूर्ण बातों से भरी है। प्रायः बहुत से लेखकों के लेखों में जो गम्भीरता तथा विद्वत्ताप्रदर्शन के ऐब रहते हैं, वे प्रतापनारायण

के गद्य में देख नहीं पड़ते। सचमुच उनके लेख क्या हैं, मानो गप-शप के समूह हैं। इसी से उनके द्वारा हिन्दी-गद्य की एक ऐसी शैली का आविष्कार हुआ है जिसका प्रवाह नैसर्गिकता-पूर्ण है। प्राचीन गद्य-लेखकों के लेखों की भाषा से ज्ञात होता है कि उसका एक एक पद ढूँढ़ने में उन्हें बढ़ा परिश्रम करना पड़ा होगा। १७ वीं सदी के एक लेखक किशोरदास का यह वाक्य लीजिये: "जु एक समय कस्यपु संध्या समय विषें संध्या कै ईश्वर को सुमिरन करत बैठे हते" उससे साफ़ जान पड़ता है कि वह बहुत यत्न-पूर्वक रगड़ रगड़ कर लिखा गया है, उसमें स्वाभाविकता नहीं है।

"जहाँ तक सहृदयता से विचारिएगा वहाँ तक यही सिद्ध होगा कि प्रेम के बिना वेद झगड़े की जड़! धर्म बे सिर पैर के काम! स्वर्ग शेख़चिल्ली का महल और मुक्ति प्रेत की बहिन है" ......पं० प्रतापनारायण के लिखे हुए इस वाक्य में कैसी सरलता है और उसके भाव कैसे विशद हैं!

कभी कभी तो गँवारू भाषा में हास्य-व्यंग करने की सनक में तथा अपनी शैली की सुबोधता स्थिर रखने की उमंग में प्रतापनारायण अश्लील भी हो जाते थे। परन्तु, कुछ भी हो उन्होंने गद्य पर जो अपनी छाप लगाई है वह अश्लीलता अथवा असभ्यता की नहीं वरन् प्रकृतता तथा रोचकता की है। उन्होंने किसी सुस्त तथा पुरानी लीक पीटने वाले लेखक की भाँति केवल अत्यधिक सभ्य समाज में सनातनकाल से

प्रचलित भावहीन शब्दों को जोड़-बटोर कर लिखना अंगीकार नहीं किया। प्रत्युत, यह अच्छी तरह समझ कर कि नगर-निवासियों की खड़ी बोली की शब्दावली का अधिकतर भाग, जिसे राजा शिवप्रसाद आदि लेखकों ने टकसाली समझ रक्खा था, प्राय: वर्षों के विचारशून्य कृत्रिमताप्रिय भाषियों के द्वारा व्यवहृत होते होते निर्जीव हो गया था, उन्होंने हिन्दी को फिर से सजीव बनाने के लिए ग्रामीण बोली के बहुत से भावपूर्ण मुहावरे गम्भीर से गम्भीर लेखों में प्रयोग किये। फलत: उनके इस सत्प्रयत्न से हिन्दी-गद्य सदा के लिए जीवित हो उठा।

यहाँ पर यह बात निसन्देह स्मरणीय है कि यद्यपि पं० प्रतापनारायण मिश्र ने हिन्दी-गद्य को नागरिकता अथवा निर्जीवता के फंदे से छुड़ाया और उसको रोचक बनाने में कोई कसर नहीं रख छोड़ी, तथापि उन्होंने उससे सम्बन्ध रखने वाली कई आवश्यक समस्याओं पर बिल्कुल विचार नहीं किया। हिन्दी का वास्तविक गद्य उस समय ५० या ६० वर्ष से अधिक पुराना नहीं था, जब वे इस क्षेत्र में उतरे थे। लल्लूलाल से लेकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक उसकी व्यंजना-शक्ति की काफ़ी अभिवृद्धि हो चुकी थी और यह क़रीब क़रीब तै सा हो चुका था कि उसको मिश्रित स्वरूप देना अनिवार्य रहेगा। पर व्याकरण की रीति से गद्य का संस्कार अभी तक न हो पाया था अर्थात् उसकी स्पेलिंग तथा विराम-चिन्हों के प्रयोग पर

किसी ने विचार न किया था। राजा शिवप्रसाद से 'अवतारी' लोगों ने भी वाक्य-विन्यास का विचार छोड़ कर गुँथी हुई भाषा लिखी थी। इस विषय में प्रतापनारायण मिश्र भी गतानुगतिक ही रहे और 'रिषि', 'रिचा', 'जात्याभिमान' से व्याकरण-भ्रष्ट प्रयोग किये। उनकी इन भूलों का सुधार आगे चल कर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि ने किया।

पं० बालकृष्ण भट्ट प्रतापनारायण के समकालीन समकक्ष थे, किन्तु वे गद्य की धारा दूसरी ओर घुमा रहे थे। उनका मत था कि "'प्रोज़' (गद्य) हिन्दी का बहुत ही कम और पोच है। सिवाय एक 'प्रेमसागर' सी दरिद्र रचना के इसमें कुछ और है ही नहीं जिसे हम इसके साहित्य के भंडार में शामिल करें। दूसरे उर्दू इसकी ऐसी रेढ़ मारे हुए है कि शुद्ध हिन्दी तुलसी, सूर इत्यादि कवियों की पद्य-रचना के अतिरिक्त और कहीं मिलती ही नहीं।" अर्थात् जिस समय उन्होंने लिखना आरम्भ किया उस समय तक जितना गद्य लिखा जा चुका था वह उन्हें नापसन्द था। दूसरी बात यह थी कि राजा शिवप्रसाद आदि ने जिस उर्दू मिली हुई हिन्दी का प्रचार किया था वह भी भट्ट जी को भद्दी जान पड़ती थी। ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने मन में एक उत्कृष्ट कोटि की गद्य-शैली को जन्म देने का संकल्प किया था। तदनुसार भट्ट जी ने १८७६ में 'हिन्दी-प्रदीप' नामक निज का पत्र निकालना शुरू किया। उसके अधिकतर लेख वास्तव में ऊँचे

साहित्यिक ढंग के होते थे। यह कहना पड़ता है कि वे अपने समय से बहुत आगे थे। पं० प्रतापनारायण की तरह हिन्दी-प्रचार में ही अपनी समस्त विद्वत्ता तथा लेखन-शक्ति लगा कर अपने ज़माने की अधकचरी जनता के साथ चलते रहना बालकृष्ण भट्ट ने कभी स्वीकार नहीं किया। वे सर्वसाधारण की रुचि हिन्दी की ओर झुकाने के लिए 'हिन्दी-प्रदीप' में 'कुँआर के दस दिन' तथा 'पंच महाराज' और 'मिडिल क्लास की परीक्षा', जिसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ ये थीं:-

"सौ डूबैं तो दस उतरायँ, कितने पूत अकारथ जायँ,
छोड़ो मियाँ मिडिल का मोह, यह डाइन की लंबी खोह"—

ऐसे लेख सुगम विषयों पर लिखा करते थे, परन्तु साथ ही साथ 'बाल्य भाव', 'मानवी संपत्ति", 'ईश्वर भी क्या ही ठठोल है' तथा 'हमारे मन की मधुपवृत्ति है' इस प्रकार के लेख केवल अपनी साहित्यिक आत्मा को आनन्दित करने के लिए भी लिखते थे। इस ढंग के निबन्धों को सराहने वाले लोग भट्ट जी के समय में थे ही नहीं और जो थे भी वे उँग-लियों पर गिनने योग्य थे। परिणाम यह हुआ कि उन्हें 'हिन्दी-प्रदीप' को घाटे पर ही ३२ वर्ष तक चलाना पड़ा। अस्तु, प्रश्न हो सकता है कि भट्ट जी को क्या सूझा था जो वे आर्थिक कठिनाइयों में भी गम्भीर विषयों पर लेख लिख कर अपने पत्र को इतने दीर्घ काल तक निकालते रहे। इसका उत्तर ऊपर उद्धृत किये उन्हीं के शब्दों में यह है कि 'हिन्दी

का गद्य बहुत ही कम और पोच' था। उनमें प्रतिभा थी, बहु-पार्श्वी विद्वत्ता भी थी और उनमें साहित्य-सेवा की सच्ची लगन थी। बस फिर क्या था! अपनी सारी शक्तियों को लगा कर भट्ट जी गद्य-साहित्य के उन्नयन में तन्मय होकर लग गये।

अस्तु, इस निश्चित उद्देश्य तथा विद्वत्ता के मेल से पं० बालकृष्ण भट्ट हिन्दी-गद्य को अत्यधिक शुद्ध तथा परिमार्जित करके उसे विदग्ध साहित्य के उपयुक्त बनाने में सफल हुए।

वे कहा करते थे कि, 'हमें बैसवारे की मर्दानी बोली सबसे अधिक भली मालूम होती है।' परन्तु उन्होंने अपने लेखों में उसका प्रयोग कहीं भी नहीं किया और वे सदैव हिन्दी-उर्दू मिश्रित भाषा, जिसे खड़ी बोली कहते हैं, लिखते रहे। प्रतापनारायण के हाथों गद्य में जो कुछ शैथिल्य तथा अशिष्टता आ रही थी उसका प्रतिकार भट्ट जी ने किया। जो व्यंग और हास्य मिश्र जी की भाषा में निरा ग्राम्य हो जाया करता था उसने पं० बालकृष्ण जी भट्ट के द्वारा सुन्दर, समीचीन, साहित्यिक रूप धारण किया है।

इसके सिवाय गद्य के शब्द-भांडार को समृद्ध बनाने में भी भट्ट जी ने बहुत कुछ किया। बड़े संस्कृतज्ञ होने पर भी तथा शुद्ध भाषा के घोर पक्षपाती होने पर भी उन्होंने वे भूलें नहीं कीं जो ऐसे लोगों के हाथ से हो जाती हैं। उन्होंने न तो परम्परागत प्रचलित शब्दों को प्रयोग करने की ही ठानी

और न कोरे संस्कृतज्ञों की तरह भाषा को दुरूह बनाने में उन्हों ने अपनी शक्ति नष्ट की। इसके प्रतिकूल उन्होंने बहुत से नये मुहावरे गढ़े और जहाँ कहीं उन्हें हिन्दी में किसी भाव को व्यक्त करने के लिए ठीक ठीक शब्द न मिले वहीं उन्हों ने अंग्रेज़ी के शब्दों का ही व्यवहार किया। यहाँ तक कि कभी कभी तो उनके निबन्धों के शीर्षक भी अंग्रेज़ी में होते थे। इस लिए कह सकते हैं कि प्रतापनारायण मिश्र के मुक़ाबले में भट्ट जी का कार्य अधिक महत्व का था क्यों कि प्रतापनारायण की गद्य-भाषा में जो लालित्य है उसका श्रेय ज़्यादातर उनकी मस्ती तथा उनके उस ग्रामीण भाषा के ज्ञान को है जो लोकोक्तियों अथवा मुहावरों के रूप में उसमें भरी है। परन्तु पं० बालकृष्ण भट्ट के लेखों में जो रोचकता है उसका स्रोत उनकी स्वाभाविक साहित्यिक क्षमता तथा शाब्दिक सौष्ठव में है।

यदि पं० प्रतापनारायण मिश्र ने हिन्दी-गद्य का उपवन लगाया है तो पंडित बालकृष्ण भट्ट ने चतुर माली की भाँति उसके विटपों की अनावश्यक सघनता की काट-छाँट की, और उसमें एक प्रकार के साहित्यिक सौरभ का संचार किया।

इसके बाद के हिन्दी-गद्य-निर्मायकों में पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी का नाम सब से पहले आता है। द्विवेदी जी ने 'बेकनविचार-रत्नावली', 'सम्पतिशास्त्र', 'शिक्षा', 'किराता-र्जुनीय' आदि अनेक अनूदित पुस्तकों के द्वारा भाषा पर अपना

अधिकार जमाया। इसके सिवाय २० वर्ष तक 'सरस्वती' का सम्पादन करते हुए भिन्न भिन्न प्रकार के विषयों पर लेख लिख कर कई शैलियों में लिखने का अभ्यास प्राप्त किया। अन्त में कई विशद सिद्धान्तों को दृष्टिगत रखकर हिन्दी-गद्य की विकास-धारा को उन्होंने एक निर्दिष्ट दिशा की ओर फेरा। द्विवेदी जी ने राजा शिवप्रसाद तथा पंडित प्रतापनारायण दोनों से इस विषय में बहुत कुछ सीखा होगा। राजा साहब ने उन्हें मिश्रित भाषा लिखने का उपदेश दिया। द्विवेदी जी ने वास्तव में उसे परिपक्व बनाया। इस सम्बन्ध में 'हिन्दी-भाषा का इतिहास' शीर्षक पुस्तिका में वे कहते हैं कि:—

"हिन्दी में एक बड़ा भारी दोष इस समय यह घुस रहा है कि उसमें अनावश्यक संस्कृत-शब्दों की भरमार की जाती है। इससे हिन्दी और उर्दू का अन्तर बढ़ता जाता है। जिन अख़बारों और पुस्तकों की भाषा सरल होती है उनका प्रचार भी ज़ोरों से होता है। इसका अफ़सोस है। संस्कृत के कठिन तत्सम शब्द क्यों लिखे जायँ? 'घर' शब्द क्या बुरा है जो 'ग्रह' लिखा जाय? 'क़लम' क्या बुरा है जो 'लेखनी' लिखा जाय? 'ऊँचा' क्या बुरा है जो 'उच्च' लिखा जाया?" ......तात्पर्य यह है कि द्विवेदी जी जान-बूझकर कभी भी खरे संस्कृत के शब्दों के प्रयोग से बोलचाल की भाषा और लिखित भाषा के बीच में दीवाल उठाकर 'हिन्दी-ए-मुअल्ला' अथवा उत्कृष्ट हिन्दी की रचना करने का प्रयत्न नहीं करते।

वे समझते हैं कि गद्य की महिमा तभी है जब उसके द्वारा साधारण से साधारण सब प्रकार के विषयों का प्रतिपादन सुचारुरूप से हो सके; यदि उसकी भाषा से यत्नत: शुद्ध संस्कृत के तथा अन्य किसी भाषा के शब्द निकाल दिये जायँ, तो ऐसे गद्य से केवल पांडित्य का उन्माद निकाला जा सकता है और तो कोई भी अर्थ उससे सम्पादित नहीं हो सकता।

इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए द्विवेदी जी अपनी मिश्रित शैली को आवश्यकतानुसार ग्राम्य मुहावरों से भी सुसज्जित करते हैं। इस बात में वे पं० प्रतापनारायण मिश्र से मिलते जुलते हैं। उनके से हास्य और व्यंग भी द्विवेदी जी के गद्य में हैं। पर उन्होंने जहाँ मिश्र जी से ये गुण सीखे हैं वहाँ उन्होंने, अज्ञात रूप में ही सही, उनकी भाषा के कई अवगुणों का सुधार भी किया है। पं० प्रतापनारायण का हास्य कभी कभी अश्लील होता था तथा उनकी भाषा प्राय: असावधानतापूर्ण होती थी। द्विवेदी जी के सर्वोत्तम गद्य में उन्हीं की छाया है, किन्तु वह दो बातों में उनसे बिल्कुल भिन्न है। एक तो द्विवेदी जी के लेख सर्वांश में शिष्टता-सम्पन्न हैं और दूसरे उनकी भाषा की रचना सुसम्बद्ध तथा अनवद्य है। बात यह है कि वे बड़े सावधान तथा मननशील गद्य-लेखक हैं। अनुस्वार, चन्द्रविन्दु, 'ए' और 'ये', 'श' और 'स' इन बातों पर पिछले लेखकों ने बिल्कुल ध्यान न दिया था और बहुत सी ऐसी ही वैयाकरणिक समस्याओं की उलझन में ही छोड़

कर आँख मूंदे हुए वे लिखते गये थे। इसका परिणाम यह हो रहा था कि हिन्दी-गद्य की भाषा अनिश्चित दशा में पड़ी हुई थी। द्विवेदी जी ने स्पेलिंग और विरामादि की एक प्रणाली चलाई। हिन्दी में इस प्रकार विरामादि के चिन्हों का प्रचार करके उन्होंने वाक्य-विभाजन अथवा पैराग्राफ़िंग की रीति निकाली। इस विचार से पं० प्रतापनारायण और पं० बालकृष्ण भट्ट के बाद उन्होंने गद्य को आधुनिक स्वरूप दिया।

द्विवेदी जी एक बात में स्मरणीय रहेंगे कि उन्होंने अपने हाथ से कई गद्य-शैलियों का आविष्कार किया है। कम से कम उनके गद्य के तीन तरह के नमूने मिलते हैं। साधारणत: वे मुहावरेदार, मिश्रित भाषा में लिखते हैं जिसका उदाहरण प्रस्तुत संग्रह में संकलित 'कवि और कविता' शीर्षक लेख है। दूसरे प्रकार के गद्य-लेखों में हास्य और व्यंग का पूरा समावेश रहता है और उनकी भाषा बड़ी चुटीली होती है। तीसरे प्रकार का गद्य अधिक गम्भीर विषयों पर होता है और उसकी शब्दावली भी काफ़ी संस्कृत होती है।

अतएव, इन विभिन्न शैलियों का उल्लेख करने से अभिप्राय यह है कि द्विवेदी जी ने हिन्दी-गद्य के लचीलेपन की ख़ूब वृद्धि की है। पं० प्रतापनारायण और पं० बालकृष्ण भट्ट के समस्त लेख लगभग एक ही ढंग से लिखे हुए हैं; परन्तु द्विवेदी जी समयानुसार अपनी शैली को परिवर्तित कर देते हैं। यह गद्य-लेखकों के लिए एक बड़ी बात है। संक्षेपतया

कह सकते हैं कि द्विवेदी जी ने हिन्दी–गद्य का रुझान बोल–चाल की सजीव तथा वर्द्धमान भाषा की ओर करके उसके उत्तरोत्तर विकास का द्वार खोला, उसकी व्याकरण ठीक की, तथा उसकी विशदता बढ़ाई। उनके वाक्य कभी भीमकाय नहीं होते; पर एक ही बात को स्पष्ट तथा सजीव रूप में व्यक्त करने के लिए वे कई वाक्यों का निर्माण करने से भी नहीं हिचकते। एवं, विशदता को लाने के लिए वे वाग्विस्तर का आश्रय लेना बुरा नहीं समझते। इसके अतिरिक्त दो दशकों तक 'सरस्वती' से सम्बन्ध रख कर द्विवेदी जी ने अपने गद्य–विषयक सिद्धान्तों का ख़ूब प्रचार किया और उनके द्वारा भाषा की स्थिरता में योग दिया।

हिन्दी–गद्य के इतिहास में उस समय के पत्रों का नाम भी महत्वपूर्ण रहेगा। विशेषकर 'भारतमित्र' अधिक प्रसिद्ध है क्योंकि वह एक तो सबसे पुराना पत्र है जो गद्य–विकास के दो स्पष्ट युगों के बीच की सन्धि बनाता है। दूसरे उसके सम्पादकीय विभाग में युक्तप्रान्तीय, पंजाबी, महाराष्ट्र, तथा बंगाली सभी तरह के लेखक रहे हैं, जिन्होंने अपनी अपनी प्रान्तीय भाषाओं का प्रभाव गद्य पर डाला है। पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, बाबू अमृतलाल चक्रवर्ती आदि भिन्न भिन्न समयों पर उसके सम्पादक रहे। इनमें से सभी लोग गहरे साहित्य–प्रेमी थे। उनके कारण कलकत्ते में जो बँगला का दुर्भेद्य अड्डा था, वहाँ भी हिन्दी की चर्चा फैली।

अमृतलाल जी चक्रवर्ती तथा बाबू बालमुकुन्द गुप्त दोनों ने अपनी अपनी स्वीकृत भाषायें छोड़कर हिन्दी में लिखना प्रारम्भ किया। इस प्रकार भिन्न भिन्न प्रान्तों के साहित्य-सेवियों की जो मंडली 'भारतमित्र' तथा 'बंगवासी' दोनों के आसपास बन गई उनके कारण हिन्दी पर उर्दू, मराठी तथा बँगला सभी की छाया पड़ने लगी। अस्तु, इस समय के अधिकांश हिन्दी-लेखक बहु-भाषा-ज्ञाता होते थे, कम से कम बँगला और मराठी तो अवश्य ही वे जानते थे। पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० गोविन्दनारायण मिश्र सभी कई भाषायें जानते थे। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी और भी कई भाषाओं के ज्ञाता हैं।

इस बात का ठीक ठीक पता लगाना तो कठिन है कि बँगला और मराठी के कौन कौन प्रभाव हिन्दी पर पड़े। परन्तु यह तो अवश्य अनुमानतः कहा जा सकता है कि मराठी जिसमें उस समय तक विष्णुशास्त्री चिपलूणकर से समालोचक तथा हरनारायण आपटे से निबन्ध-लेखक तथा बँगला जिसमें बंकिमचन्द्र से उपन्यास तथा प्रहसन के लेखक हो चुके थे, उनसे हिन्दी-लेखकों ने क्या क्या कहाँ तक न सीखा होगा। हिन्दी-गद्य जिस ऊर्जित अवस्था को अचानक पहुँचा उसका बहुत नहीं तो कुछ श्रेय तो उन उन्नत भाषाओं के साहित्यों को अवश्य होगा। बँगला ने कम से कम हिन्दीवालों को संस्कृतमयी भाषा लिखना सिखाया। पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र

और पं० गोविन्दनारायण मिश्र के गद्य की संस्कृतता इसी बात की द्योतक है। स्वयं अमृतलाल जी चक्रवर्ती उसी प्रकार की हिन्दी लिखते हैं। इसके सिवाय 'भारतमित्र' में जिस ढंग के व्यंग-पूर्ण लेख बहुधा निकलते रहे थे उन पर भी बँगला का असर पड़ा होगा।

अस्तु, यह प्रतीत होगा कि 'भारतमित्र' ने अपने चटकीले भाषा में लिखे हुए लेखों के द्वारा वही काम किया जो 'ब्राह्मण' ने किया था, अर्थात् बहुत से अन्य-भाषा-भाषियों तक की रुचि हिन्दी की ओर खींची। इस प्रसंग में यह भी कह देना उचित होगा कि यद्यपि 'भारतमित्र' आदि अन्य बहुत से पत्रों से हिन्दी का प्रचार तो हुआ, किन्तु उनसे शैली के परिमार्जन में विशेष सहायता न मिली होगी। कारण यह है कि 'भारत-मित्र' आदि पत्र दैनिक अथवा साप्ताहिक थे, अतएव उनके सम्पादकों को दैनिक घटनाओं पर या और क्षणिक विषयों पर बहुत थोड़े समय में लेख लिखकर वाचकों के मनोविनोद की सामग्री इकट्ठा करनी पड़ती थी। परन्तु किसी लेख-शैली अथवा स्टाइल (style) को इतनी फुर्ती में सुचारु बना लेना असम्भव है; उसकी सुघरता अवकाश मिलने पर तथा काट-छाँट करने पर ही अवलम्बित होती है। बिना मासिक पत्रि-काओं के किसी भाषा की लेखन-शैली परिमार्जित नहीं हो सकती। अस्तु, 'भारतमित्र' आदि के द्वारा हिन्दी-गद्य का प्रचार-मात्र ही हुआ। गद्य-भाषा की समीचीनता 'सरस्वती'

के द्वारा ख़ूब बढ़ी। इसी हिसाब से २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ से कई वर्षों तक जो कुछ उन्नति गद्य-शैली की हुई है उसका सम्बन्ध सर्वांश में 'सरस्वती' से है।

१९ वीं शताब्दी में ही राजा शिवप्रसाद तथा पं० प्रतापनारायण की प्रचलित की हुई मिश्रित भाषा के विरोधी संस्कृतता-पूर्ण लेखन-प्रणाली के कई अनुयायी देख पड़े। पंडित भीमसेन शर्मा, पंडित गोविन्दनारायण मिश्र, पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय इस प्रकार के मुख्य लेखकों में से हैं। डाक्टर ग्रियर्सन का तो कहना है कि हिन्दी को कठिन बनाने में काशीवाले पंडितों का ख़ास हिस्सा है। कुछ हद तक यह ठीक भी है। क्योंकि, आर्यसमाज तथा अन्य राष्ट्रीय संस्थाओं के प्रयत्न से जब हिन्दी को देशव्यापी भाषा बनाने की कोशिश की गई, तब कुछ स्थविर संस्कृतज्ञों ने भी उसको अपनाना स्वीकार किया। परन्तु लिखते समय उन्होंने संस्कृत-शब्दावली का तथा संस्कृत-व्याकरण के नियमों का अनुसरण करना न छोड़ा। पं० भीमसेन शर्मा तथा कई लेखकों ने हिन्दी में प्रचलित उर्दू-शब्दों तक को संस्कृत के ढाँचे में ढालना शुरू किया। हिन्दी में संस्कृतमयता की धूम पिछले १० वर्षों से यहाँ तक मच गई थी कि, पंडित मदनमोहन जी मालवीय ऐसे वक्ताओं के व्याख्यानों को जो सबसे बड़ी प्रशंसा की जाती थी वह यह थी कि 'उनकी भाषा में एक भी उर्दू का शब्द नहीं आने पाता था'। उस समय जनसाधारण की प्रवृत्ति उसी प्रकार की शुद्ध भाषा के

पक्ष में थी।

आजकल भी उस शुद्ध भाषा के परिपोषकों का आधिक्य है। बात यह है कि अँगरेज़ी शिक्षा पाये हुए नई रोशनी के लोग ग्राम्य जीवन की सभी बातों को तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगे हैं, और नागरिकता की ओर बहे जा रहे हैं। उनका यह दृढ़ विश्वास हो रहा है कि देहात की वेश–भूषा, बोली, वाणी सभी गर्ह्य हैं। तभी वे बोलने तथा लिखने में दोनों में दुराग्रहवशात् सजीव से सजीव ग्रामीण मुहावरों तथा कहावतों का प्रयोग करने में लज्जित होते हैं और ऐसे मौक़ों पर जब कि उन्हें उपयुक्त शब्द शहर की खड़ी बोली में नहीं मिलते तब वे संस्कृत का सहारा लेते हैं। पंडित प्रतापनारायण के ठेठ भाषा में लिखे हुए लेखों से इस प्रकार के नागरिक पुरुषों को आनन्द प्राप्त नहीं होता, केवल उनके गँवारी प्रयोगों पर हँसने का अवसर उन्हें मिल जाता है।

हिन्दी जाननेवालों की इस नागरिक प्रवृत्ति से भाषा की दुरूहता की वृद्धि हो सकती है और उसके शब्द–कोष को तो हानि पहुँचती ही है।

उपसंहार

हिन्दी–गद्य की जिस मिश्रित भाषा की नींव राजा शिवप्रसाद ने डाली थी और जिसकी परिपक्वता पं० प्रताप-नारायण, बाबू बालमुकुन्द गुप्त तथा पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के लेखों में हुई है उसकी विकास–शृंखला कुछ समय

तक टूटी रही, क्योंकि उसके ऊपर संस्कृतता का आक्रमण हुआ। परन्तु पंडित ज्वालादत्त शर्मा तथा प्रेमचन्द आदि कई उर्दू-ज्ञाता लेखकों की गल्पों तथा उपन्यासों के द्वारा फिर से उसी मिश्रित गद्य-शैली का व्यापक प्रचार हुआ। विशेष कर प्रेमचन्द के उपन्यासों की लोकप्रियता तथा उनके गल्पों की सफलता ने हिन्दी-जनता को भी उसी प्रकार की मुहावरेदार हिन्दी-उर्दू-संयुक्त भाषा का पक्ष लेने को बाधित किया। यहाँ तक कि अब यदि कोई अन्य भाषा-भाषी वर्तमान हिन्दी-गद्य का सर्वोत्कृष्ट नमूना माँगे तो उसे लोग प्रेमचन्द अथवा महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की मिश्रित भाषा के लेखों में ही ढूँढ़ेंगे।

इधर कई वर्षों से श्रीरवीन्द्रनाथ टागोर की जब से विख्याति बढ़ी है तबसे हिन्दी-साहित्य पर उनकी कविता का बड़ा प्रभाव पड़ा है। हिन्दी की कविता में प्रति दिन रहस्यवाद की अभिवृद्धि हो रही है और हिन्दी-गद्य पर उनकी पद्यमय भाषा की छाप लगी है। टागोर जिस प्रकार का पद्यमय गद्य लिखते हैं बिल्कुल उसी के तद्रूप हिन्दी में एक गद्य-शैली का प्रचार हुआ है। इस पद्य-मय गद्य के उदाहरण वियोगी हरि की 'तरंगिणी' नामक लेख-संग्रह में तथा श्रीचतुरसेन वैद्य-शास्त्री के फुटकर छोटे छोटे लेखों में मिलते हैं। इस साहित्यिक वर्णसंकरता का नियमन करना कविता और गद्य दोनों ही के वास्तविक स्वरूपों की रक्षा के निमित्त परम आवश्यक है। गद्य

का मुख्य कार्य मनुष्यों को सांसारिक निर्वाह करने में सुविधा देना है और उसको भी कविता के स्वर्गीय वस्त्र पहना कर "अनन्त की ओर" ले जाने की कुचेष्टा करना अवांछनीय है।

अभी हाल में गत असहयोग आन्दोलन के दिनों में एक नये प्रकार की गद्य-शैली का उद्घाटन हुआ था। राजनैतिक असंतोष तथा राष्ट्रीय जागृति के जोश में देश के कोने कोने में असंख्य नेताओं के अवतार हुए। जनता पर अपना प्रभाव जमाने के लिए तथा देश-भक्त कहलाने की उमंग में कुछ नेता नामधारी व्यक्ति जब कभी व्याख्यान झाड़ते थे, तब भाव-दारिद्र्य के बदले में वे सदैव कुछ बहुप्रयुक्त परन्तु जोशीले शब्दों का प्रयोग करते थे जैसे 'हृत्तंत्री', 'राष्ट्रीय संग्राम', 'राष्ट्र की वेदी पर वलिदान'। अतएव, उन लोगों की भाषा में भड़कीलेपन की गरमी तो होती थी परन्तु उसके शब्द-चयन में कोई नवीनता न होती थी। उनकी लेखों की भाषा भी उसी प्रकार साहित्यिक गुणों से रहित होती थो और केवल जोशीले शब्दों की भरमार उनमें होती थी। पर उन नेता-पाशों की इस शैली का असर बड़े बड़े लेखकों पर भी पड़ा है। बहुत से अभ्यस्त लेखकों के राजनैतिक लेख ही नहीं किन्तु साधारण लेख भी वस्तुतः उसी ढर्रे के होने लगे हैं। उस प्रकार की भाषा का छोटा सा नमूना देखिए:—

"परतंत्रता की शृंखला में आबद्ध जाति अपनी परतंत्रताजन्य वेदना का अनुभव तो करती ही रहती है पर उस

वेदना को कार्य-कारिणीवृत्ति में परिणत कर देने का कार्य शासक-मण्डल ही करता है।······अदूरदर्शिता, शुष्क व्यवहार, और प्रतिक्रियात्मक नीति शासकों के लिए काल-सदृश हैं। यही कारण है कि इतिहास के पन्ने खून से रँगे गये!" ('प्रभा')

तथा

"अभी असहयोग की आग बुझी नहीं। अग्निकुण्ड सुलग रहा है। हम यदि एक वर्ष तक सुसंगठन और तपस्या की समिधायें इस यज्ञ-कुण्ड में छोड़ते रहे तो ऐसी ज्वाला उठेगी कि कई अविश्वासियों के मुखमंडल आश्चर्य और आशा से अलंकृत हो उठेंगे।"

एवं, राजनैतिक आन्दोलन से हिन्दी-गद्य-शैली में एक प्रकार का शैथिल्य सा आ गया। पर उससे कुछ कुछ उसके शब्द-कोश की वृद्धि भी हुई है। 'असहयोग', 'सत्याग्रह', 'निष्क्रिय-प्रतिरोध', 'नौकरशाही', 'अनशनव्रत', 'धरना', 'हड़ताल' आदि बहुत से नये शब्दों का भाषा में समावेश हुआ अथवा वे फिर से जीवित हो उठे।

हिन्दी--गद्य का भविष्य

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से आज तक हिन्दी-गद्य में आकाश-पाताल का अन्तर हो गया है। न जाने कितने लेखक पैदा हो गये हैं और उनके द्वारा अनेक प्रकार की शैलियों की सृष्टि हुई है। इसके सिवाय तब से अब तक अनगिनती शब्द

अन्य भाषाओं के हिन्दी ने अपनी ग्राहिका शक्ति के बल से अपने उदर में हज़म कर लिये हैं। अकेली अंग्रेज़ी ने ही सुशिक्षित लेखकों के द्वारा तमाम अपने शब्द और मुहावरे हिन्दी में गढ़वाये हैं। 'स्तम्भ' (Column), 'सापेक्ष' (Relative), और 'निरपेक्ष' (Absolute), 'रहस्यवाद' (Mysticism), 'विश्व-विद्यालय', 'अग्रलेख', 'सम्पत्ति-शास्त्र', 'विनिमय', 'विचार-विन्दु', 'विहंगम दृश्य' (Bird's eye view), ये सब शब्द अंगरेज़ी की देखादेखी गढ़े गये हैं। सच तो यह है कि अंगरेज़ी पढ़े लोग हिन्दी में लेख लिखते समय प्रायः अपने भाव पहले अंगरेज़ी में ही सोच कर एकत्र करते हैं और फिर उनका अनुवाद सा करने के लिए उपयुक्त हिन्दी-शब्द या मुहावरे ढूँढ़ते हैं और आवश्यकतानुसार नई गढ़न्त भी करते हैं। इस रीति से आधुनिक हिन्दी-गद्य पर उत्तरोत्तर अंगरेज़ी का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ रहा है। इस प्रवृत्ति की अनावश्यक वृद्धि से हिन्दी को हानि की भी सम्भावना हो सकती है क्यों कि बात बात में अंगरेज़ी मुहावरों की शरण लेने से तथा उनके सामने बीसों बोलचाल के शब्दों का अनादर करने से हिन्दी-भाषा के शील (Genius) पर आघात पड़ने का भय है। इसके लिए कुछ थोड़े से उदाहरण काफ़ी होंगे:—

पच्चड़ डालना (To drive a wedge between), हवाई क़िले (Castles in the air), ताश के पत्तों का घर (A house of cards.)।

इन अंगरेज़ी ढंग के शाब्दिक आविष्कारों के स्थान में उतने ही अथवा उनसे अधिक भावपूर्ण इन बोलचाल के मुहावरों का प्रयोग कर सकते हैं:—

'भेद-भाव करना' या 'गाँठ डालना'; 'शेख़चिल्ली के क़िले' या 'हवाई घोड़े' या 'मन के लड्डू'; 'बालू की दीवार'।

तात्पर्य यह है कि यदि हिन्दी-गद्य को सजीव बनाना अभिप्रेत है तो हमें उसका रुख़ यथासम्भव बोलचाल की भाषा की ओर करना चाहिए। इसी सम्बन्ध में यह भी विचारणीय है कि अभी तक सब कुछ उन्नत होने पर भी हिन्दी-गद्य की भाषा में 'गागर में सागर भरने' वाली शक्ति का अभाव है। थोड़ी सी बात को संक्षेप रीति से तथा चित्ताकर्षक ढंग से व्यक्त करने में वह असमर्थ सी है। जो लेखक ऐसा करने का प्रयत्न भी करते हैं उनकी भाषा दुरूह हो जाती है। 'कारलाइल' (Carlyle) की यह उक्ति 'Action hangs dissolved in words' यदि हिन्दी में यों अनूदित की जाय कि 'बोली में कर्म घुले रहते हैं' तो उसका यह प्रभाव पढ़ने वालों के चित्त पर कदापि नहीं पड़ सकता। और अगर उसे 'बोली बानी कर्म-निशानी' बनावें तो उसमें चुभनेवाली शक्ति तो पहले से अवश्य अधिक रहेगी, किन्तु कारलाइल के शब्दों का ओज फिर भी इस तुकबन्दी में न आ सकेगा।

यह भविष्यद्वाणी की जा सकती है कि ज्यों ज्यों हिन्दी-गद्य का नये नये विषयों के प्रतिपादन करने में प्रयोग होगा

और समयानुसार उर्दू, अंगरेज़ी, देहाती सभी कहीं से उपयुक्त शब्द तथा मुहावरों का प्रयोग किया जावेगा, त्यों त्यों क्रमश: उसकी सभी क्षमताओं का विकास होगा।

अन्त में, हिन्दी-गद्य के विषय में एक बात और कहनी है। वह यह है कि अभी तक उसके पर्यायवाची शब्दों का सविवरण अध्ययन नहीं हुआ। एकही अर्थ के द्योतक कोश में कई शब्द मिलते हैं। परन्तु, यदि उनमें से प्रत्येक के मौलिक अर्थ का पता लगाया जाय तो उनकी पारस्परिक भिन्नता का अन्दाज़ा लगता है। हिन्दी के अधिकांश लेखक अन्धाधुन्ध शब्दों का प्रयोग करते हैं। इस विचार-शून्यता के कारण गद्य-शैली की वेधक शक्ति का ह्रास होता है।

अस्तु, हिन्दी में आज तक उस अर्थ में गद्य-शैली या स्टाइल (Style) की रचना की रीति का श्रीगणेश नहीं हुआ जिस प्रकार अँगरेज़ी आदि भाषाओं में है। इसी से केवल साहित्यिक उद्देश्य से प्रेरित होकर किसी भी लेखक ने, सिवाय शायद पं० बालकृष्ण भट्ट के, निबन्ध लिखना शुरू नहीं किया।

पर यह देखते हुए कि इस समय तक गद्य काफ़ी विचित्र तथा परिपक्व हो चुका है, आशा की जाती है कि शीघ्र ही हिन्दी में भी बड़े बड़े रीति-प्रचारक पैदा होंगे।

गद्य--शैली का विवेचन

संस्कृत में एक प्रसिद्ध उक्ति है कि "एकश्शब्द: सम्यग्ज्ञात: सुप्रयुक्त: स्वर्गलोकेच कामधुक् भवति" अर्थात् किसी एक शब्द

के भाव का पूर्ण ज्ञान होने से तथा उसको समुचित स्थल पर प्रयोग करने से मनुष्य को मुँहमाँगी अर्थ-सिद्धि प्राप्त हो सकती है, चाहे वह इस लोक में हो चाहे स्वर्ग में हो। इस एक छोटे से वाक्य में किसी संस्कृत के काव्यकार ने सबसे बड़े महत्व-पूर्ण साहित्यिक सिद्धान्त की व्याख्या कर दी है। क्योंकि वास्तव में, किसी बात को व्यक्त करना इतना कठिन नहीं जितना कि उसे उपयुक्त भाषा में व्यक्त करना है। इसके सिवाय भावों की विशदता और भाषा के सौष्टव का सामंजस्य सुरक्षित रखना असंख्य लेखकों में से कुछ विरलों ही की शक्ति के भीतर होता है। इन्हीं कठिनाइयों का महाकवि भारवि ने अपने निम्नलिखित तीन श्लोकों में उल्लेख किया है:—

"विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयानपि द्विषाम्।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती ॥१॥
भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चितां मनोगतं वाचि निवेशयन्तिये।
नयन्ति तेष्वप्युपपन्ननैपुणा गभीरमर्थं कतिचित्प्रकाशताम् ॥२॥
स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसम्पदं विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः।
इति स्थितायां प्रतिपूरुषं रुचौ सुदुर्लभा सर्वमनोरमा गिरः ॥३॥"

भारवि ने इन शब्दों में लेखकों की उस कठिनता की ओर भी इशारा किया है जिसका अनुभव उन्हें उस समय होता है जब वाचकों की रुचि-वैचित्र्य का विचार करते हुए वे किसी विशेष शैली का आश्रय लेते हैं। भाषा की सालंकारिता तथा सामान्यता दोनों में से एक भी समानरूप से सब वाचकों को

पसन्द नहीं होते। किसी को निरी शाब्दिक झंकार से ही आनन्द प्राप्त होता है और उसके विपरीत किसी किसी की मनस्तुष्टि तभी होती है जब कि प्रबन्धों में भावपूर्णता रहती है। ऐसे लोग केवल शब्दाडम्बर से कभी तृप्त नहीं होते।

परन्तु, वास्तव में सच्चा भाषा-सेवी वही है जो वाचकों की रुचि का थोड़ा-बहुत अवश्य ध्यान रखता है, किन्तु जो उनको प्रसन्न करने ही के लिए अपना वैयक्तिक कर्त्तव्य कभी नहीं भूल जाता। मतलब यह है कि जिन लेखकों में लेखनकला की सिद्धहस्तता प्राप्त करने का हौसला होता है और जो अपनी शैली में अपनी ख़ास छाप छोड़ जाने की आकांक्षा रखते हैं वे भाव-प्रदर्शन मात्र की इच्छा से ही अपने ध्येय को आबद्ध नहीं करते। वे अन्य कलाकारों के सदृश अपने मनोवेगों तथा विचारों को जनसाधारण के सम्मुख उपस्थित करने का उद्देश्य तो रखते ही हैं। साथ ही साथ अपनी भाषा को कला की रुखानी से सुचिक्कण बनाने में भी वे निरत रहते हैं।

जिस समय कोई लेखक भाव-व्यंजन मात्र के उद्देश्य से ऊँचा उठता है और शब्द-चयन तथा वाक्य-विन्यास का भी समुचित ध्यान रख कर अपनी लेखनी चलाता है, उसी समय शैली अथवा स्टाइल (Style) का जन्म होता है। अतएव, किसी भाषा की लेखन-प्रणाली विचार-शून्य तथा निरुद्देश्य लेखकों के हाथ से कभी परिमार्जित नहीं बनती। जब पं० बालकृष्ण भट्ट से मननशील लेखकों के चित्त में इस बात की

गड़न हो जाती है कि 'हिन्दी में प्रोज़ (गद्य) है ही नहीं' और इसी लिए समझ बूझ कर उत्कृष्ट गद्य की रचना करनी चाहिए, तभी सुघर शैली का, जिसे स्टाइल कहते हैं, आविर्भाव होता है।

संस्कृत के प्राचीन साहित्य-मर्मज्ञों ने शैली की समस्याओं पर काफ़ी विचार किया है। यद्यपि लगभग ८ वीं शताब्दी तक 'साहित्य' शब्द का प्रयोग उस व्यापक अर्थ में नहीं हुआ जिसमें वह अब होता है, और क्या गद्य, क्या पद्य सभी की गणना 'काव्य' में होती थी, तथापि उन्होंने 'काव्य' की मीमांसा करते हुए, शाब्दिक छान-बीन ख़ूब कर डाली थी। काव्य के विषय में जो जो गुण और दोष उन्होंने दिखाये हैं वे गद्य-शैली पर भी अधिकांश में घटित हो सकते हैं। क्योंकि, कविता और गद्य वस्तुतः एक हैं; दोनों ही 'शब्द-ब्रह्म' की उपासना के साधन हैं और दोनों ही के द्वारा सहृदय पुरुष अपनी ईश्वर-प्रदत्त वाक्शक्ति को सुसज्जित रूप में प्रत्यक्ष प्रकट करते हैं। लय और सुर केवल कविता की ही बपौती नहीं हैं; गद्य में भी वे अदृश्य रूप में उपस्थित रहते हैं और चतुर भाषा-ज्ञानियों की उंगली तुरन्त उन पर पड़ जाती है।

अस्तु, किसी भी काव्यमय अथवा गद्यमय प्रबन्ध की शैली के दो मुख्य भाग होते हैं, भाव तथा भाषा। भावों के अन्तर्गत कई बातें होती हैं। लेखक की विचारशीलता, काल्पनिक क्षमता तथा मनोवेग इन तीनों का परिचय एक साथ उसके

लेखों की रचना से होता है, अर्थात् न तो केवल विचारों की भरमार होती है न काल्पनिक उड़ान ही का आधिक्य रहता है और न केवल आवेशपूर्णता से ही सारे वाक्य सराबोर रहते हैं; उसी की गिनती सर्वोच्च कोटि की शैली में होती है।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि केवल उपर्युक्त भाव-विषयक उपादानों की उपस्थिति से ही कोई साहित्यिक रचना सर्वांग-सम्पन्न कही जा सकती है। यदि उनमें शाब्दिक रूप–सौंदर्य नहीं तो उसकी वह भावपूर्णता ऐसी ही प्रतीत होगी जैसी कि विदुषी परन्तु कुरूपा स्त्री। यह विवाद अनन्तकाल से चला आया है कि कविता में कौन अधिक महत्वपूर्ण होता है, भाषा अथवा प्रतिपाद्य विषय। जगन्नाथ पंडितराज ऐसे कुछ लोग तो कहते हैं कि "रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द: काव्यं"। वामनाचार्य जैसे कुछ लोग शैली को विशिष्ट पदरचना से युक्त रखना चाहते हैं। इसी प्रकार अंगरेज़ी में भी कोलरिज ने 'Best words in their best order' तथा ड्रिंकवाटर ने 'Pregnant and living words' इन उक्तियों में भावपूर्ण और सजीव शब्दावली पर ज़ोर देकर इस बात का निदर्शन किया है कि किसी रचना की मनोहरिता का अधिकतर श्रेय उसकी भाषा को होता है।

विचारों के प्रेमी लोग चाहे जितना अपने पक्ष के समर्थन में चिल्लावें, अधिकांश साहित्यिक निर्णायकों का यही मत है कि गद्य तथा पद्य दोनों की हृदयग्राहिता शब्द–चयन पर ही

निर्भर है। अतएव अब गद्य-शैली का विवेचन करते हुए इस बात की गवेषणा की जावेगी कि भाषा किन किन रूपों में उसके चमत्कार की वृद्धि कर सकती है।

यद्यपि अंगरेज़ी में जो 'स्टाइल' (Style) शब्द है उसका सा तद्रूप भावपूर्ण पर्यायवाची संस्कृत में नहीं है, तथापि प्राचीन संस्कृत आचार्यों ने 'रीति' शब्द का प्रयोग किया है। उस 'रीति' से केवल किसी लेखन-प्रणाली मात्र का बोध होता है उससे इस बात की ध्वनि नहीं निकलती कि जो लेखक जिस रीति विशेष का अनुयायी है उस पर उसकी वैयक्तिक प्रकृति अथवा उसकी मानसिक विशेषताओं की अविकाल प्रतिच्छाया लगी होगी।

हिन्दी-गद्य-विषयक कतिपय आवश्यक सिद्धान्तों की खोज करने के लिए संस्कृत के साहित्यकारों के उन सिद्धान्तों का अवलम्बन करना अनिवार्य है जो वे शैली के सम्बन्ध में निर्द्धारित कर गये हैं। भाषा के विचार से मम्मट ने तीन प्रधान शैलियाँ मानी हैं:— गौड़ी, वैदर्भी और पांचाली। इनमें से गौड़ी और वैदर्भी मुख्यरीति से उल्लेख्य हैं।

विशेष कर 'गौड़ी' रीति ओजपूर्ण शब्दावली से भरी होने से परुष या कर्कश समझी जाती थी। अर्थात् 'ओज' या 'समासबाहुल्य' उसका ख़ास गुण होता था।

इसी प्रकार 'वैदर्भी' शैली दण्डिन की परिभाषा के अनुसार 'माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका' अर्थात् माधुर्य—

रस से युक्त होती है और उसमें कोमल–कान्त–पदावली होती है।

यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की शैलियों का वर्गीकरण व्यापक न था। क्योंकि बात यह है कि जितने लेखक होते हैं उतने ही प्रकार की शैलियाँ भी होती हैं। एक ही लेखक जो सचमुच सजीव–हृदय है उसके भी लेख सदैव एक से नहीं होते। परिवर्तनशीलता का ही दूसरा नाम सजीवता है। अतएव, परिस्थिति अथवा मन–तरंगों की विभिन्नता के अनुसार एक ही पुरुष कई प्रकार की शैलियों में लिख सकता है। यह अवश्य होता है कि किसी लेखक के अनेक लेखों में चाहे जितना भाषा–वैचित्र्य क्यों न हो किन्तु ध्यानपूर्वक देखने से उन सब में कोई न कोई ऐसी उभयनिष्ट बातें अवश्य मिलेंगी जो उसकी वास्तविक वैयक्तिकता की द्योतक होंगी। बस, इसी विचार से प्रत्येक लेखक को शैली के हिसाब से श्रेणीबद्ध किया करते हैं, और स्थूलरूप से मुख्य मुख्य प्रकार की रीतियों के अध्ययन की सुविधा के लिए एकत्र करके उनका वर्गीकरण करना होता है।

अस्तु, शैली के विभाग तथा उनकी विवेचना शब्दों के आधार पर हो सकती है। क्योंकि, प्रत्येक सुपाठ्य निबन्ध की रोचकता उसकी शब्दावली पर ही निर्भर होती है, और इसके प्रतिकूल गम्भीर से गम्भीर भावों से भरा होने पर भी वही नीरस सिद्ध हो सकता है यदि उसकी भाषा में शैथिल्य अथवा

अनुपयुक्तता हो। परन्तु, अकेले शब्द भी, चाहे जितने भावपूर्ण वे क्यों न हों, कहीं कुछ नहीं कर सकते। जब वे एक दूसरे से गूथे जाकर वाक्यों के रूप में रक्खे जाते हैं तभी उनका चमत्कार खुलता है। इसी से प्राचीन आचार्यों ने शब्दों के तीन गुण माने हैं:— शक्ति, गुण और वृत्ति।

शताब्दियों तक बोलचाल में व्यवहृत होते होते जो अर्थपूर्णता प्रत्येक शब्द के शरीर में व्याप्त हो जाती है वही उस शब्द की शक्ति होती है। इस विषय में अधिक विस्तार से आगे विचार किया जावेगा। गुणों से तात्पर्य उस प्रकार के अन्तिम प्रभाव से है जो कई शब्दों के समूह के द्वारा वाचक पर पड़ता है। एवं, ओज, प्रसाद और माधुर्य ये तीन मुख्य गुण हैं जिनकी स्पष्ट व्याख्या नहीं की जा सकती परन्तु उनकी उपस्थिति किसी भी लेख में सरलता से जानी जा सकती है। तात्पर्य यह है कि वे गुण अकेले शब्दों में नहीं मिलते किन्तु वाक्यों में गुप्त रीति से छिपे रहते हैं।

'वृत्ति' भी वाक्यों की एक शक्ति है। शब्द यदि अपने साधारण अर्थ में प्रयुक्त होते हैं तो वह उनकी अभिधावृत्ति होती है। इसी प्रकार यदि एक ही शब्द के कई अर्थों का बोध हो तो वे 'लक्षणावृत्ति' में प्रयुक्त समझे जाते हैं। व्यंजना–शक्ति तब प्रकट होती है जब कोई शब्द अपने असाधारण अर्थ का वाची होता है।

संस्कृत में उत्कृष्ट शैली की परख शब्दों की इस व्यंजना–

शक्ति के आधिक्य से की जाती थी। पाश्चात्य साहित्यज्ञों ने भी विशेष कर 'रोमैंटिक' (Romantic) समालोचकों ने भी उच्चकोटि के साहित्य का एक बड़ा भारी लक्षण यही माना है कि वह व्यक्त बहुत कम बातें करता है, किन्तु व्यंजना-वृत्ति के द्वारा इंगित बहुत कुछ करता है।

वाक्यों और वाक्य समूहों में इन तीनों वृत्तियों का संचार व्यक्तिगत शब्द ही करते हैं। इस लिए शब्द-चयन के ऊपर पहले सविस्तर विचार करना उचित है। तदुपरान्त वाक्यों के भिन्न भिन्न उन गुणों का उल्लेख करना होगा जिनके होने से गद्य-शैली की प्रभावपूर्णता की अभिवृद्धि होती है।

साहित्य भी एक कला मानी गई है। उसकी तुलना प्रायः वास्तु-विद्या तथा संगतराशी से की जाती है। जिस तरह ईंट तथा गारे की मदद से कारीगर लोग सुन्दर से सुन्दर भवन तैयार करते हैं, और संगतराश अपनी रुखानी से सफ़ाई से अनगढ़ पत्थर को तराश करके बड़ी मनोहारी मूर्तियाँ बना कर रख देते हैं; उसी तरह साहित्यकलाकार अपनी स्मृति में गड़े हुए शाब्दिक ख़ज़ाने से रत्नों को खोद खोद कर कोरे कागज़ पर कारिख और लेखनी की सहायता से ऐसे द्रव्य का निर्माण करते हैं जो समय की क्षयकारी शक्ति से भी सुरक्षित रहती है।

परन्तु, साहित्यिक कलाकारों को मूर्तिकारों तथा भवन-निर्मायकों की अपेक्षा कई सुविधायें रहती हैं। एक तो

लेखक के उपकरण अधिक कोमल तथा लचीले होते हैं। यदि मूर्तिकार, जिसे आठों पहर जड़ पत्थर से काम पड़ता है, अपनी प्रतिमाओं में अपनी आदर्श प्रतिमा के सम्पूर्ण भावों का समावेश करना चाहे, तो उसे इस भय से कि कहीं रुखानी अनर्थ न कर बैठे, अपनी आन्तरिक प्रेरणा को सन्तुष्ट करना असम्भव हो जाता है। एवं मूर्तिकार तथा भवन निर्मायकों को इस प्रकार की कठिनाइयों के कारण अपनी कृतियों में अपनी आत्मा का सच्चा प्रतिबिम्ब डालने का कम अवकाश मिलता है।

इसके प्रतिकूल साहित्यकार अपनी शैली में ही प्रकृति-वैचित्र्य, मन की तरंगों, अपने सौन्दर्य-प्रेम, अपने जीवन-विषयक विचारों, नैतिक भावों को तथा सभी मानसिक अवस्थाओं को सरलता से व्यक्त कर सकता है। सिवाय इसके साहित्यिक कलाकार को एक और सुविधा होती है। अर्थात किसी बात को व्यक्त करने में जिस कठिनता का साधारणतः और कलाकारों को अनुभव होता है वह लेखक के विषय में न्यूनातिन्यून यों हो जाती है कि भाषा का अक्षर अक्षर तथा शब्दों की ध्वनि और उनमें गुप्त रीति से छिपी हुई उनकी उत्पत्ति का इतिहास यह सब उसके अभिप्राय की विशदता को बढ़ाने में सहायता करते हैं।

देखिए न कि यदि किसी नाज़ुक ख़्याल को भाषा का जामा पहना कर रखना है तो 'द, ध, न, ग, ज, न, व, म, य, र, ल, व, ह' आदि अक्षरों को पुनरावृत्ति से जिन्हें

संस्कृतवालों ने अल्पप्राण अथवा श्रुति-मधुर माना है, तथा ऐसे मार्दव-पूर्ण शब्दों के प्रयोग से जिनकी ध्वनि से ही सुकुमारता टपकती है लेखक अपना उद्देश्य बड़ी सरलता से सिद्ध कर सकता है। तात्पर्य यह है कि साहित्यिक कला में व्यक्त करने के बहुत से साधन हैं जो मूर्ति-विद्या तथा वास्तु-शास्त्र में हैं ही नहीं।

उदाहरणार्थ कालिदास के 'अजविलाप' से इन्दुमती की सुकुमारता के विषय का यह श्लोक लीजिए:—

इन्दुमती माला के गिरने से मर गई और उसको चिता पर रखने की तैयारी हो रही है। अज-पत्नी की सुकुमारता का विचार करके कहते हैं:—

"नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत् यदंगमर्पितम्।
तदिदं विषहिष्यसे कथं वद वामोरु! चिताधि रोहणम्॥"

अर्थात् 'जीवितावस्था में इन्दुमती अपनी कोमलता के कारण पेड़ों की नई कोपलों के बिछौने पर लेटा करती थी और तब भी उनसे उनके अंग दुखते थे। वे ही अब भला चिता की कठोरता का कैसे सहन कर सकेंगी?'

इसी सौकुमार्य को व्यक्त करने के लिए मूर्तिकार की क्या सामर्थ्य हो सकती है? यही नहीं हृद्गत भावों को ज्यों का त्यों व्यक्त करना शब्दों ही के द्वारा सम्भव होता है और यह क्षेत्र लेखकों का ही है।

साहित्य-कला में भाव-प्रदर्शन अथवा बाह्य जगत् के

पदार्थों का वर्णन करने के लिए जो उपयुक्त शब्दों की खोज की जाती है और उनका एकत्रीकरण किया जाता है उसमें ज्ञानेन्द्रियों तथा स्मृति का बड़ा विचार रखा जाता है। बात यह है कि किसी लेखन-शैली की उत्तमता तथा हृदयग्राहिता तीन गुणों पर निर्भर रहती है:— सुर, अर्थ और सजीवता अथवा चित्र-पूर्णता। एवं, शब्द-चयन करते समय इन तीन बातों का ध्यान प्रत्येक उच्च कोटि के लेखक को रहता है। दूसरी तरह इसी बात को यों कह सकते हैं कि टकसाली गद्य के प्रत्येक शब्द में एक प्रकार की सुमधुर झंकार होती है, उसके अर्थ में विशदता होती है तथा उस अर्थ का बोध ऐसे शब्दों के द्वारा होता है जो उसका चित्र सा खींच कर रख देते हैं। वास्तव में, इसी अर्थ-प्रकाशन के लिए ही इतने बड़े अलंकार-शास्त्र की रचना की गई है। यदि सच पूछिए तो यही कहना पड़ता है कि 'All language is metaphor' अर्थात् भाषामात्र, सीधीसादी तथा सालंकारिक, सभी वस्तुतः रूपकों का पुंज है। क्योंकि प्रत्येक शब्द अर्थ का ख़ज़ाना होता है। जिस समय जिस परिस्थिति में तथा जिस भाव को व्यक्त करने के लिए वह पहले पहल कभी गढ़ा गया होगा, इन सब बातों का इतिहास उसमें भरा होता है। यही कारण है कि किसी भी शब्द का उपयुक्त पर्यायवाची नहीं हो सकता। इसी सिद्धान्त की भित्ति पर सारी शैली-विषयक मीमांसा की इमारत खड़ी है। इसी से शब्दों के प्रयोग से ही लेखकों की

साहित्यिक शक्तियों का पता लग जाता है।

परन्तु यह कहने से कि पर्यायवाचो शब्द होते हो नहीं यह तात्पर्य कदापि नहीं कि एक शब्द के कई अर्थ भिन्न भिन्न मौक़ों पर नहीं हो सकते। यदि एक शब्द एक ही अर्थ का द्योतक होता तो साहित्य–कला का लोप ही न हो गया होता और शैली का सारा आनन्द रहा ही न होता। सच तो यह है कि लेखक की योग्यता का परिचय सबसे अच्छी तरह केवल इसी एक बात से होता है कि उसने अपने शब्दों के बहुत से अर्थों में से किसे उन्नत रख कर उन्हें व्यवहृत किया है। प्रकांड लेखकों की यही एक परख है।

"जिसके कट्टर कलेजे ने कभी पिघलना नहीं जाना उसकी आंखें दुनिया के दुःख पर क्यों पसीजेंगी ?"......

तथा, "कहाँ वह हवा के ठंढे झोंके, कहाँ वह वन की एकान्त भूमि, पर्वत का वह सुरम्य पड़ोस, गंगा की हरहराती धारा, पास में हरित मलयप्रपाद, उसकी गोद में लहराती और मचलाती शाखा !"

इन पंक्तियों में 'कट्टर', 'पिघलना', 'पसीजना' और 'मचलाती' आदि जो शब्द हैं, वे सब अपने साधारण अर्थों में नहीं प्रयुक्त हुए। बल्कि गौण, अलंकारिक रीति से व्यवहृत होने के कारण उनसे भावों की विशदता तथा सजीवता ख़ूब बढ़ गई है।

यदि साधारण प्रकार का कल्पनाशक्तिहीन बाचक इन्हीं

ऊपर के अवतरणों को पढ़ते समय 'कट्टर' के माने 'काटने वाला', 'पिघलना' के माने 'मोम या बर्फ़ के पिघलने' के तथा 'पसीजने' के माने 'पसीना' आने के लगावे तो लेखक का सारा श्रम जो उसने अपनी भाषा को सजीव तथा ललित बनने के लिए शब्द-संचय में किया होगा व्यर्थ जावेगा। अतएव, इससे यह सिद्ध होता है कि लेखक को उसी प्रकार बाचक के मानसिक सहयोग की आवश्यकता होती है जिस प्रकार नाटककार को श्रोताओं की सराहना अभिप्रेत होती है। इसी लिए लेखक को अपने लेखों को ग्राह्य बनाने के उद्देश्य से अपने शब्दों की ध्वनि तथा उनकी काल्पनिक शक्ति का पूरा ध्यान रखना पड़ता है। प्रयत्नत: वह ऐसे शब्द चुनता है जो पढ़ने वाले को अपने पंखों पर बिठा कर बड़ी दूर तक ऊँचे उड़ा ले जाते हैं। एवं, जब किसी गम्भीर लेख में सांसारिक गोरखधंधे से बाचकों के विचलित चित्तों को उठाना हो तो चट उसे 'अनन्त', 'अपार', 'अखंड', आदि शब्दों के द्वारा ब्रह्मांड के बाहर के चक्कर लगवा सकते हैं। मानव-हृदय ऐसा बना हुआ है कि वह शब्दों को सुनते ही उनके साथ चल होता है। इसी तरह 'अद्भुत', 'क्षीण', 'विचित्र', 'रमणीय' आदि बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनकी ध्वनिमात्र में ही उनका समस्त अर्थ भरा हुआ है। उनमें एक प्रकार का वातावरण सा व्याप्त है। विशेषकर 'अद्भुत', 'विचित्र' और 'रमणीय' इन शब्दों को पढ़ते ही एक विशेष परिस्थिति का

चित्र आँखों के सामने खड़ा हो जाता है। और भी बहुत से चित्र के शब्द हैं। तात्पर्य यह है कि अच्छे लेखकों को अपनी शैली को सुचारु बनाने के लिए विषयोपयुक्त ऐसे शब्दों का प्रयोग करना होता है जिनके द्वारा अभीष्ट भाव जीते-जागते रूप में सचित्र व्यक्त हो सकें और वाचकों की काल्पनिक लिप्सा को संतुष्ट कर सकें। इसी सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि क्या कविता और क्या गद्य दोनों की मनोहारिता का पता तभी लगता है ये जब वाचकों की 'स्मृति' तथा 'कल्पना' शक्तियाँ उद्दीप्त हो उठें। उच्च कोटि की कविता में तथा गद्य-लेखों में उन्हीं शक्तियों को उत्तेजित करने के लिए सदैव काफ़ी शाब्दिक मसाला होता है। केवल शुष्क विचारों को नीरस भाषा में प्रकट करना ही जो कवि अथवा गद्य-लेखक अपना एक मात्र ध्येय समझ बैठता है उसकी रचनायें विस्मृति के अंधकार में विलीन हो जाती हैं, अथवा उनको चाव से पढ़ने वालों की संख्या बहुत कम रहती है।

इस बात के प्रमाण में किसी भी भाषा के बड़े से बड़े शैली-आविष्कारकों या 'स्टाइलिस्ट्स' के लेखों का अनुशीलन कीजिए। अंगरेज़ी में लैम्ब (Charles Lamb), स्टीवेन्सन (Stevenson) के गद्य की इतनी प्रशंसा क्यों है? इसी से न कि उनकी शैलियों में 'व्यंजनावृत्ति' अथवा शाब्दिक इशारों के द्वारा बड़ी दूर की बातें सुझाने की प्रबल शक्ति है, और इसके सिवाय उनकी भाषा में काल्पनिकता की अच्छी छटा

है। यही बात हिन्दी में पं० बालकृष्ण भट्ट तथा पं० मन्नन द्विवेदी आदि कई लेखकों में मिलती है। 'चन्द्रोदय' शीर्षक निबन्ध से भट्ट जी की तीव्र कल्पनाशक्ति का अनुमान होता है। वैसे भी, जैसे कि 'आँसू' के रहस्य का उद्घाटन करने में, अन्यत्र उनकी भाषा उस गुण से आप्लावित है। एक छोटा सा उदाहरण लीजिए:—

जवानी की उमंगों की उपमा वे यों देते हैं:—

"फूल जब तक कली के रूप में रहता है. तब तक वह डाल और पत्तों की आड़ में मुँदा हुआ न जाने किस कोने में पड़ा रहता है। पर खिलने के साथ ही अपनी सुवास, सौंदर्य और सोहावनेपन से सबों के नेत्र और मन–मधुप को अपनी ओर खींच लेता है और छिपाये नहीं छिपता।"

भट्ट जी ने जवानी की उपमा फूलों से देकर कल्पना-शक्ति का उत्तम् उदाहरण दिया है। इसके सिवाय भट्ट जी के गद्य में स्मारक शक्ति भी है। जो बात वे कहते हैं उसको बाचकों के हृदयतल पर अंकित करने के अर्थ वे सर्वोच्च लेखकों की भाँति उन्हें प्राचीन काव्यों की प्रसिद्ध विषयोपयुक्त उक्तियों का स्मरण दिलाते हैं। 'आँसू', 'दिल', और 'दिमाग़', 'संसार महानाट्यशाला' तथा 'भालपट्ट' आदि लेख इस गुण के प्रदर्शक हैं।

पं० मन्नन द्विवेदी की गद्य–शैली में भी यह स्मारक शक्ति है। 'मुसलमानी राज्य का इतिहास' जिसमें उनके परिपक्व

गद्य का नमूना है इसके कई स्थलों पर उस स्मारक शक्ति का पूरा परिचय मिलता है। वे बहुधा न जाने कहाँ कहाँ से पद्य-पंक्तियाँ उद्धृत करके पाठकों की स्मृति एक दम से जाग्रत कर देते हैं और प्रस्तुत प्रसंग को बाचकों के मन में बड़े हृदय-ग्राही ढँग से अंकित कर देते हैं।

अभी कह चुके हैं कि भाषा-शैली का घनिष्ट सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियों से है। उसकी शाब्दिक कटुता अथवा मधुरता की परीक्षा सबसे पहले कान करते हैं, वे केवल उनकी खनक से इसे जान जाते हैं। फिर बुद्धि तथा स्मृति उसे परखती हैं। बुद्धि केवल भाषा की सुसंबद्धता तथा सार्थकता का विवेचन करती है, परन्तु स्मृति उसमें अपनी तृप्ति के योग्य द्रव्य ढूँढ़ती है। मानवस्मृति एक नगर के तुल्य है, जिसमें नाना प्रकार के भाव तथा वासनायें सुप्तावस्था में निवास करती हैं। जिस शैली में उन सोती हुई स्मृतियों को जगाने की क्षमता होती है उसी की गणना साहित्यिक दृष्टि से ऊँची होती है।

अस्तु, गद्य-शैली की उत्कृष्टता का प्रथम आवश्यक गुण यह कहा जा सकता है कि उसमें कल्पनाशक्ति तथा स्मृति को उद्दीप्त करने की शक्ति होती है।

प्रसिद्ध यूनानी विद्वान् अरस्तू भी शैली के विषय में विचार करते हुए यह कह गये हैं कि:—

"लेखक अपने भावों को इस ढंग से, ऐसी भाषा में व्यक्त करे कि जिससे बाचक के सामने उसका चित्र सा खिच

जाय।" मतलब यह है कि सिद्धहस्त लेखक लिखते समय केवल विचारों की ही झड़ी नहीं लगाते, वरन् विशदता का ध्यान रख कर हर एक शब्द को सावधानतापूर्वक रखते हैं, और उनके द्वारा अपनी भाषा को सजीव बनाने की कोशिश करते हैं।

वास्तव में शैली को जटिलता तथा दुरूहता से बचाने में उपमाओं तथा रूपकों का कार्य बड़ा महत्वपूर्ण होता है। जिस लेखक में इनके प्रयोग करने की जितनी ही प्रबल सामर्थ्य होती है उसकी भाषा में उसी के हिसाब से अत्यधिक विशदता होती है।

शैली की समस्या पर विचार करते हुए अभी तक हम केवल शब्दों के प्रकरण को लेते रहे हैं। उसके सम्बन्ध में कुछ तथ्यों को लिख कर वाक्यों तथा वाक्यांशों के महत्व की समीक्षा होगी।

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, शब्दों के चुनाव से ही लेखक की प्रकृति का पता लगता है। यदि उस की शैली उन बहुप्रयुक्त शब्दों का ढेर हो, जो वर्षों से बोलचाल तथा लेखों में असंख्य लोगों के द्वारा व्यवहृत होते होते घिस कर भावशून्य से हो जाते हैं, तो समझ लेना चाहिए कि वह आलस्यमय है और उसमें साहित्यिक कीर्ति प्राप्त करने की उमंग नहीं है। इसके प्रतिकूल जिन लेखकों के मस्तिष्क में तीक्ष्णता होती है, जिनके चरित्र में अमानुषिक बल होता है

तथा जिनकी लेखनी में शक्ति होती है वे उन्हीं मृतप्राय शब्दों में ऐसी जादू भर जाते हैं और अपने क्रान्तिकारी विचारों को उनके द्वारा प्रकट करके उनमें ऐसे नवीन जीवन का संचार कर जाते हैं कि वे ही पुराने सिक्कों की तरह फिर से चमकने लगते हैं और साहित्यिक विनिमय के लिए सर्वग्राह्य बन जाते हैं।

भाषा के शैथिल्य को दूर करने के लिए कुछ लेखक एक और युक्ति से काम लिया करते हैं। जिन लेखकों को अपने साहित्य के कलेवर को सँवारने की वास्तविक लगन होती है, और जो केवल कोरे काग़ज़ों को काला करने के ही उद्देश्य से लिखने नहीं बैठते, वे जब पुराने, खोखले शब्दों के बदले में जिनके कारण भाषा निर्जीव हो जाती है, सजीव शब्दों को लाना चाहते हैं तो यह उपाय करते हैं। वे पं० प्रतापनारायण मिश्र की तरह लिखित भाषा की धारा को ग्रामीण बोली के स्रोत से मिला देते हैं और नागरिकता के कृत्रिम वायुमंडल से हटा कर उसे ग्रामीणता की नैसर्गिक परिस्थिति में उठा ले जाते हैं। पं० प्रतापनारायण मिश्र ने अपने लेखों में आदि से अन्त तक ठेठ ग्रामीण शब्दों तथा मुहावरों को भर कर यही बात सोची होगी कि वैसा करने से हिन्दी-गद्य में एक दम से सजीवता आ जावेगी और लल्लूलाल, सदल मिश्र तथा अन्य पुराने और नये लेखकों की अनगढ़ भाषा की जड़ें कट जावेंगी।

इस ग्रामीणता से एक दूसरा अर्थ भी सिद्ध हुआ करता

है। जो लेखक ग्रामीण शब्दावली का अधिक प्रयोग करे तो समझ लेना चाहिए कि वह लोक-प्रिय साहित्य का निर्माण जान-बूझ कर कर रहा है। बाचकों के अधिकांश को अध-कचरा अथवा अल्पशिक्षित समझ कर या यों कहिए कि अपनी शैली को क्लिष्ट संस्कृत-शब्दों से पूर्ण करके उसमें नग-रोचित शिष्टता लाना अपनी प्रकृति के विरुद्ध जान कर उस प्रकार के लेखक ग्रामीणता का आश्रय लेते हैं।

अस्तु, प्रत्येक भाषा के इतिहास में इस प्रकार के आन्दो-लन समय समय पर होते रहे हैं। जब किसी साहित्य की शाब्दिक वेशभूषा जीर्ण-शीर्ण हो जाती है, तब कुछ सहृदय लेखकों के द्वारा उसका नया संस्कार होता है। अंगरेज़ी में १८ वीं शताब्दी के आरम्भ का 'रौमैंटिक रिवाइवल' (Romantic revival) तथा अन्तिम भाग का 'केल्टिक रिवांइवल' (Celtic revival) दोनों का यही उद्देश्य था कि पुरातन साहित्यिक बन्धनों से जो अस्पृहणीय गतिशून्यता आगई थी उसका नियमन हो, और साहित्य की भाषा में सजीवता का संचार हो।

हिन्दी-गद्य के विकास में भी ध्यानपूर्वक खोज करने से इस तरह की तरंगों का पता लगता है। राजा शिवप्रसाद, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि बड़े बड़े लेखकों ने गद्य में सजीवता लाने का प्रयत्न सफलता से किया है। इनके विषय में विस्तार से अन्य

स्थल पर कहा जा चुका है। इस लिए इस प्रसंग में और कुछ न कह कर अब हम शैली की व्याख्या करते हुए वाक्यों तथा वाक्य-समूहों के मुख्य आवश्यक उपादानों का विश्लेषण करेंगे।

इस अध्याय के प्रारम्भ में संकेत किया जा चुका है कि गद्य-शैली का जन्म सोद्देश्य लेखक के ही हाथ से होता है। जब किसी लेखक को इस बात की धुन सी हो जाती है कि वह जो कुछ लिखे उसमें बाचकों को लुभानेवाली तथा उनके चित्तों पर प्रभाव डालनेवाली शक्ति हो तभी उत्तम शैली बनती है। तात्पर्य यह है कि रचना-चातुर्य का ही दूसरा नाम शैली है। उसमें लेखक का कौशल तीन प्रकार से प्रकट होता है:— शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास तथा वाक्य-समूहों का आकार-प्रकार। शब्दों के विषय में काफ़ी कहा जा चुका है। शेष दोनों बातों पर अब विचार करना है।

वाक्यों के तीन प्रधान अंग होते हैं:— उनका आकार, उनकी ध्वनि तथा उनका अर्थ। शैली की उत्तमता के विचार से तीनों समानरूप से महत्वपूर्ण होते हैं, किन्तु व्यक्तिगत लेखक प्राय: किसी एक को प्रधानता दे सकते हैं। कोई केवल अर्थ-विशदता को सब से ऊँचा दर्जा देकर अपने वाक्यों को कभी बढ़ाना पसन्द नहीं करते, और जहाँ विचार-गाम्भीर्य के कारण उन्हें लंबे वाक्य बनाने की ज़रूरत पड़ती है, वहाँ पर भी उन्हें तोड़ देते हैं। और कोई कोई लेखक ध्वनिमात्र की

परवा करते हैं और उसके आगे अर्थ-स्पष्टता तथा आकार-सूक्ष्मता को कुछ नहीं समझते। परन्तु जिस लेख की भाषा में उन तीनों गुणों का सामंजस्य रहता है वही उत्तम शैली समझी जाती है।

वाक्यों को भीमकाय बनाना इस लिए वर्जित है कि उससे प्रसादगुण को धक्का पहुँचता है, जो भाषा का अत्यन्त आवश्यक गुण है। क्योंकि यदि शैली में सुबोधता ही न रही तो और गुण किस काम के ?

उदाहरणार्थ यह लम्बा वाक्य लीजिए:—

"यह भी एक बड़ा भारी लाभ मानना चाहिए कि निःपक्षपाती और सहृदय ग्रंथ-परीक्षकों के कारण बुद्धिमान मनुष्यों को साधारण लोगों के समान मूर्ख एवं दुष्ट धनी लोगों की ख़ुशामद करने को वा राजकीय उच्च-पदाभिषिक्त जनों के सम्मुख हाँजी हाँजी कर लघुता का बोझ उठाने की कोई आवश्यकता नहीं रहती वरन् उनकी बुद्धिमत्ता के अत्यंत अनुकूल, उचित और शोभादायक जो निःस्पृहता और स्वतंत्रता है वह उन्हें स्वेच्छानुकूल प्राप्त होती है।"

किसी की सामर्थ्य नहीं कि वह इस लंबे-चौड़े वाक्य के अर्थ को एक साँस में पढ़ कर समझ ले। इसके लिए बड़ी मानसिक एकाग्रता दरकार है। लेखक यदि चाहता तो सुगमता से उसे कई छोटे छोटे खंडों में विभक्त कर देता और अपने अभिप्राय को विशदता से प्रकट कर देता। इस अवतरण की

रचना में यही बड़ा भारी दोष है कि इसमें प्रसाद-गुण का अभाव है। यह कहा जा सकता है कि विस्तार-भय से तथा अपना मतलब थोड़े में व्यक्त करने के लिए लेखकों को अकसर बड़े बड़े वाक्य बनाने ही पड़ते हैं। इसके सिवाय हिन्दी में अभी तक संक्षेप रीति से किसी बात को कहने की शक्ति भी नहीं आ पाई है। कुछ भी हो प्रकांड लेखक वाक्यों की भीमकायता से बचने का उपाय सोच ही लिया करते हैं, और इस ढंग से वाक्य-निर्माण करते हैं कि उनकी शैली में जहाँ अन्य सब गुण आ जाते हैं, वहीं सूक्ष्मता और सुबोधता भी रहती है और साथ ही साथ वह सब दोषों से मुक्त भी रहती है।

पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने शैली की इस सबसे बड़ी समस्या को हल कर दिया है। अपनी परिपक्व भाषा में लिखे लेखों के द्वारा उन्होंने यह सदा के लिए दिखा दिया है कि विषय चाहे जितना जटिल अथवा गाम्भीर्यपूर्ण क्यों न हो, उसका प्रतिपादन छोटे छोटे अत्यन्त विशद वाक्यों से बड़ी सुन्दरता से किया जा सकता है। जैसा कि अन्यत्र उल्लेख हो चुका है, द्विवेदी जी कभी कभी गम्भीर विषयों पर भी लिखते हैं। उनकी समालोचनायें इसी तरह की हैं। परन्तु उनमें भी उनकी भाषा कुछ स्थानों पर चाहे वह संस्कृतमय क्यों न हो गई हो, किन्तु गूढ़ातिगूढ़ विचारों की समीक्षा करते हुए भी सुबोध है।

"जातीयता का परिरक्षण, जातीयता का परिवर्तन, जातीयता का संस्थापन, जातीयता का संयापन, तथैव उसकी अवनति, वृद्धि, ह्रास, प्रवृत्ति, निवृत्ति सब साहित्य से संलग्न हैं।"

तथा

"जिस जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होती है उसका साहित्य भी ठीक वैसा होता है। जातियों की क्षमता और सजीवता यदि कहीं प्रत्यक्ष देखने को मिल सकती है तो उनके साहित्यरूपी आईने में ही मिल सकती है।" इन दोनों अवतरणों में से किसकी रचना अधिक सीधी-सादी तथा विशद है इसका निर्णय आसानी से हो सकता है। स्पष्टतया, दूसरे में ही जो द्विवेदी जी का लिखा हुआ है अधिक सरलता है।

फिर भी यह नियम व्यापक रीति से नहीं रक्खा जा सकता कि लेखक को सदैव वाक्यों की विस्तार-वृद्धि से बचने का ही एक मात्र उद्देश्य रखना चाहिए। क्योंकि, ऐसे ऐसे ओजपूर्ण अथवा आवेशापेक्ष्य विषय आजाते हैं जिन पर अकेली विशदता का ख़्याल करने से छोटे छोटे वाक्य लिखने से प्रभावक शक्ति में कमी आ जाती है। ऐसे मौक़ों पर जहाँ कि किसी उद्दीपक रस को पैदा करने की ज़रूरत होती है वहाँ बड़े से बड़े लकड़तोड़ शब्दों का ही प्रयोग करना पड़ता है और वाक्यों का आकार जान-बूझ कर बढ़ाना होता है।

कारलाइल को जब इंगलैंड के भावुकताहीन लक्ष्मीदासों पर अपनी क्रोधाग्नि की भभक निकालनी पड़ी तब उन्हें आवश्यकतानुसार भयावह शब्दावली का ही आश्रय लेना पड़ा और लंबे–चौड़े वाक्य बनाने पड़े। महाकवि भूषण को जब यवनों के अत्याचारों के प्रति घृणा प्रकट करने की आवश्यकता पड़ी तो उन्हें वीररस–पूर्ण भाषा का प्रयोग करना पड़ा।

इन्हीं बातों का विचार करके संस्कृत के प्राचीन आचार्यों ने शैली के गुणों में 'माधुर्य', 'सुकुमारता' तथा 'ओज' को भी स्थान देकर शैली–वैचित्र्य के लिए काफ़ी स्वतंत्रता छोड़ दी है।

आकार–प्रकार के सिवाय वाक्यों की ध्वनि का विचार होता है। गद्य तथा पद्य दोनों के भाषा–सौष्टव का पता सबसे पहले उसी समय लग जाता है, जब वह ज़ोर से पढ़ी जाती है। उसकी शाब्दिक कर्कशता अथवा माधुर्य उसी से खुल जाती है।

वास्तव में कविता की बात तो जाने दीजिए, उत्कृष्ट कोटि के गद्य के वाक्यों में वे गुण होने चाहिए जिनसे वे वाचक के चित्त में चुभ सकें।

सबसे आवश्यक तो यह है कि वाक्यांशों के रूप और आकार के साम्य के द्वारा वाक्यों में एक प्रकार का सामंजस्य होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि अभिप्रेत विचार की पुष्टि में उसी के विरोधी विचारों को भी विरोधी शब्दों के द्वारा साथ ही साथ रख सकते हैं और इस तरह से वाक्यों को

समीकृत बना सकते हैं। उदाहरणार्थ यह वाक्य लीजिए:—

"सामाजिक शक्ति या सजीवता, सामाजिक अशक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता तथा असभ्यता का निर्णायक एक मात्र साहित्य है।"

यहाँ पर वाक्यांशों के संगठन—साम्य तथा कुछ शब्दों ('सजीवता', 'निर्जीवता', 'शक्ति' और 'अशक्ति', 'सभ्यता' और 'असभ्यता') की प्रतिपन्नता से वाक्य में एक ख़ास तरह की ध्वनि आई है जो बार बार पढ़ने वाले के कान पर पड़ती है और उससे कही हुई बात ख़ूब जमती है।

वाक्यों में सामंजस्य लाने का एक और ढंग है। किसी विचार—शृंखला को उठा कर उसे ओज के सर्वोच्च शिखर तक चढ़ाने के लिए अकसर बराबर के कई वाक्यांशों का प्रयोग होता है, जिससे बीच में आवेश की मात्रा क्षीण न हो जाय। इस बात को स्पष्ट करने के लिए नीचे एक उदाहरण दिया जाता है:—

"जब संसार में आपकी कोई गिनती नहीं, दुनिया आपको अपने पैर की धूलि मानने को तैयार नहीं है, उस वक़्त ख़ामख़्वाह ईश्वर का नाम लेकर, अपने पूर्वजों की बड़ाई का दम भर कर पंच बराबर होना बेशरमी है।"

इसके अतिरिक्त वाक्यों की समता अथवा सामंजस्य उसके अन्तर्गत वाक्यांशों तथा विशेषण शब्दों की संख्या पर भी निर्भर रहती है। अर्थात् यदि किसी वाक्य के चार टुकड़े हों,

तो उनका विन्यास ऐसा होना चाहिए जिससे कि उच्चारण के अनुसार दो, दो पृथक् पृथक् समझे जा सकें। इसके विपरीत यदि तीन ही वाक्यांश उसमें होंगे, तो दो का तो जोड़ मिल जावेगा और तीसरा अलग लटका रहेगा। जैसे कि "जो बिलकुल अबोध हैं वे लोग तो यही समझते हैं कि छंदोबद्ध पद-रचना ही कविता है। इस पद-रचना का विषय चाहे सो हो।" इस वाक्य के 'अन्तिम' अंश के कारण उसमें विषमता आ गई है और बाचक को गड्ढे में गिरने का सा अनुभव होता है।

अस्तु, वाक्यों को समीकृत बना कर हम केवल भाषा के प्रवाह को निर्बाध बनाते हैं; और प्रवाह शैली का एक आवश्यक गुण है। क्योंकि जिस लेख की भाषा में उसका अभाव रहता है उसे पढ़ने की इच्छा बाचक को नहीं होती। यहीं पर यह कह देना है कि प्रायः भाषा-सरिता के प्रवाह को रोकने में क्लिष्ट तत्सम शब्द बड़े बड़े चट्टानों का काम करते हैं। पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, बाबू श्यामसुन्दरदास, तथा श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी के गद्य की मन्द गति इन्हीं तत्सम शब्दों का परिणाम है।

समता के अतिरिक्त प्रत्येक उत्तम गद्य-खंड में एक प्रकार का चढ़ाव-उतार, या यों कहिए, कि ध्वनि-परिवर्तन भी होता है। मानव हृदय परिवर्तनशील संसार में रहते रहते स्वयं परिवर्तन-प्रिय हो गया है। एवं एक ही रस में लीन रहना

उसे नहीं भाता। एक ही राग रात–दिन अलापने से उसको संतुष्टि नहीं होती। इसी से सहृदय वाचक उसी भाषा को रोचक कहता है जिसमें ऐसे शब्दों की आवृत्ति होती है जिनसे उसकी कर्णेन्द्रिय को वैसी ही ध्वनि–विभिन्नता का अनुभव होता रहता है, जैसा कि संगीत के समय लय और स्वर के चढ़ाव–उतार से होता है।

"संसार के विषवृक्ष में एक प्रीति ही अमृत फल है। संसार सागर के पैरने वालों में थके हुओं को एक प्रीति ही सहारा देने वाली नौका है। संसार की पुष्पवाटिका में यही फूल सज्जनों के सुगंध लेने लायक़ है।" (श्रीनिवासदास)

इस अवतरण में संसार की उपमा विषवृक्ष, सागर तथा पुष्पवाटिका से तथा प्रीति की अमृतफल, नौका तथा फूल से दी गई है। इसी उपमा–विभिन्नता के कारण वाचक के हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ता है और इसके सिवाय उसे भाषा में एकस्वरता का अरुचिकर अनुभव नहीं होता। ऊपर उद्धृत किये हुए अवतरण में विचित्रता अथवा लय–परिवर्तन इस लिए आ गया है कि उसके प्रत्येक वाक्य का भाव तो एक है पर उसको स्पष्ट करने में हर बार नई उपमा का प्रयोग किया गया है। भाषा में ध्वनि–वैचित्र्य को उत्पन्न करने की यह एक युक्ति है। और भी कई प्रकार से अच्छे लेखक उसे लाने का प्रयत्न करते हैं।

सबसे बड़ा ढंग इस ध्वनि–परिवर्तन को लाने का यह है

कि लेखक अपने वाक्यांशों में शब्दों का विन्यास इस प्रकार करता है कि जिससे बाचक स्वयमेव यह समझ जाता है कि कहाँ पर उसे बल देकर पढ़ना चाहिए और कहाँ पर विराम-पूर्वक पढ़ना चाहिए।

अब इस विवेचना का विस्तार अधिक न बढ़ा कर केवल उत्कृष्ट गद्य-शैली के कुछ आवश्यक गुणों को संक्षेप में गिना कर इस अध्याय को समाप्त करना है।

गद्य--शैली की परख

१— शब्द-चयन :-उत्तम लेखक सदैव सहृदय शब्दों का ही प्रयोग करता है, अर्थात् जिन शब्दों में सिर्फ़ झंकार हो किन्तु भावपूर्णता न हो उनसे वह बचता है। शुष्क, निर्जीव शब्दों को वह स्थान नहीं देता।

२— भाव-व्यंजन :-भाव विशदता से प्रकट होने चाहिए और जिस भाषा में वे व्यक्त हों उसमें रोचकता को लाने के लिए आवश्यकतानुसार शैली में ध्वनि-वैचित्र्य होना चाहिए। इसी लिए हास्य तथा व्यंग का समावेश प्रतिपाद्य विषय की उपयुक्तता के हिसाब से होता है। इसके सिवाय वाग्विस्तर और वक्रोक्ति भी शैली के सौष्टव की वृद्धि करते हैं। (सैयद इंशा और प्रतापनारायण मिश्र में यह गुण कूट कूट कर भरा है।)

वही शैली सर्वोत्तम समझी जाती है जिसकी भाषा में लय-वैभिन्य रहता है। अर्थात् जिसमें यदि किसी वाक्य में थोड़े वाक्यांश होते हैं, तो दूसरे में उससे अधिक होते हैं, और

इसी प्रकार प्रत्येक वाक्य में भी वाक्यांशों की संख्या में भी तारतम्य होता है।

३— शैथिल्याभाव :–प्रत्येक उत्तम गद्य-शैली में बड़ा गठीलापन होता है। उसमें वाक्यों में साम्य या सामंजस्य रहता है। उसमें विशेषण–शब्दों की अनावश्यक भरमार नहीं रहती। विशेषण–शब्द, जैसा कि फ़्रांस का विद्वान् वालटेयर कहा करता था, संज्ञा–शब्दों के घोर द्रोही होते हैं। एवं, उनके अत्यधिक प्रयोग से संज्ञाओं के द्वारा व्यक्त किए हुए भावों के गौरव पर बट्टा लगता है क्योंकि पढ़ने वाले का ध्यान विशेषणों में ही रम जाता है।

प्राचीन गद्य

(१६वीं और १७वीं शताब्दी)

गोकुलनाथ

(१६वीं शताब्दी)

——:०:——

[गोकुलनाथ जी के स्फुरणकाल का ठीक ठीक पता लगाना कठिन है। केवल नाभादास के 'भक्तमाल' पर प्रियादास की लिखी हुई वार्तिक टीका से इतना ज्ञात होता है कि वे १६ वीं शताब्दी के मध्यभाग में रहे होंगे। प्रियादास के कथनानुसार श्रीवल्लभाचार्यजी संवत् १५७७ अर्थात् सन् १५२० के लगभग हुए। उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी थे जो गोकुलनाथ जी के पिता थे। उन्हीं के मतानुसार विट्ठलनाथ जी के सात पुत्र थे जिनमें से गोकुलनाथ जी चतुर्थ थे। क्योंकि उन सब भाइयों में पाँच पाँच वर्ष की छोटाई बड़ाई थी, इस लिए इन सब बातों को ध्यान में रखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि शायद गोकुलनाथ जी १५६८ ई० के आसपास रहे होंगे जैसा कि मिश्रबंधुओं ने निश्चय किया है।]

इस के पूर्व कि गोकुलनाथ जी की लिखी हुई दोनों पुस्तकों ('चौरासी तथा दो सौ बावन वैष्णवों की बार्ता') की भाषा पर विचार किया जाय, यह आवश्यक है कि उनके विषय की आलोचना की जावे। 'वार्ता' शब्द ही इस बात का द्योतक

है कि कथाओं के द्वारा लेखक ने प्रधानत: वैष्णव धर्म के पुष्टि-संप्रदाय के सिद्धान्तों की चर्चा फैलाने का प्रयत्न किया है। परन्तु सीधे सीधे वैष्णव-धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन न करके और उसके आचार्यों के महत्व का वर्णन न करके गोकुलनाथ जी ने श्री वल्लभाचार्य जी तथा श्री विट्ठलनाथ जी के असंख्य शिष्यों की कथायें छेड़ी हैं, जिनमें बहुत सी अस्वाभाविक घटनाओं का उल्लेख करके उन साम्प्रदायिक आचार्यों के अपार्थविक स्वरूप को सिद्ध करने की चेष्टा की है। बहुत सी कथायें ऐसी हैं जिनमें जानबूझ कर अन्य मतों की अपेक्षा वैष्णव धर्म की श्रेष्ठता दिखाई गई है, और दूसरे धर्मावलम्बियों पर व्यंग किया गया है। "दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता" में 'इटावे के ब्राह्मण स्त्री-पुरुष की कथा' इस बात का अच्छा उदाहरण है।

कथायें उस समय के सब श्रेणी के लोगों के विषय में हैं। चोर, लुटेरे, गुंडे से लेकर सेठ, साहूकार, राजदरबारी, मंत्री तथा बादशाह तक सभी वल्लभाचार्य जी के चेले बनाये गए हैं। घटनायें भी सभी प्रकार की हैं। पाँच गुंडे चौबों वाली कथा में शरारत का अच्छा नमूना मिलता है। उन लोगों ने बदमाशी से एक खोटा रुपया श्री गुसाईं जी को भेंट किया। परन्तु जब वह रुपया बाज़ार में चल गया, उन लोगों को आश्चर्य हुआ। तभी उन लोगों ने उनकी महिमा समझी कि, हो न हो, उनमें कोई दैवी अंश अवश्य है तभी तो रुपया

चल गया।

यद्यपि गोकुलनाथ जी ने अपनी कथाओं में जीवन के प्रत्येक विभाग से ला ला कर वैष्णवधर्मानुयायियों का वर्णन किया है, और उनके सम्बन्ध में भाँति भाँति के वृत्तान्त लिखे हैं, तथापि उन सब के अन्त में 'श्रीगुसाईं जी' अथवा 'आचार्य जी' के शिष्यत्व से युक्त करके दिखाया है। प्रत्येक वार्ता के अन्त में यही दो प्रकार की पंक्तियाँ मिलती हैं। 'इनकी वार्ता कहाँ तांई लिखियें' और 'सो वे ऐसे कृपापात्र हते'— इन्हीं अन्तिम पंक्तियों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि गोकुलनाथ ने केवल वैष्णवधर्म के प्रचार करने के उद्देश्य से ही दोनों वार्ता–संग्रह बनाये थे।

इस प्राकथन के उपरान्त उनकी भाषा की समीक्षा करना है। गोकुलनाथ का गद्य साधारण रीति से धर्मोपदेश के उपयुक्त है। कथा-वाचकों को इतिहास-पुराणों का पारायण करते समय सभी कोटि के श्रोताओं को समझाने के लिए इस प्रकार की भाषा बड़े काम की हुआ करती है। इसमें जो कुछ भी रस है वह सुनने वालों को ही मिल सकता है। पढ़ने में वह शुष्कता में परिवर्तित हो जाता है। गोकुलनाथ की भाषा के सम्बन्ध में लल्लूलाल का स्मरण हो आना स्वाभाविक सा है। कारण यह है कि लल्लूलाल और गोकुलनाथ दोनों के गद्य एक ही प्रकार के हैं। दोनों को व्रजभाषा–पूर्ण शब्दावली आधुनिक खड़ी बोली के हिन्दी–गद्य से बिल्कुल भिन्न है।

लल्लूलाल और गोकुलनाथ दोनों की भाषा में शाब्दिकता का बड़ा बाहुल्य है। किसी भाव को संक्षेप में स्पष्ट रीति से व्यक्त करना दोनों नहीं जानते। कामकाजी की भाँति सीधे सादे ढंग से किसी बात को कहना उनकी शक्ति के बाहर प्रतीत होता है।

परन्तु इतनी सब बातें जहाँ लल्लूलाल और गोकुलनाथ में मिलती हैं, वहाँ उन दोनों की लेखन-शैली में कई विभिन्नतायें भी हैं। लल्लूलाल की भाषा प्रायः निरी शुद्धता की ओर झुकी है, यहाँ तक कि उसमें व्रजभाषा तथा संस्कृत के प्रयोगों को छोड़ कर फ़ारसी, उर्दू किसी के लिए स्थान नहीं है। इसके सिवाय उन्होंने मुहावरों तक को एकदम तिरस्कृत कर दिया है। गोकुलनाथ ने सब कुछ साम्प्रदायिक विषय में लिखते हुए भी शुद्ध संस्कृत शब्दों के प्रयोग करने की क़सम खाकर उर्दू से मुँह नहीं मोड़ा। प्रत्युत, 'चौरासी तथा दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ताओं' में न जाने कितने फ़ारसी, अरबी के शब्द भरे पड़े हैं, और मुहावरे भी हैं। 'हाकिम', 'ख़त-पत्र', 'हुक्म', 'बन्दीख़ाना', 'असवार', 'खात्री' (खातिर), 'ख़ामी', 'तकरार' ये सब उन भाषाओं के शब्द हैं। उनके मुहावरों के ये उदाहरण विशेष ध्यान देने योग्य हैं:—

"मेरे हृदय में खटकत है", "लरिका संग काम पर्‌यो है", "ताते लरिका को मन राख्यो चहिये", "अकिल मारी गई है", और "अकिल काम नहीं करै है"— इनमें से दूसरा प्रयोग

तो काफ़ी ठेठपन से भरा है। तात्पर्य यह हुआ कि मुहावरों तथा अन्य विदेशी भाषाओं के समयोपयुक्त प्रयोग के कारण गोकुलनाथ जी की भाषा में सचमुच सजीवता आगई है। सम्भव है कि उन्होंने वैष्णव धर्म को सर्वसाधारण के लिए हृदय-ग्राही बनाने के ध्येय से कथायें ऐसी भाषा में लिखना उचित समझा हो कि जिससे उनके समझने में सबको सरलता हो।

गोकुलनाथ के गद्य की भाषा में और भी कई विशेषतायें हैं। केवल व्रजभाषा का ही आश्रय लेकर उन्होंने अपनी 'वार्तायें' नहीं लिखीं, वरन उसके साथ साथ कई एक प्रान्तीय भाषाओं की पुट भी अच्छी तरह मिलाई है। 'वीनती', करवे (करने की जगह), ठिकाणे, कुं (को या के लिए), पड़दा, वहार (बाहर), बोहोत आदि शब्दों के प्रयोग से तो यह प्रतीत होता है कि लेखक के शब्द-भंडार पर शायद गुजराती, मारवाड़ी तथा अन्य बोलियों का अच्छा प्रभाव पड़ा होगा। अनुमान हो सकता है कि धर्म-प्रचारार्थ स्थानान्तर में भ्रमण करते रहने से उनकी भाषा में यह मिश्रण हो गया हो।

कभी कभी तो उनके गद्य में खरे संस्कृत के शब्द मिलते हैं। जैसे 'कुंभनदास और चतुर्भुजदास की वार्त्ता' में चाचा हितहरि-वंश के विषय में कहा गया है कि 'वे ज्ञात के क्षत्री हते'। यहाँ 'ज्ञाति' शब्द सीधा संस्कृत से लिया गया है।

कहीं कहीं तो गोकुलनाथ की रचना में भी उर्दूपन आगया है। 'यह देह दिन चार पाँच में छूटेगी' ऐसे वाक्य-

विन्यास को देख कर तो वही सैयद इंशा का 'सिर झुका कर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनाने वाले के सामने' वाक्य याद आजाता है। 'दिन चार पाँच' यह प्रयोग वास्तव में उर्दू के ढंग का है।

उनके वाक्य–विन्यास के विषय में एक बात और है। उनके वाक्यों में पुनरुक्तिदोष बहुधा होता है। वह इस लिए कि एक ही वाक्य में वे एकही पुरुषवाची संज्ञा–शब्द को बार बार दुहराते हैं और उसके स्थान में सर्वनाम–शब्द का प्रयोग नहीं करते। इस दोष का सबसे अच्छा उदाहरण दिया जाता है :—

"एक समय वैष्णव दस पंद्रह मिल के श्री आचार्य्य जी महाप्रभून को दर्शन को अड़ेल कों जात हुते सो जा गाम में कृष्णदास रहते ता गाम में आये सो कृष्णदास के घर आये तो कृष्णदास तो घर हुते नाहीं और कृष्णदास की स्त्री घर हुती"......

इस प्रकार का शैथिल्य अवश्य गोकुलनाथ की भाषा में मिलता है। परन्तु यह देखते हुए कि वह भाषा १६वीं शताब्दी की है, जब नमूने के तौर पर हिन्दी-गद्य की कोई भी पुस्तक लेखक के सामने न थी, तथा इस बात का भी विचार करते हुए कि गोकुलनाथ ने अपनो वार्त्तायें मुख्यकर कथा के ढँग में लिखो थीं, उस प्रकार का शैथिल्य क्षम्य हो सकता है। यदि लल्लूलाल की भाषा वैसे दोषों से मुक्त है तो कोई बड़े

आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि उनके समय तक साहित्यिक परिस्थिति में आकाश-पाताल का अन्तर आ गया था।

गोकुलनाथ के गद्य में फिर भी कई उत्तम गुण हैं। एक तो, उनकी भाषा में स्वाभाविकता है, जो वर्णनों के अवसरों पर प्रकट होती है। किसी घटना के उपयुक्त जब वे रूपक बाँधते हैं तब लल्लूलाल की भांति शाब्दिक आडम्बर कभी भी नहीं दिखाते। केवल साधारण दृष्टान्त देकर वे रह जाते हैं। उदाहरण के लिए यह देखिए :—

"दर्शन करत मात्र जैमल को क्रोध उतर गयो और बुद्धि निर्मल होय गई जैसे सूर्य उदय भये तें कमल प्रफुल्लित होय है तैसे जैमल जी को हृदयकमल प्रफुल्लित होयगो।"

दूसरी ओर लल्लूलाल के 'ऊषावर्णन' में दी हुई उपमाओं को देखिए, तो पता लग जावेगा कि उनकी भाषा में कितना बनावटीपन होता था।

इसके अतिरिक्त गोकुलनाथ के गद्य में माधुर्य ख़ूब है। यद्यपि उसमें कहीं कहीं न जाने किस भाषा के ठेठ शब्द भरे पड़े हैं, जिनके अर्थ आसानी से समझ में नहीं आ सकते, तब भी उनकी पदावली कोमलकान्त है, उसकी ध्वनि मधुर है तथा उसमें एक प्रकार का रसयुक्त मार्दव है।

उपसंहार में यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि गोकुल-नाथ की गद्य-शैली में व्यक्तित्व की छाप है, जो प्रत्येक प्रकार के उत्कृष्ट गद्य में होती है। उस में वह निर्लेपता अथवा वह

अकर्तृकत्व (impersonality) नहीं है जो गद्य में लिखी हुई प्राचीन टीकाओं में मिलता है।

जो कुछ न्यूनतायें उनके गद्य में हैं वे इसी लिए हैं कि उन्होंने साधारण प्रबन्ध-लेखक की हैसियत से 'वार्तायें' नहीं लिखी थीं, वरन् एक गम्भीर वैष्णव होकर एक निश्चित धार्मिक उद्देश्य से लिखा था।

१

श्री गुसाईं जी के सेवक एक खंडन ब्राह्मण की वार्ता

सो श्रीनन्द गाम में रहेतो हतो। सो खंडन ब्राह्मण शास्त्र पढ़्यो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबको खंडन करतो ऐसो वाको नेम हतो। याहीं तें सब लोगन ने वाको नाम खंडन पाड़्यो हतो। सो एक दिन श्री महाप्रभु जी के सेवक वैष्णवन की मंडली में आयो सो खंडन करन लाग्यो। वैष्णवन ने कही जो तेरो शास्त्रार्थ करनो होवै तो पंडितन के पास जा हमारी मंडली में तेरे आयबे को काम नहीं। इहां खंडन संडन नहीं है। भगवद्वार्ता को काम है। भगवद्यश सुननो होवै तो इहां आवो। तोहु वाने मानी नहीं नित्य आयके खंडन करे। ऐसे वाकी प्रकृती हती। फेर एक दिन वैष्णवन को चित्त बहुत उदास भयो। जब वो खंडन ब्राह्मण घर में सूतो हतो तब चार जने वाकुं मुग्दर लैके मारन लगे। जब वानें कही तुम मोकुं क्यों मारो हो। तब चार जनेन ने कही

तुम भगवद्धर्म खंडन करो हो। और भगवद्धर्म सर्वोपर है। सर्व धर्मन ते श्रेष्ट है। केवल भगवत्परायण हैं। भगवदर्पण कर्‌यो हैं। तन मन धन जिननें विनको कोई अर्थ बाकी रह्यो नहीं है। सर्व सिद्ध भये हैं। ऐसे धर्मन कु खंडन करें हैं। जासु तोकु मार देवें हैं। ये सुनके खंडन ब्राह्मण विन चार जनेन के प वन पड़्यो। और दूसरे दिन भगवत-मंडली में आयके वैष्णवन के पांवन पड़्यो और वैष्णवन सु वीनती करी के मोकु कृपाकरके वैष्णव करौ और वैष्णवनकु संग लैके श्रीगोकुल आय के श्रीगुसांई जी को सेवक भयो। सो वे खंडन ब्राह्मण श्रीगुसांईजी की कृपातें मंडन भयो।

["दोसौ बावन वैष्णवों की बार्ता से"]

२

नंद्‌दास जी की वार्ता

नंददास जी तुलसीदास के छोटे भाई हते। सो विनकूं नाच तमासा देखबे की तथा गान सुनबे को शोक बहुत हतो। सो वा देश मेंसूं एक संग द्वारका जात हतो। जब विननें तुलसीदास सूं पूंछी तब तुलसीदासजी रामचंद्रजी के अनन्य भक्त हते। जासूं विनने द्वारका जायवेकी नाहीं कही। सो मथुरा सूधे गये। मथुरा में वा संगकूं बहुत दिन लगे सो नंददास संगकूं छोड़कर चल दीने।........

सो नंददास जी के बड़े भाई तुलसीदास जी काशी में रहते हुते। सो विननें सुन्यो नंददास जी श्रीगुसांई जी के सेवक भये हैं। जब तुलसी-

दास जी के मन में ये आई के नंददास जी ने पतिव्रता धर्म छोड़ दियो है आपने तो श्री रामचंद्र जी पती हुते । सो तुलसीदास जी ने ये बिचार के नंददास जी कु पत्र लिख्यो । जो तुम पतिव्रता धर्म छोड़ के क्यों तुमने कृष्ण उपासना करी । ये पत्र जब नंददास जी कु पहुंचो तब नंद-दास जी ने बांच के ये उत्तर लिख्यो । जो श्री रामचंद्र जी तो एक पत्नीव्रत में हैं सो दूसरी पत्नीनकु कैसे सँभार सकेंगे एक पत्नी हुं बरोबर न सँभार सके । सो रावण हर लेगयो और श्रीकृष्ण तो अनन्त अबलान के स्वामी हैं और जिनकी पत्नी भये पीछे कोई प्रकार को भय रहे नहीं है । ये पत्र जब नंददास जी को लिख्यो तब तुलसीदास कु मिल्यो तब तुलसीदासजी ने बांच के बिचार कियो के नंददास जी को मन वहां लग गयो है । सो वे अब आवेंगे नहीं । सो इनकी टेक हमसों अधिकी है । हम तो अयुध्या छोड़ के काशी में रहे हैं । और नंददास जी तो ब्रज छोड़ के कहीं जाय नहीं है ।

सो एक दिन नंददास जी के मन में ऐसी आई । जो जैसे तुलसी-दास जी ने रामायण भाषा करी है । सो हमहूं श्रीमद्भागवत भाषा करें । ये बात ब्राह्मण लोगन ने सुनी तब सब ब्राह्मण मिलकें श्री गुसांई जी के पास गये । सो ब्राह्मणों ने बिनती करी । जो श्रीमद्भागवत भाषा होयगी तो हमारी आजीवका जाती रहेगी । तब श्री गुसांई जी ने नंददासजी सुं आग्या करो । जो तुम श्रीमद्भागवत भाषा मत करो और ब्राह्मणन के क्लेश में मत परो । ब्रह्म-क्लेश आछो नहीं है और कीर्तन करके ब्रज-लीला गाओ ।

सो नंददास जी के बड़े भाई तुलसीदास हते । सो काशी जी सें

नंददास जी कूं मिलबे के लिए व्रज में आये। सो मथुरा में आयके श्री जमुना जी के दर्शन करे। पाछे नंददास जी की खबर काढ़ कें श्रीगिरिराज जी गये वहां तुलसीदास जी नंददास जी कुं मिले। जब तुलसीदास जी ने नंददास जी कुं कही के तुम हमारे संग चलो। गाम रुचे तो अयोध्या में रहो। पुरी रुचे तो काशी में रहो। पर्वत रुचे तो चित्रकूट में रहो। वन रुचे तो दंडकारण्य में रहो। ऐसे बड़े बड़े धाम श्री रामचंद्र जी ने पवित्र करे हैं। तब नंददास जी ने उत्तर देवे कुं ये पद गायौ :—

"जो गिरि रुचे तो बसो गोवर्धन गाम रुचे तो बसो नंदगाम।
नगर रुचे तो बसो श्री मधुपुरी सोभा सागर अति अभिराम॥
सरिता रुचे तो बसो श्री जमुनातट सकल मनोरथ पूरण काम।
नंददास कानन रुचे तो बसो भूमि वृन्दाबन धाम॥"

ये पद सुनके तुलसीदास चुप रहे। जब नंददास जी श्रीनाथ जी के दर्शन करिबे कूं गये। तब तुलसीदासहूं उनके पीछें पीछें गये। जब श्री गोबर्धननाथ जी के दर्शन करे तब तुलसीदास जी ने माथो नमायो नहीं। तब नंददास जी जान गये। जो ये श्रीरामचंद्र जी बिना और दूसरे कूं नहीं नमे हैं। जब श्री नंददास जी ने मन में विचार कीनों यहां और श्रीगोकुल में इनकूं श्रीरामचंद्र जी के दर्शन कराऊं। तब ये श्रीकृष्ण के प्रभाव को जानेंगे। जब नंददास जी ने श्री गोबर्धननाथ जी सो विनती करी।

दोहा :—"आज की सोभा कहा कहूं। भले बिराजत नाथ।
तुलसी-मस्तक तब नवे धनुष-बाण लेओ हाथ॥"

जब श्रीगोबर्धननाथ जी ने श्रीरामचंद्र जी को रूप धरके तुलसी-

दास जी कुं दर्शन दिये। तब तुलसीदास जी ने श्रीगोबर्धननाथ जी कुं साष्टांग दंडवत करी।

["दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता से"]

महाराजा जसवन्तसिंह

(सन् १६२६—१६७८)

—:०:—

महाराजा जसवन्तसिंह जी मारवाड़ के राज–वंश के एक रत्न थे। इन्होंने अपने जीवन–काल में वीर योद्धा राजनीतिज्ञ तथा साहित्यसेवी सभी रूपों में अच्छी ख्याति कमाई थी। मुग़ल-सम्राट् शाहजहां के तो वे एक परम विश्वासपात्र सलाहकार थे। इन पर बादशाह की बराबर कृपा–दृष्टि रही और कई बार उन्हें वह लड़ाइयों में भी लेगया था। जब औरंगज़ेब ने अपने भाइयों की मार–काट मचा कर राज्य छीना तब उसे जसवन्तसिंह जी की ओर से बहुत समय तक भय बना रहा। इसी से उन्हें अपने साथ बनाये रखने का उसने प्रयत्न भी किया। अन्त में उनके राजपूती पराक्रम तथा राजनीतिक कुशलता से भयभीत होकर उसने उन्हें काबुल की लड़ाई में बहाने से भिजवा दिया। थोड़े ही दिनों बाद उनका स्वर्गवास भी हो गया। जसवन्तसिंह जी अपने समय के राजाओं में शायद एक बड़े साहित्यज्ञ थे। यों तो कई छोटी छोटी पुस्तकें उन्होंने लिखी हैं। पर उनका नाम रीतिविषयक 'भाषाभूषण' नामक रचना से अधिक प्रसिद्ध है। वेदान्त सम्बन्धी उनकी कई रच-

नायें हाल में जोधपुर राज्य की ओर से 'वेदान्तपंचक' नाम से प्रकाशित हुई है। इसमें कई स्थलों पर उन्होंने गद्य का भी प्रयोग किया है।

उनके गद्य की विशेषतायें

यों तो उनसे काफ़ी पहले के हिन्दी-गद्य के नमूने यत्र-तत्र मिले हैं, जैसे गंगकवि, जटमल आदि की त्रुटित रचनायें। पर, गोकुलनाथ के बाद 'किशोरदास', 'जानकीप्रसाद' तथा पीछे सन् १८१८ की लिखी हुई मुंशी सदासुख की 'सुखसागर' नाम की रचना के मध्यवर्ती गद्य का स्वरूप अभी तक नहीं मिला। अतएव जसवन्तसिंह जी के ग्रन्थों में प्राप्त गद्यांश बड़े महत्व के हैं।

उनका गद्य ठीक वैसा ही है जैसा कि पुराने ग्रन्थों पर लिखी हुई टीकाओं का होता है। उसमें आजकल की परिस्कृत हिन्दी का वही प्रारम्भिक स्वरूप मिलता है जिसमें ब्रज-भाषा के शब्द ही बहुतायत से प्रयोग होते थे। 'अरु', 'तऊ', 'जु', 'कछु', 'देखि' आदि शब्द इस बात के प्रमाण हैं। यही नहीं वाक्य-रचना भी ब्रजभाषामय वार्तिक गद्य की सी है। एक ही बात कई वार दुहराई गई है जिससे उसका भाव स्पष्टतया बाचक को प्रकट हो जाय।

उदाहरण लीजिये :—

"ज्यों बंध्यौ जल अरु चलतो जल, बंध्यौ है तऊ जल है, और जो चल्यौ है तऊ जल है।"

इस प्रकार की पुनरुक्ति अथवा वाग्विस्तर प्राय: कथा-वार्ता करते समय पंडित लोग काम में लाया करते हैं, क्यों कि उनकी कथा सुनने वालों में सभी श्रेणी की जनता इकट्ठा होती है और उन्हें भावार्थ समझाने के लिए दृष्टान्त देने की, एक ही बात को भिन्न भिन्न ढँगों से कहने तथा अन्य ऐसी युक्तियों का प्रयोग करना पड़ता है। यही बात प्राचीनतर गद्य-लेखकों को ध्यान में रखनी पड़ती थी। उनके समय में आजकल की सी गठीली, मुहावरेदार तथा लचीली भाषा तो बनी नहीं थी जिसे वे साहित्यिक उपयोग में लाते। इसी से तत्कालीन बोल–चाल की अनगढ़ भाषा को ही तोड़–मरोड़ कर काम निकालना अपरिहार्य सा हो जाता था।

जसवन्तसिंह जी को वेदान्त के दुरूह सिद्धान्त अपने ग्रन्थ में प्रतिपादित करने थे। अतएव, उन्हें वही कथा-वार्ता वाली पंडिताऊ भाषा का ही आश्रय लेना पड़ा। यही नहीं उन्होंने अपनी भाषा की परिमित व्यंजना-शक्ति का समुचित प्रतिकार करने के लिए यथास्थल अपने विचारों की विशदता बढ़ाने को उपयुक्त उदाहरणों का प्रयोग किया है। जैसे, ज्ञान और बोध का पारस्परिक भेद दिखलाते हुए वे कहते हैं :—
"ग्यान कारण है अरु बोध कारज है। क्यौं ज्यौं बंध्यौ जल अरु चलतो जल। बंध्यौ है तऊ जल है, और जो चल्यो है तऊ जल है।"......अर्थात् 'बोध' अथवा 'बुद्धि' और ज्ञान में वही भेद है जो स्थिर जल में तथा बहते जल में है।

सब बातों को देखते हुए जसवन्तसिंह जी के गद्य की भाषा काफ़ी समीचीन तथा व्यंजक है। उसमें उस समय को देखते हुए अच्छी चिक्कणता तथा भावपूर्णता है। इसके सिवाय उसमें वह बर्बरता तथा अपांगता नहीं है जो किशोरदास के गद्य में है। उसमें प्रसादगुण भी पूरा है। तभी तो उस भाषा के द्वारा वेदान्त-विषयक विचारों के प्रतिपादन का काम ऐसी अच्छी तरह से हुआ है।

एक बात आश्चर्यजनक है कि राजस्थान में रहते हुए भी जसवन्तसिंह जी ने राजस्थानी शब्दों का बिलकुल ही प्रयोग नहीं किया। इसका कारण एक यह भी हो सकता है कि वे बहुत समय तक मुग़ल-दरबार में रहे, मुग़लों के घनिष्ट संपर्क में रहे तथा सुदूर प्रान्तों में समय समय पर राजकीय कार्यवश आते जाते रहे, जिससे उनकी भाषा संमिश्रित होगई होगी।

वेदान्त-विषयक वार्ता

......बुधि है सो बोध है, तब देखि कै बोध में अरु ग्यान मैं कहा भेद है, क्यौंकि ग्यान कारण है अरु बोध कारज है, क्यौं ज्यौं बंध्यौ जल अरु चलतो जल, बंध्यौ है तऊ जल है, और जो चल्यौ है तऊ जल है, और तैसै जो चल्यौ ही ग्यांन अरु बोध जांनि और अबिद्या जु है सु इनतैं भिन्न है, अविद्या बिषै मैं है, देखि ज्यों कहै हैं कि बादर चंद्रमा कै आडैं आयौ सु कछु चंद्रमा कै आडैं नहीं दिष्ट कैं आडे आवै हैं तैसे ही जु अविद्या कछु बोध मैं नाहीं मीली, अविद्या विषै मैं है।........

किशोरदास

(१७वीं शताब्दी)

—:o:—

[सन् १९१७ के लगभग स्वर्गीय डाक्टर वेनिस को कहीं से १७वीं शताब्दी की लिखी हुई एक 'श्रृंगारशतक' की टीका उपलब्ध हुई थी। उसमें किसी किशोरदास का नाम लिखा हुआ था। अनुमान यही किया गया कि उस नाम का कोई प्रतिलिपिकार रहा होगा। अन्यथा इस टीका की पांडुलिपि में अनेक भद्दी भद्दी अशुद्धियाँ मूल लेखक के हाथ से रह जाना कदापि सम्भव न था। उसी से ५१वें 'श्लोक' की टीका का थोड़ा सा अवतरण नीचे दिया जावेगा।]

१७वीं शताब्दी में लिखी हुई उपर्युक्त श्रृंगारशतक की टीका पर ड्यूहर्स्ट साहब ने यू० पी० हिस्टोरिकल जर्नल (U. P. Historical Journal) में एक लेख लिखा था। उसमें उन्होंने उस टीका की भाषा का अच्छा विश्लेषण किया है। अशुद्धियाँ तो बहुत सी हैं ही, पर वैसे भी अनेक प्रयोग चिन्त्य हैं। जैसे 'ई' के स्थान में 'इी', 'ए ऐ' के लिए 'अे अै' तो सर्वथा देख पड़ते हैं। 'ख' के स्थान में 'ष' तो पुरानी हस्त-लिखित पुस्तकों में लगभग सभी में मिलता है।

यह तो हुई स्पेलिंग की बात। टीकाकार के शब्दभांडार में शब्द तो बहुत हैं पर उनमें से कुछ तो अब अप्रचलित हैं और कुछ प्रान्तीय हैं, जिनका अर्थ खोजना आसान काम नहीं है। 'ओझल' के बदले 'वोझिल' का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार 'अरुचिकर' के अर्थ में 'गयार' शब्द का बहुत उपयोग हुआ है।

एक बात उल्लेख्य है कि जितने शब्द किशोरदास ने अपनी टीका में रक्खे हैं वे अधिकांश में या तो शुद्ध हिन्दी से या संस्कृत से निकले हैं। केवल कुछ शब्द जैसे 'बारीक', 'सिल-सिले' आदि फ़ारसी भाषा के हैं।

किशोरदास की गद्य-शैली उसी ढंग की है जैसी की अन्य बहुत सी प्राचीन टीकाकारों की है। वाक्य-रचना बड़ी शिथिल तथा असावधानतापूर्ण है, भाषा बिलकुल नीरस है। सिवाय इसके कि प्रस्तुत 'शृंगारशतक' की टीका के पता लग जाने से हिन्दी-गद्य का एक और प्राचीन अनगढ़ नमूना मिल गया, और कोई साहित्यिक लाभ इसके प्राप्त होने से नहीं हुआ। प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों के अजायबघर में रखने के अतिरिक्त उसका कोई भी उपयोग नहीं।

टीका *

अर्थ। 'अंगना' जु है स्त्री सु। प्रेम के अति आवेश करि। जु कार्यु करन चाहित है ता कार्य विषे। ब्रह्माऊ। 'प्रत्यूहं आधातु'। अन्त

राउ कीवे कहुं । 'कातर' । काइरु है । काइरु कहावै असमर्थ । जु कछु स्त्री कर्यो चाहैं सु अवस्य करहि । ता कौ अन्तराउ ब्रह्मा पहं न कर्यौ जाइ और की कितीक बात । *जैसे एक कथा भागवत विषे है । जु एक समय कस्यपु संध्या समय विषे संध्या कै ईश्वर कौ सुमिरनु करत बैठे हुते । तब इतने बीच कस्यप की स्त्री दिति कस्यप के आंगे ठाढ़ी भई ठाढ़ें ह्वै करि कहन लगी कि अहो प्राणेस्वर कस्यप । देषहु अदितिहि आदि दै जितीक मेरी सब सपत्नी हैं सु तिनि सपत्नीन के पुत्रनि कौ सुषु देषत मेरे परमु संतापु होतु है । तब यह सुनि कस्यप यह विचारी । कि स्त्री की संगति अर्थु, धर्मु, काम, मोछ होतु है । अरु स्त्री की संगति ग्रहस्थु और तिनिहू आश्रमनि की पालना करतु है । अरु अपुन संसार समुद्र के पार होतु है । सु स्त्री अैसी बड़ी है । अरु स्त्री पुरुष की अर्धांगु है । अरु स्त्री अैसी है जाकै बल गृहस्थु बड़े रिपु इंद्रयनि डगावती हैं जैसे गढ़पती गढ़ के बेल शत्रुनि जीतत है । ताते सुनहु दिति जौलौं हमारी सम्पूर्ण आउ बीतिहै तौलौं हम तुमहि उरन न ह्वै सकिहैं ।

---

* यह इस श्लोक की टीका है :—

> "उन्मत्तप्रेमसंरंभादालभन्ते यदंगनाः ।
> तत्र प्रत्यूहमाधातुं ब्रह्मापि खलु कातरहः ॥"

देवीचन्द

——:०:——

[जोधपुर क़िले के हस्त-लिखित पुस्तकों के संग्रह से 'हितोपदेश-ग्रन्थ-महाप्रबोधिनी कथा' नाम की एक प्रति मिली है। इसमें मेदनीपुर के रहने वाले किसी देवीचन्द का नाम दिया हुआ है। उन्होंने यह हितोपदेश की कथा शाकंभरी अर्थात् साँभर नगर में संवत् १८४४ तदनुसार सन् १७८७ में लिखी थी। कह नहीं सकते कि वे मूल लेखक थे अथवा प्रतिलिपिकार।]

उनकी भाषा

देवीचन्द एक ओर गोकुलनाथ के और दूसरी ओर इंशाअल्ला ख़ां, मलिक अम्मन, कृपाराम, मुंशी सदासुख, सदल मिश्र तथा लल्लूलाल के बीच में सन्धि बनाते हैं। गोकुलनाथ के पीछे की तथा १९वीं शताब्दी से पहले की कोई भी उल्लेख्य गद्य-रचना अभी तक उपलब्ध न हुई थी। यह कमी 'हितोपदेश-वार्ता' से पूरी होती है। इस बीच में गद्य-साहित्य की विकास-धारा की क्या प्रगति थी इसका निर्णय नहीं हो सकता। देवीचन्द की प्रस्तुत रचना से यह ज्ञात होता है कि १७वीं और १९वीं शताब्दियों के बीच के

समय में किन्हीं भी कारणों से गद्य-शैली का विशेष परिमार्जन तथा विकास न हो पाया था। बात यह है कि देवीचन्द की भाषा क़रीब क़रीब जटमल आदि की सी ही है। उसकी शब्दावली तथा वाक्य-रचना दोनों में व्रजभाषा का व्यापक प्रभाव देख पड़ता है। गोकुलनाथ की भाषा से उसमें इतना अन्तर अवश्य है कि इसमें उस प्रकार का शैथिल्य नहीं है जो 'चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ताओं' में अधिकता से मिलता है। गोकुलनाथ एक तो पुनरुक्ति दोष बहुत करते हैं। एक ही वाक्य में एक ही पुरुषवाची संज्ञा शब्द को वे बार बार प्रयुक्त करते हैं और उसके स्थान में सर्व-नाम नहीं लिखते। देवीचन्द इस दोष से मुक्त हैं। इसके सिवाय उनकी भाषा में अच्छा प्रवाह है और वह काफ़ी सुसम्बद्ध है। आगे उनकी 'हितोपदेश-कथा' से जो अवतरण दिया जावेगा उसे पढ़ने पर उस प्रकार की रुकावट अथवा लय-त्रुटि का अनुभव नहीं होता जो गोकुलनाथ में होता है। तात्पर्य यह है कि देवीचन्द के वाक्य भली भाँति एक दूसरे से पिरोये जान पड़ते हैं। यह बात दूसरी है कि उनकी भाषा से उनकी ख़ुद की उद्भावना-शक्ति का विशेष परिचय नहीं मिलता जो उच्च कोटि के लेखकों में पाई जाती है।

उनकी वर्णन-शक्ति भी बड़े ऊंचे दर्जे की नहीं कही जा सकती। कहीं कहीं तो वर्णन करते करते वे एकदम रुक से जाते हैं मानो चलते चलते कोई एकाएक स्तम्भित होकर खड़ा

हो जाय। इसका उदाहरण दिये हुए अवतरण के अन्तिम वाक्य में मिलेगा ।

अभी कह चुके हैं कि देवीचन्द का गद्य काफ़ी सुसंगठित है। पर यह बात सर्वांश में ठीक नहीं है, क्योंकि उनके वाक्य अत्यंत छोटे छोटे हैं जिसका अर्थ यह होता है कि लेखक को भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं है। इसी से वह ऐसे वाक्य लिखता है।

भाषा का नमूना

एक नंदक नाम राजा ताकै चानायक नाम मंत्री। सो राज काज को अधिकारी। तहां एक दिन राजा मंत्री सहित सीकार गयो। तहां राजा काहू जीव पिछै मंत्री सहित दौरे। सेना सों बिछुर परें तब तहां दुपहर के समैं त्रषा लागी। तब एक व्रक्ष के झंझ में उतरे। तहां पानी की भरी बावरी देखो। तब राजा घोड़े तें उतर पानी पीवन गयो। जल पीयो। तहां एक पाहन मैं लिख्यौ देखौ। जो राजा अरु मंत्री दोऊ तेज बराबर होय तो लिछमी दोयन मैं एक को छोडै। तब राजा यह लिख्यो पढ़ वाके अच्छर ऊपर गार लपेटी। आप बाहिर आयो। तब मंत्री पानी पीवन गयो। आगे देखै तो पांहनु के गार लागी है। यें नई सी लागी है। तब पानी धोय अरु लिखत बांच्यो। तब पानी धोय अरु लिखत बांच्यौ। तब जांन्यौ राजा मोसों द्रोह आचर्यो है। और राजा खेद कर एकान्त सूतो है। तब मंत्री राजा को मार्यौ।

कृपाराम

——:o:——

[जोधपुर के क़िले में जो हस्तलिखित पुस्तकों का संग्रह है उसमें वार्ताओं की कई पोथियाँ हैं। उन्हीं में से 'पारसभाग' नामक एक पोथी है। लेखक के कहने के अनुसार वह 'कीमिया शहादत' नाम के एक फ़ारसी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद है। इसका रचनाकाल संवत् १८७४ अथवा सन् १८१७ है। लेखक का नाम अन्त में यों दिया है। 'सेवापंथी साधू भाई अडन जी का शिष्य कृपाराम।' इस बात का निर्णय करना कठिन है कि कृपाराम मूल पुस्तक के अनुवादक का नाम है अथवा उस अनूदित पुस्तक की प्रतिलिपि करनेवाले का नाम है।]

'पारसभाग' की भाषा

ऊपर दिये हुये काल के अनुसार कृपाराम १९वीं शताब्दी के पूर्वभाग में थे और उनकी भाषा इंशा तथा मलिक अम्मन के कुछ पीछे की है। मुंशी सदासुख भी उन्हीं के समसामयिक थे, क्योंकि उन्होंने 'सुखसागर' की रचना भी सन् १८१८ में की थी। पर मुंशी जी के गद्य में तथा 'पारस-भाग' के गद्य में काफ़ी अन्तर है। 'सुखसागर' से एक

अवतरण लीजिए :—

'यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने।...'

अब 'पारसभाग' की भाषा की बानगी लीजिए :—

'जैसे कोई क्रोध करिकै अपणे सत्रु कूं पाथर मारै। बहुरि इसका सत्रु उस पाथर की चोट तें बंचि जावै वह पाथर उलटि करि इसही के नेत्र के लागै। ताते इसका नेत्र अंध ह्वै जावै।...'

दोनों की भाषा की तारतम्यता करने से जान पड़ता है कि सदासुख का गद्य शिष्ट समाज की बोल-चाल में प्रचलित खड़ी बोली से बहुत मिलता-जुलता है। उनकी भाषा में वह लड़खड़ाहट नहीं देख पड़ती जो पहले के गद्य-लेखकों की भाषा में मिलती है। ऐसा जान पड़ता है कि मुंशी जी ने प्राचीन गद्य-लेखन की शैली को एकदम से छोड़ कर एक नया रास्ता निकाला है और 'सुखसागर' के द्वारा साहित्यिक गद्य का सम्बन्ध वाग्धारा से जोड़ने का प्रयत्न किया है। हाँ, कहीं कहीं तो मुंशी जी ने भी ठेठ भाषा के प्रयोग रख छोड़े हैं, जैसे 'आवै है'। पर वे इस बात के द्योतक हैं कि उन्होंने अपने गद्य को फ़ारसी-मिश्रित दरबारी भाषा में नहीं किन्तु, हिन्दू-समाज में साधारण बोल-चाल में प्रचलित भाषा में ढाला है।

'पारसभाग' का गद्य मुंशी जी के गद्य से सर्वथा विभिन्न

है। वह साहित्यिक गद्य की उस अवस्था का है जब कि किसी प्रकार की उत्कृष्ट, रचनायें न होने कारण तथा गद्योपयुक्त किसी भाषा-शैली के निर्द्धारित न हो सकने के कारण पंडिताऊ ढँग का गद्य ही व्यवहृत होता था।

पर, कृपाराम की भाषा को ध्यान से पढ़ने पर इस बात का कुछ कुछ आभास होने लगता है कि अब पुराने ढँग की टीकावाली पंडिताऊ भाषा का रूपान्तर होनेवाला है। समय बदल रहा है, परिस्थिति पलट रही है और भाषा का कलेवर भी तदनुसार परिवर्तित होने को है। बात ऐसी ही थी। १९वीं शताब्दी के आरम्भ से ही देश में अँगरेज़ी राज्य की नींव पुष्ट होती जाती थी और पाश्चात्य सभ्यता का रंग गहरा चढ़ता जा रहा था। फिर भला एतद्देशीय भाषा पर क्यों न असर पड़ता ?

एवं, कृपाराम की भाषा का रुख़ व्रजभाषा की ओर से मुड़ता हुआ सा देख पड़ता है। उनकी भाषा में वह स्थूलता, कर्कशता तथा अनगढ़ता नहीं है जो किशोरदास आदि पूर्ववर्ती १७वीं शताब्दी के लेखकों में है। विशदता की भी उसमें कमी नहीं है। क्योंकि भाव बड़ी सफ़ाई से प्रकट किये गए हैं। यह भी मालूम होता है कि खड़ी बोली का साम्राज्य शीघ्र ही हिन्दी-गद्य पर स्थापित होने को है। यद्यपि 'करिकै', 'सत्रु कूं', 'चोट तें', 'अवर', 'पाथर' आदि बहुतेरे प्रयोग कृपाराम की भाषा का सम्बन्ध पूर्वकालिक भाषा से प्रकट

करते हैं, पर बीच बीच में 'करता है', 'हसता है', 'वह' आदि से तत्कालीन साहित्यिक प्रगति का बोध होता है। उनकी भाषा में कुछ राजस्थानी अपभ्रंश की भी झलक है। जैसे, 'अपणों', 'उसकूं' आदि शब्दों में अन्त में। यह कहना आवश्यक है कि १९वीं शताब्दी में कृपाराम से गद्य के प्राप्त होने से उस महत्वपूर्ण सिद्धान्त की परिपुष्टि होती है कि किसी समय जब साहित्यिक धारा में परिवर्तन होने वाला होता है तब क्रमशः होता है। आकस्मिक, उलट-फेर कभी नहीं होते।

भाषा का नमूना

जैसे कोई क्रोध करिकै अपणें सत्र कूं पाथर मारै। वहुड़ि इसका सत्र उस पाथर की चोट तें बंचि जावै वह पाथर उलटि करि इसही के के नेत्र कें लागै ॥ तातें इसका नेत्र अंध ह्वै जावै। वहूड़ि (?) अधिक क्रोध करिकै ॥ अवर पाथर उसकूं मारै ॥ तब उसी चोट करिकै उसका दूसरा नेत्र भी अंध हो जावै। वहूड़ि अवर पाथर मारै ॥ तब उलटि कै इसही का सीस फुटि जावै। बारंबार जैसे ही आप कूं घायल करै। अरु वह सत्र उसकूं देषि करि हसता है। तैसे ही ईर्षाकरणंहारा पुरुष अपणैं अपही (?) कौं दुषी कर्ता है।

प्रारम्भिक आधुनिक गद्य

(१८०० के लगभग)

सैयद इंशाअल्लाह ख़ाँ

——:o:——

संक्षिप्त जीवनी

यह मीर माशाअल्लाह ख़ाँ के सुपुत्र थे। इंशा साहब के पूर्वज किसी समय समरक़ंद के निवासी रहे थे। वहाँ से वे काश्मीर होते हुए दिल्ली में आ बसे थे। दिल्ली के राज-दरबार में सदा से वह वंश सम्मानित होता रहा था। इंशा के पिता जी भी पैतृक प्रतिष्ठा के बल पर राजवैद्य नियुक्त हुए थे। मुग़ल–साम्राज्य के अस्त होने पर वे मुर्शिदाबाद चले गए थे। वहाँ भी उनका वैसा ही सम्मान बराबर होता रहा।

इंशा की शिक्षा ठीक उसी प्रकार से हुई थी जैसी कि किसी धनाढ्य-कुल-सम्भूत बालक की होती है। पर जैसा कि प्रोफ़ेसर आज़ाद कहते हैं, वह होनहार बालक अपने साथ एक विलक्षण तथा कुतूहल-पूर्ण तबियत लेकर उत्पन्न हुआ था। एवं इंशा की प्रकृति में आरम्भ से ही एक प्रकार का वैचित्र्य अथवा सरसता थी जिसका विकास तथा प्रदर्शन सिवाय कविता के अन्यत्र कहीं भी उत्तमता से न हो सकता था। अस्तु इंशा ने कविता लिखना शुरू किया। पर उन्होंने कभी भी अपनी रचनायें किसी दूसरे को सम्मति के लिए नहीं

दिखलाईं। केवल आरम्भ में अपने पिता को तो अवश्य दिखाते थे।

जब मुर्शिदाबाद के नवाबों की राज्य-श्री के बुरे दिन आये तब सैयद इंशा दिल्ली में शाहआलम के दरबार में प्रविष्ट हुए वहाँ बादशाह ने उनकी कविता का समुचित आदर किया, और सदैव साधुवाद देकर उनकी कवित्व–शक्ति को उत्तेजित किया।

जिस समय इंशा दिल्ली के राज-दरबार में उपस्थित थे उस समय वहाँ 'सौदा' और 'मीर' ऐसे उस्तादों के चेले भी जमे हुए थे। अपनी कवित्व-शक्ति तथा अपने गुरुओं की गुण-गरिमा के घमंड में वे सब झूम रहे थे। भला इंशा ऐसे अल्पवयस्क पुरुष की प्रतिभा पर वे विश्वास क्यों करने लगे। इंशा को भी यह ज्ञात हो गया कि वे सब अपने सामने उन्हें ठहरने न देंगे।

मुशायरों में इंशा ने एक एक करके सबको नीचा दिखाया। मिर्ज़ा अज़ीमबेग को पहले पहल उन्होंने पछाड़ा। बात यह थी कि वे एक बार अपनी रचना इंशा के पिताजी को सुनाने गये। दैवयोग से उसमें कोई शैथिल्य रह गया था। इंशा उसे ताड़ गये। उन्होंने मिर्ज़ा साहब की उस समय बड़ी प्रशंसा की और उन्हें उसे बीच मुशायरे में पढ़ने को कहा। तदनुसार मिर्ज़ा साहब ने ऐसा ही किया। परन्तु वहाँ पर उनकी इंशा ने बड़ी हँसी उड़ाई और उन्हीं के साथ साथ

अपने अन्य प्रतिस्पर्द्धियों की अच्छी ख़बर ली। वहीं बैठे बैठे उन्होंने कुछ व्यंग-पूर्ण पद्य भी बनाये।

कुछ काल तक दिल्ली में रह कर वे लखनऊ गये। वहाँ नवाब आसफ़ुद्दौला के दरबार में वे रहने लगे। लखनऊ में उन्होंने अपनी रँगीली तबियत से बड़ी धूम मचाई। नित्य नये नये हास्य-पूर्ण वृत्तान्त उनके द्वारा घटित होने लगे। जैसा कि प्रोफ़ेसर आज़ाद का कहना है कि इंशा चंचलता में पारे के समान थे, ठीक यह बात उनके चरित्र से टपकती है। इसके दो एक उदाहरण काफ़ी होंगे।

जिन दिनों वे नवाब सआदत अली ख़ाँ की मुसाहिबी में थे उन्हें एक बहुरुपियापन की बात सूझी। नवाब साहब के महल के पास ही गोमती बहती थी। बस एक दिन बड़े सबेरे इंशा पंडित का वेष बनाकर नदी के किनारे अच्छी तरह टीका-पाटा से तैयार होकर बैठ गये। डाढ़ी, मूछें तो वे वैसे ही मुड़ाये रहा करते थे। तिस पर वेष-भूषा भी उनकी ठीक पंडित की सी ज्ञात होती थी। अस्तु, सभी स्त्री-पुरुष इंशा साहब के पास दान-पुण्य करने के लिए आने लगे। इंशा साहब बाक़ायदे संस्कृत के मंत्रों का जप करते जाते थे और संकल्प पढ़ पढ़ कर अन्न तथा पैसे का दान रखवाते जाते थे।

नवाब साहब ने जब यह हाल सुना तो बड़े हँसे।

इन वृत्तान्तों से इंशा की रसीली और मस्ती से भरी हुई

तबियत का पता लगता है। उनकी भाषा में उसी प्रकार की फुदक तथा चंचलता के लक्षण हैं।

इंशा की प्रकृति में आत्माभिमान अथवा प्रगल्भता की भी बड़ी मात्रा थी। वे समझते थे, जैसा कि प्रत्येक प्रतिभावान् पुरुष न्यूनाधिक परिमाण में समझता है, कि उनमें उच्च कोटि की मेधाशक्ति थी। इस विषय में उनके ये प्रसिद्ध शेर ध्यान में रखने योग्य हैं:—

"यक तिफ़्ल दबिस्ताँ है फ़लातूँ मेरे आगे।
क्या मुँह है अरस्तू करे जो चूँ मेरे आगे ॥१॥
बोले है यही ख़ामा कि किस किस को मैं बाँधूँ।
बादल से चले आते हैं मज़मूँ मेरे आगे ॥२॥"

इंशा का गद्य

इस बात का अनुमान करने के लिए कि लल्लूलाल तथा सदल मिश्र के हाथों से आधुनिक हिन्दी गद्य की नींव कैसी गहरी पड़ रही थी, सैयद इंशा के गद्य की पर्यालोचना करना अत्यन्त आवश्यक है। वास्तव में यह देखते हुए कि सैयद साहब ने बिना किसी तात्कालिक उद्देश्य से प्रेरित होकर 'रानी केतकी की कहानी' ऐसी सुबोध तथा रोचक भाषा में लिख कर गौड़रूप में हिन्दी-गद्य की एक समीचीन प्रणाली चलाई, उनको यदि लल्लूलाल और सदल मिश्र से भी ऊँचा आसन दें तो सर्वथा उचित ही होगा। क्योंकि लल्लूलाल ने तो फ़ोर्ट-विलियम कालेज के मुख्य अध्यापक गिलक्राइस्ट साहब की

अनुमति से ताज़े विलायत से आये हुए ईस्ट इन्डिया कम्पनी के अँग्रेज़ी अफ़सरों के लाभ के लिए 'प्रेमसागर' तथा अन्य ग्रन्थ ऐसी भाषा में लिखे थे जिन्हें वे सहज में समझ सकें। इसी प्रकार सदल मिश्र ने भी संस्कृत से 'नासिकेतोपाख्यान' का उल्था किया था। उनका भी उद्देश्य वही रहा था। इसके सिवाय इन दोनों को लिखते समय मूलग्रन्थों से बहुत कुछ सहायता मिली थी। कम से कम लल्लूलाल को तो चतुर्भुज दास की भागवत से बहुत कुछ मदद मिली होगी। उनके लिए शैली गढ़ना इतनी टेढ़ी खीर नहीं थी जितनी कि सैयद इंशा के लिए। ऐसी दशा में इंशा ने यदि केवल 'स्वान्त:सुखाय', और किसी पुस्तक को सामने न रख कर 'रानी केतकी की कहानी' सर्वसाधारण के समझने योग्य हिन्दी में अथवा यों कहिए कि फ़ारसी-अरबी से मुक्त उर्दू में लिखने का प्रयत्न किया तो उन्हें बिना साधुवाद दिये नहीं रहा जाता।

उन्होंने मुसलमान होते हुए तथा अरबी-फ़ारसी के वायु-मंडल में रहते हुए जिस हिन्दीपन से रँगी हुई भाषा लिखने में सफलता प्राप्त की है वह आश्चर्यमय है। 'रानी केतकी की कहानी' न केवल शब्द-भांडार के विचार से वरन् भावों के विचार से भी प्रौढ़ और परिमार्जित हिन्दी-गद्य का अच्छा नमूना है, और यद्यपि इंशा साहब ने उसकी रचना उर्दू-लिपि में ही की थी, तथापि उसको हिन्दी-साहित्य में परिगणित करना अनुचित नहीं।

अब, इंशा साहब की लेखन–शैली का विश्लेषण करना है। सबसे पहला गुण जो उनकी 'रानी केतकी की कहानी' की भाषा में प्रत्येक बाचक को देख पड़ता है वह यह है कि उसमें रँगीलापन कूट कूट कर भरा है। किसी बात को बिना घुमाये फिराये, बिना रसीली उपमाओं तथा रूपकों का नमक-मिर्च लगाये कहना इंशा साहब की प्रकृति के विरुद्ध है। इस बात का उदाहरण उनके इस वाक्य से मिल सकता है, 'जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव–भाव और कूद–फाँद, लपट–झपट दिखाऊँ जो देखते ही आपके ध्यान का घोड़ा, जो बिजली से भी बहुत चंचल चपलाहट में है, अपनी चौकड़ी भूल जाय।' इसी अभिप्राय को वे सीधो सादी तरह से सूक्ष्मतया व्यक्त कर सकते थे। पर वैसा करने में उनकी मनोरंजन–प्रिय प्रवृत्ति को सन्तोष न हो सकता।

सारांश यह है कि उनकी लेखनी बड़ी चुलबुली है। एवं उनकी भाषा में एक प्रकार की फुदक है। उनकी भाषा के एक एक अक्षर तथा शब्द में चंचलता है।

इसके सिवाय इंशा साहब में शाब्दिक कंजूसी लेश-मात्र को भी छू नहीं गई। लिखते समय उनके मनमें ये दो बातें उन्नत रहती हैं। एक तो यह कि जो कुछ लिखा जाय वह बिना किसो कष्ट के पढ़नेवाले की समझ में आजावे। दूसरी बात जिसका वे ध्यान रखते हैं और जिसकी सिद्ध के लिए वे अपना समस्त शब्दभांडार निछावर करने को तैयार रहते हैं

वह यह है कि उनकी यह हार्दिक इच्छा रहती है कि वे जो कुछ लिखें वह नीरस न हो, उसमें वाचकों को रोचकता के लिए काफ़ी सामग्री रहनी चाहिए।

ऐसे उद्देश्य रखनेवाले लेखक के लिए प्राय: यह अनिवार्य सा होजाता है कि उसकी दृष्टि में अर्थगाम्भीर्य की अपेक्षा व्यंजना अधिक महत्वपूर्ण होती है। अस्तु, सैयद इंशा भाषा की सुन्दरता का अधिक प्रयत्न करते हैं।

अभी उनके गद्य के विषय में जिस चुटीलेपन अथवा हृदयग्राहिता का उल्लेख किया गया है उसके सम्बन्ध में उनके हास्यरस का भी कुछ वर्णन करना है।

यह तो प्रत्यक्ष है कि इंशा ऐसे चुहचुहाती भाषा के लेखक के लेखों में गम्भीरता की मात्रा न्यूनातिन्यून होती है, उसके बदले हास्यरस अधिक परिमाण में मिलता है। इंशा ने अपनी हास्यपूर्णता का परिचय 'केतकी की कहानी' के प्रारम्भ में ही दिया है। ईश्वर-प्रार्थना करते समय भी उनकी दिल्लगीबाज़ी की बान नहीं छूटी क्योंकि ईश्वर को शिर झुकाते हुए भी उन्हें 'नाक रगड़ने' की अनोखी असामयिक बात सूझी। हद्द होगई मखोलपने की!

आगे चलकर कथानक के बीच में जब उदैभान अमराइयों में लेटने का स्थान ढूँढ़ते हुए वहाँ कई रमणियों से आज्ञा ले रहा है तो कहता है "मैं सारे दिन का थका हुआ एक पेड़ की छाँह में ओस का बचाव करके पड़ रहूँगा। बड़े तड़के

धुन्धलके में उठकर जिधर को मुँह पड़ेगा चला जाऊंगा।" 'जिधर को मुँह पड़ेगा' इस मुहावरे का प्रयोग केवल उपहास-प्रेरित होकर किया गया है। इसी प्रकार हास्यरस के अनेक उदाहरण मिलेंगे।

इन सब विचारों से इंशा की गद्य-शैली वस्तुत: विचित्र (Romantic) है, संस्कृत (Classical) नहीं, क्योंकि उनकी क़लम में लगाम नहीं और यह विचित्र लेखकों का मुख्य लक्षण है। इंशा में शाब्दिकता तथा चित्र-पूर्णता बेहिसाब हैं। उनके गद्य में किसी प्रकार का शैथिल्य नहीं है। उनकी रचना गठीली है, और प्रोफ़ेसर आज़ाद के उपयुक्त शब्दों में, 'इनके अल्फ़ाज़ मोती की तरह रेशम पर ढलकते हैं'। 'इनके कलाम का बन्दोबस्त आरगन बाजे की कसावट रखता है' और उनके निरर्थक शब्द भी आज़ाद के शब्दों में 'मज़ा भी देते हैं।'

इतना अवश्य है कि इंशा की गद्य-रचना वास्तव में उर्दू के ढँग पर है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने कृदन्त-सूचक शब्दों तथा विशेषणों में भी वचन-सूचक चिन्ह रक्खे हैं, जैसे 'आतियाँ जातियाँ साँसें', 'घरवालियाँ वहलातियां हैं' आदि आदि।

उनके गद्य में एक प्रकार की घनिष्टता है, अर्थात् उसमें कोई ऐसी बात है जिसके कारण उसे पढ़नेवाला तत्काल उसके लेखक की ओर आकृष्ट होजाता है, और उसके विषय में अधिक जानने के लिए उसमें कुतूहल उद्दीप्त हो उठता है। सच

बात तो यह है कि यह घनिष्टता का गुण केवल उच्चकोटि के गद्य में ही मिलता है। अँगरेज़ी में एक साहित्यिक उक्ति है कि 'Style is the man' अर्थात् लेखक के मनोवेगों तथा भावों का पता उसकी लेखन-शैली से लग जाता है। यह उक्ति इंशाअल्लाह ख़ाँ के गद्य में चरितार्थ होती है।

इस कसौटी पर यदि लल्लूलाल और सदल मिश्र के गद्य को रक्खें तो वे शायद उतना ठीक न उतरें जितना इंशा उतरते हैं। बात यह है कि उन दोनों के लेख में कोई वैयक्तिकता नहीं देख पड़ती, न रोचकता है और न कुतूहल-जनक कोई गुण ही है। उपसंहार में, सैयद इंशा के गद्य के साहित्यिक मूल्य पर विचार करना है। हो न हो, उनका गद्य कल्पना-शील है, उसमें शाब्दिक चमत्कार भरा हुआ है, उसमें बौद्धिकता के लिए मुश्किल से स्थान है। अतएव, आधुनिक गद्य-लेखकों में से इंशा साहब उन्हीं के आचार्य हैं जो गम्भीर विषयों पर मननयोग्य लेख लिखने से हिचकते हैं, और सदैव शब्दों की फुलझरी छुटाने ही में तत्पर रहते हैं। पंडित प्रताप-नारायण मिश्र को भी सैयद इंशा के सम्प्रदाय में सम्मिलित करना बेजा नहीं।

तो भी इसका यह अर्थ नहीं कि इंशा का सा गद्य साहित्यिक दृष्टि से सर्वथा नीचे दर्जे का है। असलियत में यह उन्हीं के गद्य का प्रभाव है कि हिन्दी में रोचक गद्य लिखने की शैली का प्रचार हुआ है, और लेखक-गण निरी

संस्कृतमयी हिन्दी लिखने के हिमायती न बनकर मुहावरों को महत्वपूर्ण समझने लगे हैं। यह मुहावरे प्रयोग करने की आदत सैयद इंशा के गद्य से ही हिन्दी-लेखकों ने सीखी है।

---

(१)

रानी केतकी की कहानी

यह वह कहानी है कि जिसमें हिन्दी छुट।
और न किसी बोली का मेल है न पुट॥

सिर झुका कर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनानेवाले के सामने जिसने हम सबको बनाया और बात की बात में वह कर दिखाया कि जिसका भेद किसी ने न पाया। आतियाँ जातियाँ जो साँसें हैं, उसके बिन ध्यान यह सब फाँसें हैं। यह कल का पुतला जो अपने उस खेलाड़ी की सुध रक्खे तो खटाई में क्यों पड़े और कडुआ कसैला क्यों हो। उस फल की मिठाई चक्खे जो बड़ों से बड़े अगलों ने चक्खी है।

देखने को दो आँखें दीं और सुनने को दो कान।
नाक भी सबसे ऊँची करदी मरदों को जो दान॥

मिट्टी के बासन को इतनी सकत कहाँ जो अपने कुम्हार के करतब कुछ ताड़ सके। सच है, जो बनाया हुआ है, सो अपने बनानेवाले को क्या सराहै और क्या कहै। यों जिसका जी चाहै, पड़ा बकै। सिर से लगा पाँव तक जितने रोंगटे हैं, जो सबके सब बोल उठें और सराहा करें

और इतने बरस उसी ध्यान में रहें जितनी सारी नदियों में रेत और फूल फलियाँ खेत में हैं, तो भी कुछ न हो सके, कराहा करें। इस सिर झुकाने के साथ ही दिन रात जपता हूँ उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे को जिसके लिए यों कहा है — जो तू न होता तो मैं कुछ न बनाता। मैं फूला अपने आप में नहीं समाता।

डोल डाल एक अनोखी बात का

एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिन्दी की छुट और किसी बोली की पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप से खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो। अपने मिलने वालों में से एक कोई बड़े पढ़े-लिखे, पुराने-धुराने, डाँग, बूढ़े घाघ यह खटराग लाये। सिर हिलाकर, मुँह थुथाकर, नाक भौंहें चढ़ाकर, आंखें फिराकर लगे कहने— यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिन्दवीपन भी न निकले और भाखा-पन भी न हो। बस जितने भले लोग आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँह किसी की न दे यह नहीं होने का। मैंने उनकी ठंडी साँस का टहोका खाकर झुँझला कर कहा — मैं कुछ ऐसा बड़-बोला नहीं जो राई को पर्वत कर दिखाऊँ और झूठ सच बोल कर उँगलियाँ नचाऊँ और बे-सिर, बे-ठिकाने की उलझी-सुलझी बातें पचाऊँ। जो मुझसे न हो सकता तो, यह बात मुँह से क्यों निकालता ? जिस ढब से होता, इस बखेड़े को टालता। इस कहानी का कहने वाला आपको जताता है। और जैसा कुछ उसे लोग पुकारते हैं, कह सुनाता है। दहना हाथ मुँह पर फेर कर आप को जताता हूँ, जो मेरे दाता ने

चाहा तो वह ताव-भाव और कूद-फाँद, और लपट-झपट दिखाऊँ जो देखते ही आपके ध्यान का घोड़ा, जो बिजली से भी बहुत चंचल अचपलाहट में है, अपनी चौकड़ी भूल जाय।

टुक घोड़े पर चढ़के अपने आता हूँ मैं।
करतब जो कुछ हैं, कर दिखाता हूँ मैं॥
उस चाहने वाले ने जो चाहा तो अभी।
कहता जो कुछ हूँ कर दिखाता हूँ मैं॥

अब कान रखके, आँखें मिला के, सम्मुख होके टुक इधर देखिए, किस ढब से बढ़ चलता हूँ और अपने फूल की पंखड़ जैसे होठों से किस किस रूप के फूल उगलता हूँ।

(२)

एक दिन रानी केतकी उसी ध्यान में मदनवान सेयों बोल उठी—अब मैं निगोड़ी लाज से कुट करती हूँ, तू मेरा साथ दे। मदनवान ने कहा — क्योंकर ? रानी केतकी ने वह भभूत का लेना उसे बताया और यह सुनाया — यह सब आँख-मुचौवल के झाँई-झप्पे मैंने इसी दिन के लिए कर रक्खे थे। मदनवान बोली — मेरा कलेजा थरथराने लगा। अरी यह माना जो तुम अपनी आँखों में उस भभूत का अंजन कर लोगी और मेरे भी लगा दोगी तो हमें तुम्हें कोई न देखेगा और हम तुम सबको देखेंगी। पर ऐसी हम कहाँ मनचली हैं जो बिना साथ, जोवन को लिए, बन बन में पड़ी भटका करें और हिरनों की सींगों पर दोनों हाथ डाल कर लटका करें और जिसके लिए यह सब कुछ है, सो वह कहाँ ? और होय तो क्या जाने जो यह रानी केतकी है और यह मदनवान निगोड़ी

नोची-खसोटी उजड़ी उनकी सहेली है । चूल्हे और भाड़ में जाय यह चाहत, जिसके लिए आपको मां-बाप का राज-पाट सुख नींद लाज छोड़ कर नदियों के कछारों में फिरना पड़े, सो भी बेडौल । जो वह अपने रूप में होते तो भला थोड़ा बहुत आसरा था । ना जी यह तो हम से न हो सकेगा जो महाराज जगत-प्रकाश और महारानी कामलता का हम जान बूझ कर घर उजाड़ें और उनकी जो एकलौती लाडली बेटी है, उसको भगा ले जावें और कहाँ तक उसे भटकावें और बिनसपत्ती खिलावें और अपने चोंड़े को हिलावें । जब तुम्हारे और उसके माँ-बाप में लड़ाई हो रही थी और उनने उस मालिन के हाथ तुम्हें लिख भेजा था जो मुझे अपने पास बुला लो, महाराजों को आपस में लड़ने दो जो होनी हो सो हो, हम तुम मिल कर किसी देश को निकल चलें, उस दिन न समझी । तब तो वह ताव-भाव दिखाया । अब जो वह कुँवर उदैभान और उसके माँ-बाप तीनों जी हिरनी हिरन बन गये । क्या जाने किधर होंगे । उनके ध्यान पर इतनी कर बैठिए जो किसी ने तुम्हारे घराने में न की अच्छी नहीं । इस बात पर पानी डाल दो नहीं तो बहुत पछताओगी और अपना किया पावोगी । मुझसे कुछ न हो सकेगा । तुम्हारी जो कुछ अच्छी बात होती, तो मेरे मुँह से जीते जी न निकलती, पर यह बात मेरे पेट में नहीं पच सकती । तुम अभी अल्हड़ हो, तुमने अभी कुछ देखा नहीं । जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूँगी तो तुम्हारे बाप से कह कर वह भभूत जो वह मुआ निगोड़ा, भूत मुछंदर का पूत अवधूत दे गया है, हाथ मुरकवाकर छिनवा लूँगी । रानी केतकी ने यह रुखाइयाँ मदनवान की सुन कर टाल दिया ।

(३)

एक रात रानी केतकी ने अपनी माँ रानी कामलता को भुलावे में डाल कर यों कहा और पूछा—गुरुजी, गुसाईं महेन्दरगिर ने जो भभूत मेरे बाप को दिया है वह कहाँ रक्खा है और उससे क्या होता है ? रानी कामलता बोल उठी — तेरे वारी, तू क्यों पूछती है ? रानी केतकी कहने लगी—आँख-मुचौवल खेलने के लिए चाहती हूँ । जब अपनी सहेलियों के साथ खेलूँ और चोर बनूँ तो मुझको कोई पकड़ न सके। महारानी ने कहा — वह खेलने के लिए नहीं है । ऐसे लटके किसी बुरे दिन के सँभालने को डाल रखते हैं । क्या जाने कोई घड़ी कैसी है, कैसी नहीं । रानी केतकी अपनी माँ की इस बात पर अपना मुँह थुथाकर उठ गई और दिन भर खाना न खाया । महाराज ने जो बुलाया तो कहा — मुझे रुच नहीं । तब रानी कामलता बोल उठी — अजी तुमने सुना भी, बेटी तुम्हारी आँख-मुचौवल खेलने के लिए वह भभूत गुरूजी का दिया माँगती है । मैंने न दिया और कहा, लड़की यह लड़कपन की बातें अच्छी नहीं । किसी बुरे दिने के लिए गुरूजी दे गए हैं । इसी पर मुझसे रूठी है । बहुतेरा बहलाती हूँ मानती नहीं । महाराज ने कहा — भभूत तो क्या मुझे अपना जी भी उससे प्यारा नहीं । तो क्या मुझे उसके एक पहर के बहल जाने पर एक जी तो क्या, जो करोर जी हों तो दे डालें । रानी केतकी की डिबिया में से थोड़ा सा भभूत दिया । कई दिन तलक आँख-मुचौवल अपने माँ-बाप के सामने सहेलियों के साथ खेलती सब को हँसाती रही, जो सौ सौ थाल मोतियों के निछावर हुआ किए, क्या कहूँ, एक चुहल थी जो कहिए तो करोड़ों में ज्यों की त्यों न आ सके।

कहा — जिसका जी हाथ में न हो, उसे ऐसी लाखों सूझती हैं ; पर कहने और करने में बहुत सा फेर है। भला यह कोई अंधेर है जो मैं माँ-बाप, राजपाट, लाज छोड़ कर हिरन के पीछे दौड़ कर छालें मारती फिरूं। पर अरी तू तो बड़ी बावली चिड़िया है जो यह बात सच जानी और मुझसे लड़ने लगी।

मुंशी सदासुख

—:o:—

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में देश की परिवर्त्तित समाजिक तथा राजनीतिक स्थिति में देशी भाषाओं के रूप में जो एक आकस्मिक प्रभाव पड़ना शुरू हुआ था उसी के सम्बन्ध में मुंशी जी का नाम आता है। इनके समय तक उर्दू का सर्वत्र दौर-दौरा रहा था। अंग्रेज़ी शिक्षा पाये हुए लोगों का जो समुदाय धीरे धीरे तैयार हो रहा था उनमें भी आपस के पत्र-व्यवहार तथा साधारण बोल-चाल में उसी का प्रचार था। हाँ, कुछ लोगों के प्रयत्न से इस भाषा का व्यापक प्रचार रोका जारहा था और उसके स्थान में हिन्दू घरानों में संस्कृत का आश्रय ले कर उसे खड़ी बोली में जोड़ कर 'भाषा' का जन्म हो रहा था। इस नई संस्कृत-मिश्रित बोल-चाल की भाषा के विकास में कथा-वाचक पंडित लोग पूरी सहायता दे रहे थे। इस प्रकार यह नई भाषा अपने पैरों खड़ी होना सीख रही थी। इस उद्योग में मुंशी सदासुख ने सबसे पहले योग दिया। उन्होंने इस 'भाषा' (भाखा) को अपने अनुवादित ग्रन्थ 'सुखसागर' में प्रयुक्त करके उस पर साहित्यिक छाप लगाने का सबसे पहला उल्लेखनीय साहस किया।

कहने का अभिप्राय यह नहीं कि हिन्दी को साहित्यिक प्रयोग में आने का गौरव सबसे पहले मुंशी जी के हाथों मिला। किन्तु, मुंशी जी का नाम महत्वपूर्ण इस अर्थ में है कि उन्होंने अपने समय में जब कि हिन्दी-गद्य विकास की राह में पड़ने के पहले तरल अवस्था में था, एक सुसम्बन्ध धार्मिक आख्यान अथवा कथा के रूप में अपनी इच्छानुसार प्रयुक्त किया। अर्थात् उनका यह कार्य किसी दूसरे की प्रेरणा से नहीं था।

उनकी भाषा में कोई विशेष गुण नहीं है। वह अधिकांश में कथाबाचकों की भाषा से बिलकुल मिलती जुलती है और कहीं कहीं उसमें ठेठ ग्रामीण, प्रान्तीय शब्द भी आ गये हैं। पर उसका एक विशेष महत्व है, क्योंकि सदल मिश्र तथा लल्लूलाल के पहले उन्होंने हिन्दी-गद्य को साहित्यिक रूप देने का नया प्रयत्न किया है।

मुंशी सदासुख की भाषा

इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं; आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चाण्डाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरन्त ही ब्राह्मण से चाण्डाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका (जो) सतोवृत्ति है वह

प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कहके लोगों को बहकाइए, और फुसलाइए और सत्य को छिपाइए, व्यभिचार कीजिए और सुरापान कीजिए और धन द्रव्य इकठौर कीजिए और मन को, कि तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिए। तोता है सो नारायण का नाम लेता है, परन्तु उसे ज्ञान तो नहीं है।

सदल मिश्र

[१९वीं शताब्दी का आरम्भ]

—:०:—

हिन्दी-गद्य को आधुनिक स्वरूप देने वालों में सदल मिश्र का स्थान अधिक ऊँचा है। इस तारतम्यता का पता उनके किसी गद्यांश से तुरन्त लग सकता है। लल्लूलाल से तो वे सहज में बाज़ी मार ले जाते हैं। लल्लूलाल का गद्य गई बन्धनों से जकड़ा हुआ है, पद्य की सी तुकसाम्यता उसमें बहुत स्थानों पर मिलती है, उसकी भाषा का रुझान अधिकांश में शुद्ध व्रजभाषा की ओर है तथा उसमें साधारण बोलचाल के मुहावरों के समावेश करने का किंचित्मात्र भी प्रयत्न नहीं किया गया, जिससे उसमें प्रौढ़ता का अभाव है। प्रत्युत सदल मिश्र की भाषा निस्सन्देह आजकल की हिन्दी का अपक्व उदाहरण है।

मिश्रजी के गद्य में सबसे बड़ी बात यह है कि उसकी रचना (Construction) अथवा यों कहिए कि उसकी पद-योजना सीधी-सादी है। उनके "नासिकेतोपाख्यान" में उस प्रकार का वाग्जाल तथा उस प्रकार की भाषा की तोड़-मरोड़ नहीं जैसी लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' में आदि से अन्त

तक भरी पड़ी है ।

लल्लूलाल का गद्य पौराणिक कथा पढ़ने वाले उपदेशकों के काम का है, परन्तु उसको यदि उपन्यास अथवा गल्पों के लिए प्रयुक्त करें तो सिवाय उपहासास्पद बनने के और कोई परिणाम सम्भव नहीं ।

यह बात सदल मिश्र की भाषा के लिए कोई भी नहीं कह सकता । इतना अवश्य है कि उसमें भी एक नहीं अनेक स्थलों पर अद्भुत रीति से वाक्य गढ़े गये हैं और कहीं कहीं पर भाषा उस समय के उर्दू के साँचे में ढली हुई है जब हिन्दी और उर्दू के गद्य में कोई भी विभिन्नता न थी । जैसे 'लगी कहने' और 'छन एक तो मूर्छित रही' ये पद सीधे उर्दू से मिलते जुलते हैं । इसी प्रकार 'और' के स्थान में वे 'वो' सदैव लिखते हैं ।

तब भी मिश्रजी के गद्य में यह साफ़ मालूम होता है कि उसके द्वारा एक नए ढंग की लेखन-शैली का जन्म हो रहा है, जिसमें पुरानी उर्दू की भाँति मुहावरों का विशेष ध्यान दिया जा रहा है और जिसमें एक अभूत-पूर्व सजीवता देख पड़ती है । इसके लिए इन मुहावरों को देखिए ।

"हर्ष से दूने हो", "लड़कई से आजतक सुग्गा सा पढ़ाया"।

सदल मिश्र की अभिव्यंजक शक्ति दोहरे पदों के प्रयोग से और भी बढ़ गई है । उदाहरणार्थ—'भीतर बाहर नृप के मन्दिर में उथल पुथल होगया', 'यह बात कानाकानी होने

लगी', 'सारे घर को बोहार सोहार', 'रोने कलपने', 'फूलो फलो' इत्यादि। इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग से उनके गद्य की उपयोगिता साधारण बोलचाल तथा सुगम साहित्य के लिए बढ़ गई है।

सच तो यह है कि इस तरह का लचीलापन सदल मिश्र के गद्य में इस कारण आगया है कि उन्होंने बुद्धिमानी से उर्दू को बिलकुल तिलांजलि नहीं दी। उन्होंने यह समझ लिया होगा कि यद्यपि हिन्दी-उर्दू के संमिश्रण होने से हिन्दी के अस्तित्व में बट्टा लगेगा, तब भी उर्दू का जो कुछ अच्छा प्रभाव हिन्दी पर पड़ा उसको स्थान से हटा देना अच्छा नहीं होगा। इसी विचार से उन्होंने अपने समकालीन लल्लूलाल की भाँति उर्दू से संबंध-विच्छेद करते हुए भी उसके सिखाये चटपटे मुहावरों को अपने गद्य की भाषा में रख छोड़ा।

तब भी वे लिखते समय यह ध्येय कभी नहीं भूले कि हिन्दी में स्वतंत्र रीति से गद्य लिखने की परिपाटी स्थित करना है। इसका प्रमाण एक बात से मिलता है कि उन्होंने व्रजभाषा के 'कबहीं' और 'भये' को शायद कभी भी 'कभी' और 'हुए' नहीं लिखा। उपसंहार में सदल मिश्र के गद्य के विषय में यह कहना पर्याप्त होगा कि उनकी भाषा गठीली है, उसमें वह ढीलापन नहीं है जो लल्लूलाल की भाषा में है। इसके सवाय सदल मिश्र का गद्य यथार्थ में गद्य कहलाने योग्य है, क्योंकि उसमें वह रसप्लाव तथा शाब्दिकता नहीं है जो

'प्रेमसागर' में सब कहीं है; वह इसी निश्चित उद्देश्य से लिखा गया है कि उसके द्वारा सब तरह के साधारण भाव सरलता तथा सजीवतापूर्वक व्यक्त हो सकें। मिश्र जी के गद्य के किसी भी अंश को ज़ोर से पढ़िए, आपको स्वरों को मिलाकर गाने का कभी भी प्रोत्साहन न होगा जैसा 'प्रेमसागर' के पढ़ते समय सम्भव है बाचक को हो जावे।

तात्पर्य यह है कि सदल मिश्र की भाषा में वे बहुत से गुण हैं जो समीचीन गद्य के लिए आवश्यक हैं। इस कारण उन्हें हिन्दी-गद्य के आदिम निर्माताओं में ऊँचा स्थान देना अनुचित नहीं है।

नासिकेतोपाख्यान

राजा रघु ऐसे कहते हुए वहां से तुरंत हर्षित हो उठे। वो भीतर जा मुनि ने जो आश्चर्य बात कही थी सो पहिले रानी को सब सुनाई। वह भी मोह से व्याकुल हो पुकार पुकार रोने लगी वो गिड़गिड़ा गिड़गिड़ा कहने कि महाराज! जो यह सत्य है तो अबही लोग भेज लड़के समेत झट उसको बुला ही लीजिए क्योंकि अब मारे शोक के मेरी छाती फटती है। कब मैं सुन्दर बालक सहित चन्द्रावती के मुंह, कि जो बन के रहने से भोर के चन्द्रमा सा मलीन हुआ होगा, देखोंगी। देखो, यह कर्म का खेल, कहां इहां नाना भांति भोग बिलास में वो फूलन्ह के बिछौने पर सुख से जिसके दिन रात बीतते थे, सो अब जंगल में कन्दमूल खा कांटे कुश पर सोकर स्यारों के चहुंदिश डरावन शब्द सुनि

कैसे बिपति को काटती होगी ।

राजा बोले कि पिता माता से प्राणी का एक जन्म ही तो होता है । और सुख दुख जो पूछो तो जब जैसा बदा तब तैसा, क्या राजा क्या प्रजा सब ही बड़े छोटे को होता है ।

इतने में जहां से सखी सहेली और जात भाइयों की स्त्री सब दौड़ी हुई आईं, समाचार सुनि जुड़ाईं, मगन हो हो नाचने गाने बजाने लगीं वो अपने अपने देह से गहना उतार उतार सेवकों को देने लगीं, और अगणित रुपया अन्न वस्त्र राजा रानी ने ब्राह्मणों को बोला बोला दान दिया । आनंद बधावा बाजने लगा । हर्षित हो नरेश ने वहां से सभा में जा ऋषि से कहा कि महाप्रभु आपने मेरा बड़ा कलंक मिटाया है । इस आनन्द का कुछ वारापार नहीं । अब निश्चिन्त हो यहां बिराजिये, कन्या मँगा आपको मैं दूंगा ।

ऐसे कह अमृत पदार्थ भोजन करा अति आदर से मुनि को टिकाया, वो तुरन्त सेवकों के सहित पालकी भेज नाती समेत बेटी को बन से मँगा लिया । गले लगाकर सब रनिवास ने भेंट किया । बालक गोदी में ले मतारी लड़की को घर में बैठा रो रो बन की बात पूछने लगा । भाई, गोतिया, हित मीत नगर के लोग देखने आए । भीतर बाहर नृप के मंदिर में मारे भीड़ के उथल पुथल होगया । तब नृप ने पंडितों को बुला दिन बिचार बड़ी प्रसन्नता से सब राजा व ऋषियों को नेवत बुलाया । लगन के समय सबों को साथ ले मण्डप में जहां सोनन्ह के थम्भ पर मानिक दीप बरते थे, जा पहुंचे । मोतिन्ह से पूरा हुआ चौक में रतन जड़ा पीढ़ा रखवा उस पर बर कन्या दोनों को पटम्बर वो वगलों में हीरे की

माला पहिरा बैठाया और वेद बिधि से व्याह आरम्भ किया। ब्राह्मण सब वेद पढ़ने लगे। भांति भांति के बाजन लगे बजने, वो कथक गाने, हर्षित हो राजा ने कन्यादान कर सहस्र हाथी, लाख घोड़े वो गौ असंख्य बासन भूषण, वस्त्र, रुपैया, जँवाई को यौतुक दिया। फिर हाथ जोड़ बिनती किया कि सुनिए महाराज! आपने निपट हमको सनाथ किया। मेरे घर में ऐसी कोई वस्तु नहीं कि जिससे तुम्हारी मैं पूजा करूं। देखिये, सागर को जल से, सूर्य को दीप से पूजते हैं। तिन्हको क्या उनसे आनन्द होता है? नहीं, महात्मा लोग आदर मान ही से संतुष्ट होते हैं।

इतनो कह ऋषि के चरण पर गिर पड़े। अति प्रसन्न हो मुनि उठा पीठ ठोंक आशीश दे बोले कि धन्य हो राजा रघु! क्यों न हो। मुंह पर कहाँ तक बड़ाई करें।

भगवान ने तुमको बड़ी बुद्धि दी है। ईश्वर करे यों ही सदा फूले फले रहो। और यह हमारे यौतुक को हाथी, घ ड़े, द्रव्य तुम्हारे ही घर में रहैं, क्योंकि बन के बसने वाले तपस्वियों को इनसे क्या काज।

ऐसे कह धन छोड़ सबसे मिल नासिकेत समेत भार्या ले उद्दालक मुनि वहां से अपने आश्रम पर आए।

लल्लूलाल

——:o:——

लल्लूलाल और सदलमिश्र दोनों को हिन्दी-गद्य के जन्म-दाता कहते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि उनके पहले हिन्दी में किसी प्रकार का गद्य लिखा ही नहीं गया। हाँ, यह निस्सन्देह सत्य है कि इन दोनों ने गद्य लिखे जाने का प्रचार बढ़ाने में पूरी सहायता दी और हिन्दी में साहित्यिक गद्य के अच्छे नमूने तैयार किये।

१९वीं शताब्दी के आरम्भ में दिल्ली और मेरठ वाली खड़ीबोली अथवा उर्दू तथा व्रजभाषा में उत्तरी भारत की व्यापक भाषा बनने के लिए परस्पर खींचातानी होने लगी थी। मुग़लों के शासन-काल में उर्दू नाम की मिश्रित भाषा को सरकारी भाषा होने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका था, परन्तु मुग़ल ऐश्वर्य का ह्रास होने के उपरान्त जब ईस्ट इंडिया कम्पनी के द्वारा अँगरेज़ी शासन की जड़ जमने लगी और साथ ही साथ उर्दू के पैर भी धीरे धीरे उखड़ने लगे तब यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि एक ऐसी भाषा का प्रचार किया जाय जो उर्दू की मिश्रित शब्दावली से मुक्त हो और जिसमें यथा-सम्भव संस्कृत-जनित शब्दों का ही आधिक्य हो।

इस उद्देश्य से लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' लिखा। यह श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध का उल्था मात्र है। परन्तु इसी अनुवाद-द्वारा उन्होंने हिन्दी की धारा कहाँ से कहाँ मोड़ दी।

अब उनके गद्य-निर्माण के प्रयत्न पर विचार करना है।

लल्लूलाल ने यथाशक्ति उर्दू शब्दों को अपने गद्य में स्थान नहीं दिया। यह केवल दो तीन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है उन्होंने 'उन्होंने' के स्थान में 'विन्होंने' जान बूझ-कर लिखा है। एक जगह उर्दू शब्द 'सामान' आने ही को था, परन्तु वह तोड़ मरोड़ कर 'समान' में परिवर्तित किया गया है। मतलब यह है कि खड़ी बोली अथवा पश्चिमीय हिन्दुस्तानी–भाषा के शब्दों तथा मुहावरों को निकालने से लल्लूलाल के गद्य में एक प्रकार का मार्दव सा आगया है। उदाहरण के लिए इस वाक्य को लीजिए :—

"इतनी बात के सुनते ही कृष्ण ने कदम्ब पर चढ़ ऊँचे सुर से ज्यों वंशी बजाई तो सुन ग्वाल बाल और सब गायें मूंज बन को फाड़ कर ऐसे आनि मिलीं जैसे सावन भादों की नदी तुंग तरंग को चीर समुद्र में जा मिलें।"

दिल्ली के आसपास की फ़ारसीरंजित उर्दू में यही वाक्य भिन्न रीति से लिखा गया होता। 'इतनी', 'चढ़', 'सुर', 'वंशी', 'आनि मिलीं' इन सब के स्थान में 'इस', 'चढ़कर', 'आवाज़', 'बांसुरी', तथा 'आमिलीं' इन पदों का व्यवहार होता। यद्यपि 'गौवें' के स्थान में खड़ी बोली (उर्दू) की

'गायें' का प्रयोग हुआ है, तथापि वास्तव में इस वाक्य का सब ढाँचा संस्कृत अथवा शुद्ध व्रज-भाषापूर्ण हिन्दी का है। ज्ञात होता है कि लेखक एक ऐसी शैली का निर्माण करना चाहता है जिसमें संस्कृत, व्रजभाषा तथा सरल बोलचाल की उर्दू की सहायता से जनता के काम का, बोलचाल तथा साहित्यिक उपयोग के लिए एक उपयुक्त भाषा तैयार हो जाय।

इस नये गद्य में सब से बड़ी बात यह है कि यह वस्तुत: पद्यमय है, कहीं कहीं तो उसकी पद्यात्मिकता यहाँ तक बढ़ी है कि दो वाक्यों में तुकसाम्यता भी है। उदाहरण के लिए 'बर्षा शरद ऋतु वर्णन' का यह भाग लीजिए:—

"इस धूम धाम से पावस को आते देख, ग्रीष्म खेत छोड़ अपना जी ले भागा। तब मेघ पिया ने वर्षा, पृथ्वी को सुख दिया। उसने जो आठ महीने पति के वियोग में योग किया था तिसका भोग कर लिया।"

इसके सिवा इस गद्य की शब्दावली तथा वाक्यरचना साधारण गद्य की सी कदापि नहीं है, क्योंकि प्रत्येक शब्द तथा वाक्य अलग ही अलग झूलता है, उसमें वह पारस्परिक ऐक्य नहीं है जो गद्य में आवश्यक होता है। लल्लूलाल के गद्य का एक खंड कहीं से ले लीजिए और उसको ज़ोर से पढ़िए तो इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जावेगा कि उसकी ठनक कानों पर ताँबे या चाँदी के सिक्के की सी नहीं पड़ती वरन् उसमें तारों से उत्पन्न हुई एक सूक्ष्म ध्वनि होती है।

उनके गद्य में अनुप्रासों की भी भरमार है।

"ग्रीष्म की अति अनीत देख नृप पावस प्रचंड पृथ्वी के पशु पक्षी जीव जन्तुओं की दशा विचार चारों ओर से दल बादल साथ ले लड़ने को चढ़ आया।"

इसी अंश में 'अ', 'प', 'च', 'ल', 'द'—इन वर्णों की पुनरावृत्ति के कारण माधुर्य आगया है। इस प्रकार के अनुप्रास के उदाहरण सब कहीं 'प्रेमसागर' में मिलेंगे।

लल्लूलाल के गद्य में वर्णन-प्रसंग भी ध्यान देने योग्य है। यह माना कि उनका 'प्रेमसागर' श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध का अनुवादमात्र है और इससे उसकी भाषा की जितनी विशेषतायें अच्छी या बुरी हैं वे सब भागवत की भाषा की छायामात्र हैं। परन्तु यह भी निर्विवाद है कि चूँकि अनुवादक ने अनुवाद करते समय एक ख़ास तरह के गद्य के लिखने की प्रथा चलाने का उद्देश्य अपने सामने रक्खा था, इस लिए उनकी भाषा स्वाभाविक नहीं। उसमें एक प्रकार की बनावट है। अस्तु, अपने गद्य को अधिक ग्राह्य बनाने की नियत से 'प्रेमसागर' के लेखक ने वर्णन-स्थलों में भाषा-चमत्कार दिखाने का प्रयत्न किया है। ऊषा के रूप-वर्णन में जिन जिन मुहावरों का प्रयोग लल्लूलालजी ने किया है उनमें उन्होंने अपनी शब्द-संचय-शक्ति की पराकाष्ठा पहुँचा दी है।

उनके गद्य में इन शाब्दिक आडम्बरों के अतिरिक्त एक बात और है। उन्होंने विशेषकर 'प्रेमसागर' की वाक्य-रचना

इस ढंग से की है कि जिससे भाषा का प्रवाह मंद प्रतीत होता है। उसमें वह द्रुति नहीं है जो श्रीबालमुकुन्द गुप्त, द्विवेदीजी, प्रतापनारायण मिश्र तथा अन्य गद्य-लेखकों में है।

सारांश यह है कि लल्लूलालजी की शैली गद्य-पद्य-मय है। उनकी भाषा में आडम्बर-पूर्णता है, और साथही साथ रमणीयता, मार्दव तथा माधुर्य भी कूट कूट कर भरे हैं। हिन्दी-गद्य के इतिहास में हम उन्हें आधुनिक खड़ी बोली के गद्य का पिता न कहकर यह कहेंगे कि आजकल जिस प्रकार के पद्य-मय तथा आवेश-पूर्ण (Emotional) गद्य के लिखने की प्रणाली चली है उसके लिखनेवाले लल्लूलाल के वंशधरों में से हैं।

इस विचार से उनकी गद्य-शैली साधारण काम के लिए उपयुक्त नहीं है; और गद्य की उपयोगिता इसी में होती है कि उसको चाहे जिस प्रयोग में लावें वह हर जगह सुचारु रूप से कार्य्य-सम्पादन कर सके। यही एक कसौटी है जिसपर रखने से किसी भी प्रकार का गद्य क्यों न हो, उसकी उपयोगिता प्रकट हो सकती है। लल्लूलाल की शैली इस परख पर ठीक नहीं उतर सकती। उसके लिए यही कह देना काफ़ी होगा कि उन्होंने पहले पहल हिन्दी-गद्य का साहित्यिक प्रयोग किया था।

---

(१)

वर्षा–शरद–ऋतु वर्णन

श्रीशुकदेव मुनि बोले कि — महाराज ! ग्रीष्म की अति अनीति देख नृप-पावस प्रचंड पशु, पक्षी, जीव, जन्तुओं की दशा विचार चारों ओर से दल बादल साथ ले लड़ने को चढ़ आया। तिस समय घन जो गरजता था सोई तो धौंसा बाजता था और वर्ण वर्ण की घटा जो घिर आई थीं, सोई शूरवीर रावत थे, तिनके बीच बिजली की दमक शस्त्र की सी चमकती थी, बगपाँत ठौर ठौर ध्वजा सी फहराय रही थी, दादुर, मोर कड़खेतों की सी भाँति यश बखानते थे और बड़ी बड़ी बूंदों की झड़ी बाणों की सी झड़ी लगी। इस धूम-धाम से पावस को आते देख, ग्रीष्म खेत छोड़ अपना जी ले भागा, तब मेघ पिया ने वर्षा, पृथ्वी को सुख दिया। उसने जो आठ महीने पति के वियोग में योग किया था, तिसका भोग भर लिया। कुछ गिर शीतल हुए और गर्भ रहा उसमें से अठारह भार पुत्र उपजे, सो भी फल फूल भेंट ले ले पिया को प्रणाम करने लगे। उस काल वृन्दावन की भूमि ऐसी सुहावनी लगती थी कि जैसे श्रृंगार किये कामिनी और जहाँ, तहाँ नदी, नाले, सरोवर भरे हुए तिन पर हंस, सारस शोभा दे रहे, ऊँचे ऊँचे रूखों की डालियाँ झूम रहीं, उनमें पिक, चातक, कपोत, कीर, बैठे कोलाहल कर रहे थे और ठाँव ठाँव सूहे कुसुम्भे जोड़े पहरे गोपी, ग्वाल झूलों पर झूल झूल ऊँचे सुरों से मलारें गाते थे। उनके निकट जाय जाय श्रीकृष्ण, बलराम भी बाल–लीला कर कर अधिक सुख दिखाते थे।

---

(२)

ऊषा-वर्णन

महाराज ! ऐसे मन हीं मन शोच विचार कर बाणासुर महादेव जी के सन्मुख जाय हाथ जोड़, शिर नाय बोला कि — हे त्रिशूलपाणि ! त्रिलोकीनाथ ! तुमने जो कृपाकर सहस्र भुजा दीं सो मेरे शरीर पर भारी भईं, उनका बल अब मुझसे संभाला नहीं जाता। इसका कुछ उपाय कीजै, सोई महाबली युद्ध करने को मुझे बताय दीजै। मैं त्रिभुवन में ऐसा पराक्रमी किसी को नहीं देखता जो मेरे सन्मुख हो युद्ध करै। हाँ दयाकर जैसे आपने मुझे महाबली किया तैसे ही अब कृपा कर मुझसे लड़ मेरे मन की अभिलाषा पूरी कीजे तो कीजे, नहीं तो और किसी बली को बताय दीजै जिससे मैं जाकर युद्ध करूं और अपने मन का शोक हरूं। इतनी कथा कह श्रीशुकदेवजी बोले कि — महाराज ! बाणासुर से इस भाँति की बातें सुन श्रीमहादेव जी ने बिलखाय मन हीं मन इतना कहा कि मैंने तो साधु जान के बर दिया अब यह मुझी से लड़ने को उपस्थित हुआ। इस मूर्ख को बल का गर्व भया, यह जीता न बचेगा। जिसने अहंकार किया सो जगत् में आन बहुत न जिया। ऐसे मन हीं मन महादेवजी कह बोले कि — बाणासुर ! तू मत घबराय, तुझसे युद्ध करने वाला थोड़े दिन के बीच यदुकुल में श्री कृष्णावतार होगा, उस बिन त्रिभुवन में तेरा सामना करने वाला कोई नहीं। यह बचन सुन बाणासुर अति प्रसन्न हो बोला, नाथ ! वह पुरुष कब अवतार लेगा, और मैं कैसे जानूंगा कि वह वहाँ उपजा ! हे राजा ! शिव जी ने एक ध्वजा बाणासुर को देके कहा कि इस बैरख को ले जाय अपने मंदिर के ऊपर

खड़ी करदे । जब यह ध्वजा आपसे आप टूट कर गिरे, तब तू जानियो कि मेरा रिपु जन्मा । महाराज ! जब शंकर ने उसे ऐसे कहा समझाय, तब बाणासुर ध्वजा ले निज घर को चला शिर नाय । आगे जाय ध्वजा मन्दिर पर चढ़ाय दिन दिन यही मनाता था कि कब वह पुरुष प्रगटे और मैं उससे युद्ध करूं । इसमें कितने एक वर्ष बीते । उसकी बड़ी रानी, जिसका बाणावती नाम था तिसे गर्भ रहा और पूरे दिनों एक लड़की हुई । उस काल बाणासुर ने ज्योतिषियों को बुलाय बैठाय के कहा कि इस लड़की का नाम और गुण गिन कर कहो । ज्योतिषियों ने उस लड़की का नाम ऊषा धर के कहा कि महाराज ! यह कन्या गुण रूप शील की खान महाजान होगी । इस बात के सुनते ही बाणासुर ने अति प्रसन्न हो पहिले बहुत कुछ ज्योतिषियों को दे बिदा किया; पीछे मंगलामुखियों को बुलाय मंगलाचार करवाय, पुनि ज्यों ज्यों वह कन्या बढ़ने लगी त्यों त्यों बाणासुर उसे अति प्यार करने लगा । जब ऊषा सात वर्ष की भई तब उसके पिता ने शोणितपुर के निकट कैलाश था यहाँ कई एक सखी सहेलियों के साथ उसे शिव पार्वती के पास पढ़ने को भेज दिया । ऊषा गणेश, सरस्वती को मनाय, शिव पा र्ती के सन्मुख जाय हाथ जोड़ शिर नाय विनती कर बोली कि हे कृपासिन्धु ! शिव-गौरी ! दयाकर मुझ दासी को विद्या–दान कीजै, ऊषा के अति दीन बचन सुन शिव पार्वती जी ने उसे प्रसन्न हो विद्या का आरम्भ करवाया । वह नित प्रति जाय जाय पढ़ पढ़ आवै । इसमें कितने एक दिनों के बीच सब शास्त्र पढ़ गुण विद्यावती हुई, और सब यंत्र बजाने लगी । एक दिन ऊषा पार्वती जी के साथ मिलकर बीणा बजाय सांगीत की रीति से गाय रही थी कि, उस

काल शिव जी ने आय पार्वती से कहा कि हे प्रिये ! मैंने जो कामदेव को जलाया था तिसे अब श्रीकृष्ण जी ने उपजाया। इतना कह महादेव जी गिरजा को साथ ले गंगा तीर पर जाय नीर में न्हाय न्हिलाय अति लाड़ प्यार से लगे पार्वती जी को वस्त्र आभूषण पहिराने, निदान अति आनन्द में मग्न हो डमरू बजाय बजाय ताण्डव नाच नाच सांगीत शास्त्र की रीति से गाय गाय शिव को लगे रिझाने। उस समय ऊषा शिव गौरी का सुख देख देख पति के मिलने की अभिलाषा कर मनही मन कहने लगी कि मेरा भी कन्त होय तो मैं भी शिव पार्वती की भांति आनन्द करूं। पति बिन कामिनी ऐसी शोभा हीन है जैसे चन्द बिन यामिनी। महाराज ! जो ऊषा ने मन ही मन इतनी बात कही तो अन्तर्यामिनी श्री पार्वती जी ने ऊषा की अन्तर्गति जान उसे अति हित से निकट बुलाय प्यार कर समझाय के कहा कि बेटी ! तू किसी बात की चिन्ता मन में मत कर, तेरा पति तुझे स्वप्न में आय मिलेगा तू उसे ढुँढ़वाय लीजो। ऐसे बर दे शिवरानी ने ऊषा को बिदा किया, वह सब विद्या पढ़ बर पाय दण्डवत कर अपने पिता के पास आई। पिता ने एक मन्दिर अति सुन्दर निराला उसे रहने को दिया। और यह कितनी एक सखी सहेलियों को ले वहाँ रहने लगी और दिन दिन बढ़ने। महाराज ! जिस काल बाला बारह वर्ष की हुई तो उसके मुखचन्द्र की ज्योति देख पूर्णमासी का चंद्रमा छबि छीन हुआ; बालों की श्यामता के आगे अमावस्या की अँधेरी फीकी लगने लगी उसकी चोटी सटकाई लख नागिन अपनी केंचली छोड़ सटक गई। भौंह की बँकाई निरख धनुष धकधकाने लगा; आंखों की बड़ाई चंचलाई पेख मृगमीन खंजन खिसाय रहे। नाक की निकाई

निहार तिल फूल मुरझाय गया। ऊपर के अधर की लाली लख बिम्बाफल बिलबिलाने लगा; दाँत की पाँति निरख दाड़िम का हिया दड़क गया। कपोलों की कोमलता देख गुलाब फूलने से रह गया। गले की गोलाई देख कपोत कलमलाने लगे। कुचों की कोर निरखि कमलकली सरोवर में जाय गिरी। उसकी कटि की कृशता देखि केशरी ने बनवास लिया। जाँघों की चिकनाई देख केले ने कपूर खाया; देह की गुसई निरख सोने को सकुच भई और चम्पा मुँह चोर हुआ। कर पद के आगे पद्म की पदवी कुछ न रही। ऐसी वह गजगामिनी, पिकबयनी, नवबाला यौवन की सरसाई से शोभायमान भई, जिसने इन सब की शोभा छीन ली।

———————

हरिश्चन्द्र के समय
से
आज तक

राजा शिवप्रसाद

[१८२३—१८६५ ई०]

——:०:——

प्रत्येक भाषा के गद्य के इतिहास में प्राय: दो प्रकार की प्रवृत्तियों का समय समय पर आघात-प्रतिघात हुआ करता है। गद्य-लेखकों के दो संप्रदाय हुआ करते हैं, जो मौक़ा पाकर तथा जनता की रुचि-वैचित्र्य का पता लेकर अपने सिद्धान्तों की धूम मचाते रहते हैं। यदि किसी समय अधिकांश लेखक भाषा की शुद्धता का विचार उन्नत रख कर ऐसा गद्य लिखते हैं जिसमें अन्य भाषाओं के शब्द तथा मुहावरे ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलते और इस प्रकार जिसकी वेश-भूषा में ऊपर से नीचे तक देशीपन होता है; कालान्तर में या उसी समय दूसरे प्रकार के लेखकों का झुंड तैयार देख पड़ता है। ये लेखक शुद्ध गद्य के पक्षपातियों के सिद्धान्तों के ठीक उलटे चलते हैं और स्वयं ऐसी शैली का अनुसरण करते हैं जिसमें भावों को प्रभावपूर्ण तथा विशद रीति से व्यक्त करने के उद्देश्य से इस बात का विचार बिलकुल नहीं रक्खा जाता कि जो शब्द प्रयुक्त हों वे अपनी भाषा के हों अथवा अन्य भाषाओं से उधार लिये गये हों।

हिन्दी-गद्य की विकास-धारा में भी इन दो प्रकार की लेखन-प्रणालियों का संघर्षण लल्लूलाल के समय से होता आ रहा है। स्वयं लल्लूलाल ने अपनी पुस्तकों की भाषा में से फ़ारसी-मिश्रित हिन्दी, अथवा यों कहिए कि, उत्कृष्ट उर्दू को यथाशक्ति हटाने का प्रयत्न किया था। परन्तु उनकी इस संकुचित प्रवृत्ति का उत्तर उनके समकालीन सदल मिश्र ही ने दिया। मिश्र जी ने एकदम हिन्दी-गद्य का रुख़ संस्कृत तथा व्रजभाषा की ओर से बोलचाल की खड़ी बोली की ओर कर दिया। सैयद इंशाअल्लाहख़ाँ ने भी इस बात में उनको अच्छा योग दिया। इंशा ने लल्लूलाल की व्रजभाषा की मिठास के बदले में उर्दू का चटपटापन लेकर हिन्दी-गद्य को एक नई दिशा में प्रेरित किया।

राजा शिवप्रसाद को भी हम सैयद इंशा तथा सदल मिश्र का समकक्ष इस अर्थ में कह सकते हैं कि वे भी इस मत के घोर परिपोषक थे कि हिन्दी-गद्य को संस्कृत के साँचे में ढालना केवल अवाँछनीय ही नहीं है, वरन् हानिकारक भी है। हिन्दी-गद्य के मध्यकालीन धुरन्धरों में हम राजा साहब को भी स्थान देते हैं। उन्होंने कतिपय स्पष्ट सिद्धान्तों को दृष्टिगत रखकर गद्य लिखने में हाथ डाला था। 'भाषा का इतिहास' शीर्षक लेख में उन्होंने गद्य-शैली पर अपने विचार निर्भीक होकर प्रकट किए हैं। उनके कहने का सारांश यह जान पड़ता है कि संस्कृत तथा फ़ारसी दोनों को अत्यधिक

परिमाण में हिन्दी-गद्य में मिश्रित करना हेय है, क्योंकि ऐसा करने से आप एक ऐसी भाषा का जन्म देंगे जो सर्वसाधारण के लिए बहुत ही क्लिष्ट तथा दुरूह होगी और फल यह होगा कि हिन्दी-गद्य के ग्रन्थों का जनता में प्रचार होना मुश्किल हो जायगा। फिर यह होगा कि गद्य जहाँ है वहीं बना रहेगा, उसकी उन्नति रुक जावेगी और वह अपांग सा हो जावेगा। राजा साहब का यह ध्येय था कि चूँकि हिन्दी और उर्दू दिन दिन अपने अपने कट्टर पक्षपातियों के संकुचित विचारों के कारण एक दूसरे से अलग हो रही थीं, उनके बीच में किसी न किसी तरह पुल बनाया जावे। इस पुल के बनाने का काम स्वयं उनके हाथों से प्रारम्भ हुआ था। उन्होंने शुद्ध ब्रजभाषा तथा बहुतेरे तत्सम शब्दों को ऐसी कारीगरी से एक दूसरे के कन्धे से कन्धा मिला कर रखना शुरू किया कि पढ़ने वाले को उनके अत्यन्त रसीले गद्य में आज भी कोई बात ज़रा भी नहीं खटकती। उदाहरणार्थ, 'संस्कृत की पुस्तकें तलाश होने लगीं', 'कविताई को रौनक़ दी' इस प्रकार के अनेक वाक्यांश मिलेंगे जिनमें उन्होंने हिन्दी और उर्दू का संयोग किया है।

इस सम्बन्ध में राजा साहब की गद्य-शैली की कुछ विशेषताओं पर विचार करना है। अभी कहा जा चुका है कि राजा शिवप्रसाद का मुख्य उद्देश्य हिन्दी और उर्दू को मिलाने का था। इतना और भी कहना है कि ऐसा करते हुए भी

उनका झुकाव उर्दू की ओर अधिक रहा है, क्योंकि यदि उनके गद्य का एक पृष्ठ भी ध्यान से पढ़ा जाय तो यह प्रतीत होता है कि उनको उर्दू शब्दों तथा मुहावरों पर अधिक अधिकार था। कहीं कहीं पर तो उन्होंने आवश्यकता से अधिक फ़ारसीपन भर दिया है। तब भी यह मानना पड़ता है कि उनके गद्य में एक विशेष प्रकार का लालित्य है। कारण यह है कि वे जिस बात को कहते हैं उसे रोचक बनाने में कोई कसर नहीं रख छोड़ते; इंशा की भाँति छोटी से छोटी घटना को घुमा फिरा कर कहना राजा साहब ख़ूब जानते हैं। इसी वाग्विस्तर (Periphrasis) के गुण की उपस्थिति से उनका गद्य एक उत्तम श्रेणी के गद्य का नमूना समझा जाता है। इस रोचकता का सर्वोत्तम उदाहरण उनके 'इतिहास-तिमिरनाशक' से उद्धृत 'औरंगज़ेब की फ़ौज' के वर्णन में मिलेगा।

राजा साहब के गद्य में और भी कुछ विशेषतायें हैं। उसकी भाषा वास्तव में परिष्कृत है और उससे नागरिकता टपकती है। उसमें ग्रामीणता का पूर्णरूपेण अभाव है; पं० प्रतापनारायण मिश्र तथा बाबू बालमुकुन्द गुप्त के गद्य में जो चोज़ तथा मसख़रापन कूट कूट कर भरा है तथा उसमें जिस प्रकार लोकोक्तियों और चुटकुलों की भरमार है वह सब राजा शिवप्रसाद के गद्य में खोज करने पर भी नहीं मिल सकता। इसके सिवाय पं० बालकृष्ण भट्ट तथा पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

का सा पाण्डित्य-प्रदर्शन राजा साहब नहीं जानते। वे अपने गद्य से केवल दो काम लेते हैं। एक तो उसके द्वारा वे अपने भाषा-विषयक निश्चित सिद्धान्तों का समर्थन करते हैं अर्थात् मिश्रित लेखन-शैली का प्रचार करते हैं। दूसरे उससे वे अपनी वर्णनात्मक शक्ति का परिचय देते हैं। वास्तव में इस वर्णन-शक्ति की प्रगल्भता का श्रेय राजा साहब की उर्दू-फ़ारसी की विद्वत्ता को ही है।

उनकी गद्य-रचना के विषय में दो बातें और उल्लेख्य हैं। उनके समय में वाक्यों तथा वाक्य-समूहों को एक दूसरे से विभक्त करने की प्रथा का अधिक प्रचार नहीं हुआ था। लेखकगण लिखते समय विराम आदि के चिन्हों का विचार न करते थे; आदि से अन्त तक एक ही साथ लिखते चले जाते थे। राजा साहब ने भी उसी परिपाटी का अनुसरण किया है। शायद वे स्वयं इस बात में उर्दू का अनुकरण करते रहे हों, क्योंकि उर्दू में सिवाय आड़ी लकीरों के और कोई भी विराम-चिन्ह प्रायः नहीं प्रयुक्त होते। उन्होंने सदैव केवल गद्य की भाषा की ओर ही ध्यान दिया, पद-निर्माण, वाक्य-रचना आदि वैयाकरणिक बखेड़ों को हाथ में नहीं लिया। इन बातों का निश्चय उनके बाद के गद्य-लेखकों ने किया है।

एक बात राजा साहब के गद्य में अजीब सी है। 'निदान' शब्द का वे बेतरह प्रयोग करते हैं। शायद इसका अर्थ यह हो सकता है कि उस समय तक हिन्दी में पैराग्राफ़िंग का

चलन न था, इससे पूर्वापर का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक प्रसंग समाप्त हो जाने पर दूसरे का सूत्र प्रारम्भ करते समय उस शब्द से काम लेना उन्होंने आवश्यक समझा हो।

अन्त में, राजा शिवप्रसाद को हम उन निर्माताओं में परिगणित कर सकते हैं जिन्होंने किसी निर्दिष्ट दिशा में हिन्दी–गद्य की धारा को घुमाया है, और जिनके प्रचलित किये हुए साहित्यिक सम्प्रदाय अब भी स्थित हैं। राजा साहब के अनुयायियों में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम सबसे महत्वपूर्ण है जिसका विवरण दूसरे स्थल पर दिया जावेगा। द्विवेदी जी ने राजा साहब की गिनती 'अवतारी' पुरुषों में की है।

———

(१)

औरंगज़ेब की फ़ौज का वर्णन

निदान अब ज़रा औरंगज़ेब की फ़ौज पर निगाह करनी चाहिये ज़रा इसके सर्दारों के घोड़ों को देखना चाहिये दुम और यालें बिल्कुल रंगी हुई सोने चाँदी के साज़ सिर से पैर तक लदे हुए कलग़ियां बहुत लंबी लंबी पैरों में झांझनें बंधी हुईं मोटे इतने कि जितने लम्बे शायद उसी के क़रीब क़रीब चौड़े और फिर चारजामे उन पर मख़मली ज़र दोज़ी बड़े भारी दोनों तरफ़ लटकते हुए सवार घोड़ों से भी ज़ियादा देखने के लाइक़ हैं कोई अपने से ज़ियादा भारी दगला और ज़िरह बकतर पहने हुए कोई घेरदार जामा और शाल दुशाले लपेटे हुए लेकिन चेहरे ज़र्द

रात के जागे नशे में चूर या दवा खाते पीते दस क़दम घोड़ा चला घोड़े को पसीना आया सवार बेहोश होगया अगर दूर चलना पड़ा दोनों बेदम होकर गिर पड़े जैसे सरदार वैसेही उनके पियादे और सवार लशकर में जहां दस सिपाही तो सौ बनिये दूकानदार भांड़ भगतिये रंडी छोकरे नौकर ख़िदमतगार ख़ानसामां रसद काहे को मिल सकती डेरे डंडे ऐश इशरत के साज़ सामान इतने कि कभी अच्छी तरह बार-बर्दारी की तदबीर न हो सकती तलवार पीछे रह जाय मुज़ाइका नहीं पर तंबूरा साथ रहना चाहिये दुश्मन वार किये जाय परवा नहीं पर चिलम न जलने पावे उस वक़्त का एक फ़रासीसी इस फ़ौज की ख़ूब तारीफ़ लिखता है वह लिखता है कि तनख़ाहें बहुत बड़ी बड़ी और चाकरी कुछ भी नहीं न कोई पहरा चौकी देता है न दुश्मन से मुक़ाबला करता है और बड़ी से बड़ी सज़ा हुई तो एक दिन की तनख़ाह कट जाती है जिमेली करेरी (Gemelli Carreri) ने मार्च सन् १६९५ ई० में औरंगज़ेब की छावनी गलगले में देखी थी वह लिखता है कि दस लाख से ऊपर आदमी थे और डेढ़ कोस में तो केवल बादशाह और शाहज़ादों के डेरे खड़े थे इनको काम पड़ा उन मरहटों से जो अँगरखा जाँघिया एक पेची पगड़ी पहने कमर कसे हाथ में भाला दक्खनी घोड़ों पर सवार तीस कोस तो हवा खाने को घूम आते थे न थकते न मांदे होते थे जौ बाजरे की रोटी पयाज़ के साथ उनका खाना था और घोड़े का ज़ीन तकिया ज़मीं न बिछौना और आसमान शामियाना था ।

['इतिहास-तिमिरनाशक' से]

(२)

भाषा का इतिहास

इस मुल्क के सबसे पहले रहने वाले कौन थे और उनकी बोली क्या थी अब कोई नहीं कह सकता। क्या वह बोली तामिल और तिलंगू की जड़ थी कि जो अब तक दक्खन में बोली जाती है, और संस्कृत से कुछ भी सरोकार नहीं रखती या उन बहुत सी बोलियों में से किसी की जड़ थी जो भूमिए भील गोंड़ चुवाड़ आदि विन्ध्या के आसपास जंगल झाड़ियों के रहने वाले बोलते हैं।

जो हो संस्कृत हर्गिज़ नहीं थी। संस्कृत इस मुल्क में आर्य लोगों के साथ यानी ब्राह्मण क्षत्री और वैश्यों के साथ कि जिनकी वह बोली थी उत्तर पच्छिम यानी हिमालय पार उत्तर कुरुदेश से आई। साबित है कि यहां के भूमिए इस मुल्क के हर हिस्से में जुदा जुदा क़िस्म की बोलियां बोलते थे। इससे यह मतलब नहीं कि किस क़दर क़दम बक़दम हटते हुए दक्खन को चले गये ख़ाह अगम्य जंगल पहाड़ों में पनाहगीर हुए। इसमें शक नहीं कि उनकी जमाअत ने शूद्र के नाम से अपने विजयी गोरे दुश्मनों की यानी आर्य लोगों की सेवा क़बूल की, और उनकी नई आबादियों में आबाद होकर गन्ती में आये, गो निहायत ख़ार और ज़लील और ख़िदमतगुज़ार थे। लेकिन ब्राह्मनों का पेशा पढने पढ़ाने का था, और इनकी बड़ाई और जीविका संस्कृत विद्या से थी, इस लिए उन्होंने एकबारगी शूद्रों के लिये दर्वाज़ा बंद कर दिया और उन्हें उसके पढ़ने पढ़ाने की बिल्कुल मनाही करदी, और सबब उस मनाही

का यह ठहराया कि पाणिनि का व्याकरण वेदाङ्ग है, और शूद्रों को सिखलाने की तो कौन सी बात है, और नाम उसका देववाणी रक्खा। सिवा इसके शूद्रों को संस्कृत शब्दों का शुद्ध उच्चारण करना भी बहुत कठिन पड़ा होगा, और प्राकृत के नाम से वह उनकी नई नई ज़बानें बन गयी होंगी। प्राकृत निकला है प्रकृति से। जब एक ज़बान से कोई दूसरी ज़बान निकलती है, असली ज़बान को उस दूसरी ज़बान की प्रकृति कहते हैं।

जो हो, यह तमाम प्राकृतें अर्थात् यहां के ज़िला ज़िला की बोलियां अर्थात् मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, शावरी, आभीरी, चांडाली, पैशाची आदि उच्च लोगों के नज़दीक गँवारी और बहुत नीच रहीं, और राजदरबार अर्थात् कचहरियों की ज़बान संस्कृत बनी रही। यहां तक कि मसीह के ५४२ बरस पहिले शाक्यमुनि गौतमबुद्ध ने एक ऐसा भारी उलट पुलट पैदा किया जो आज तक दुनिया में सुना नहीं गया। उसने अपना बयान अवाम को समझाना चाहा और उसने उनकी बोली में उपदेश शुरू किया। प्राकृत औरत, बच्चे, पढ़े, अनपढ़े समझते थे। इस मगध देश की प्राकृत अर्थात् मागधी जो बौद्धमत का मानो पालना थी, एकबारगी ऊँचे दरजे को पहुंच गयी, और वह ज़बान मज़हबी और वही दर्बारी क़रार पायी। और कई सौ कम दो हज़ार बरस गुज़रे हैं वररुचि ने उसका व्याकरण भी बना दिया। यहाँ तक कि बौद्धमत वालों ने बाप को बेटा और बेटे को बाप कर दिया। प्राकृत को असल और संस्कृत को उससे निकला बता दिया, लिख दिया, "एक ज़बान जो तमाम ज़बानों की असल है, और सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य और ब्राह्मण

जिन्होंने कभी कुछ कहा सुना न था बल्कि सर्वशक्तिमान बुद्धलोग भी उसी में बोलते थे और उसका नाम मागधी है।"

जब श्री शंकराचार्य ने आठवीं या नवीं सदी के क़रीब बौद्धों को यहां से निकाला तब संस्कृत को फिर जारी करने की कोशिश हुई लेकिन शंकरस्वामी के भी मक़दूर से बाहर था कि प्राकृत को नाश करें और संस्कृत को नित के तमाम और आपस की बोलचाल के लिये जारी ज़बान बनावें। गो इसमें शक नहीं कि चन्द रोज़ के लिये संस्कृत धार के राजा भोज और कन्नौज के राजा राठौर के दर्बारों में आबताब के साथ चमक गयी थी लेकिन प्राकृत को कुछ दिन बाद ऐसे कड़े और ज़बरदस्त दुश्मनों से काम पड़ा कि अब तक कभी नहीं आये थे। यह मुसलमान थे। यह फ़ारसी बोलते थे और इन्हीं के साथ फ़ारसी इस देश में आयी।

इन लोगों ने अपनी फ़ारसी के सामने प्राकृत का नाम हिंदवी रक्खा। इस ज़माने तक प्राकृत में धीरे धीरे बड़े उलट फेर होगये थे। संक्षेप और उच्चारण की सुगमता के लिये बहुतेरे शब्द बिलकुल बदल गये थे। नये नये शब्द शामिल होगये थे। पुराने मुश्किल से पहचाने जाते थे। तमाम दुनिया की ज़बानों का यही दस्तूर है।

लेकिन यह नयी फ़ारसी ज़िसने हमारी प्राकृत को भर दिया, ख़ुद अरबी से भरी हुई आई। अरबी संस्कृत से कुछ सरोकार नहीं रखती। प्राकृत ने फ़ारसी के साथ अरबी को भी अपने अन्दर जगह दी, और मुसलमानों का आईन क़ानून जो उस वक्त़ हिन्दुस्तान में जारी था, अरबी ज़बान में होने के कारण अरबी शब्द तमाम हिन्दुस्तान में, क्या बड़े आदमी और क्या अवाम, सबकी नित की बोलचाल में आगये।

अब इस ज़बान को अर्थात् उस प्राकृत को जिसमें फ़ारसी और अरबी मिली, हिन्दी कहो चाहे हिन्दुस्तानी, भाषा कहो चाहे ब्रजभाषा, रेख़ता कहो चाहे खरी बोली, उर्दू कहो चाहे उर्दूएमुअ़ल्ला उसके बीज तभी से बोये गये कि जब महमूद ग़ज़नवी ने चढ़ाई की और मुसलमानों की इस मुल्क पर तवज्जुह हुई, आठ सौ बरस से ज़ियादा गुज़रते हैं।

दिल्ली और आगरा दोनों उस वक्त़ गुमनाम थे। कन्नौज गोया हिन्दुओं के सल्तनत की राजधानी गिना जाता था। संस्कृत विद्या वहां अपने औज पर थी। मथुरा का शहर भी बड़ी रौनक़ पर था। लेकिन निहायत अफ़सोस की बात है कि उस वक्त़ की भाषा में लिखी हुई कोई पुस्तक अब नहीं मिली। सबसे पुरानी इस ज़बान की पुस्तक जो हम लोगों को हाथ लगी है मशहूर भाट चन्द का "पृथ्वीराज रासो" है। यह कहना मुश्किल है कि चन्द की ज़बान याने जिस ज़बान में उसने 'पृथ्वीराज रासो' लिखा है कन्नौज की ज़बान थी या मथुरा या कांगड़े की, या दिल्ली और अजमेर की, या उस ज़माने में इन मुक़ामों की बोलियों के दर्मियान कुछ ऐसा बड़ा फ़र्क़ न था। जो हो, कई सतरें लिखी जाती हैं। उनके देखने से मालूम हो जायगा कि हमारे पश्चिमोत्तर देश की ज़बान तब से अब किस क़दर बदल गयी और कैसी जल्द फ़ारसी शब्द उसमें मिलने लगे थे।

"मिले सेन सुरितान दिसा अन्नेक दिव्य भर।
दिव्यपाणि पद्धरी सुकरि सावस्य (?)—पर
गहि को दुसज्जि गज्जनि सुबर आतस चरित अनंत करि।
आवंत पंग सारध सयन मिल मन थाप्पिय थान लरि॥

तब कहै शाह साहब अहो तातारखान सुनि ।
खुरासान रुस्तमा जमन मारूफ खान पुनि ॥"

अब इस मुल्क में दो क़िस्म के आदमी होगये । एक जिन्हों ने इस मुल्क को फ़तह किया अर्थात् मुसलमान और दूसरे जो उनके तावे हुए अर्थात् हिन्दू । दर्बार की ज़बान फ़ारसी थी और दर्बार ही की ज़बान तमाम दुनिया में और तमाम ज़बान में उत्तम और माननीय समझी जाती है । गोया बिलकुल सभ्यता और वज़ादारी की वह जड़ हो जाती है । हिन्दू का सबसे बड़ा हौसिला यही था कि जहां तक बन पड़े इल्म और लियाक़त में मुसलमानों से बराबरी करें । बड़ी से बड़ी तारीफ़ उस वक्त हिन्दू की यही हो सकती थी कि उनके शेर ईरानियों के से मालूम होते हैं । हिन्दू लोग न केवल आपस के बीच फ़ारसी में चिट्ठी पत्री जारी रखते थे, वरन् अपने घर का हिसाब भी फ़ारसी में लिखते थे । सर हेनरी इलियट लिखते हैं कि "हिन्दू मुसन्निफ़ की तसनीफ़ में कोई बात ऐसी नहीं है जिससे उसकी क़ौम और उसका मज़हब ज़ाहिर हो सके । हाँ शायद किसी क़दर इबारत का ग़ैरफ़सीह और पुरतकल्लुफ़ होना अलबत्ता इस बात पर उंगली उठाता है कि ग़ैर की पोशाक उसके बदन पर कैसी बुरी मालूम होती है । यह हिन्दुओं को काफ़िर लिखता है, और मुसलमानों को मोमिन । यह पीरों की ऐसी ताज़ीम करता है गोया उनका चेला ही बन गया है । जब कभी हिन्दू मारे जाते हैं वह लिखता है जहन्नुम में दाख़िल हुए, और जब किसी मुसलमान का ऐसा हाल होता है तो लिखता है शहादत का शर्बत पीया । एक बूढ़ा हिन्दू मुसन्निफ़ जो बख़ूबी जानता होगा कि जल्द ही

चिता में फुंक कर और राख की ढेरी होकर गंगा में बहाया जायगा, अपने तईं बर किनारे गोर लिखता है। इसमें शक नहीं कि इनमें से बहुत सी बातें वह ग्रंथकर्त्ता ख़ुशामद की राह से जान बूझकर अपने मुसलमान मालिकों के ख़ुश करनेको लिखते होंगे, तौ भी हमको इस बात के लिखने के लिये कि प्राकृतों की नहरों में किस तरह फ़ारसी शब्दों की सैलाबी आ गयी बहुत काम की है।"

कबीर पन्द्रहवीं सदी के अन्त में सिकन्दर लोदी के ज़माने हुआ। उसकी तसनीफ़ों से अब भी बहुत कुछ बच रहा है। यह उसी का है—

छोड़ बदबख़्त तू क़हर की नज़र कूं
खोल दिल बीच जहां बसत हक्का।
अजब दीदार है अजब महबूब है
करन कारन जहां सबद सच्चा॥
लड़े दरदबंद दरवेश दर्गाह में
ख़ैर और मिहर मौजूद मक्का।
ज़िकर कर रब्ब का फ़िकर दरदफ़ै कर
कहे कब्बीर इह स.ख़ुन पक्का॥

बाबा तुलसीदास ब्राह्मण थे, पंडित थे, गोसांई थे, अकबर बादशाह के वक़्त में थे। उनकी रामायन है। अपने क़िस्म की अद्वितीय है। गो ज़बान किसी क़दर गँवारी है और संस्कृत शब्दों से भरी है, लेकिन कविताई में अपने क़िस्म की एक ही है। घोड़े की तारीफ़ में लिखते हैं :—

जगमगति जीन जड़ाउ जोति सुमोति मानिक तेहि लगे।
किंकिन ललाम लगाम ललित बिलोकि सुर नर मुनि उठे॥

इसी ज़माने के क़रीब क़रीब सूरदास हुए, उन्होंने कृष्ण के जस गाये। इनके पद मशहूर हैं। यह उनका कहा है :—

कीजै प्रभु अपने बिरद की लाज।
हौंहु पतित कबहूं नहिं आयों नैकु तुम्हारे काज ॥
माया सबल धाम बन बनिता, बांध्यौं हौं यहि साज।
देखत सुनत सबै जानत हौं तऊ न आयौ बाज ॥
कहियत बहुत काह जब ताने स्रवनन सुनी अवाज।
दियो न जात पार उतराई चाहत चढ़न जहाज ॥
लीजै पार उतारि सूर कों महाराज व्रजराज।
नयी न करत कहत प्रभु तुमसों सदा गरीब निवाज ॥

अब इसकी काफ़ी दलीलें पेश होगयीं कि, गो हिन्दुओं ने देवनागरी हरफ़ और अपना ख़ास उच्चारण और बहुत सा अपना व्याकरण बहाल और बक़रार रक्खा तौ भी फ़ारसी शब्दों को बहुत आज़ादी से काम में लाये।

मुसलमान घमण्ड के मारे अपने आधीन रअय्यत की ज़बान में बातचीत करना बेशक शर्मिन्दगी और बेइज़्ज़ती का कारण समझते होंगे, लेकिन उनके महल हिन्दुओं की लड़कियों से भरे थे। और उन्हें रात दिन काम ऐसे हिन्दुओं से पड़ा करता था जो फ़ारसी से कम वाक़िफ़ थे। बस यह घमण्ड धीरे धीरे कम हो गया। और अगर बिल्कुल ख़त-किताबत नहीं तो बोलचाल तो हिन्दुओं के साथ उनकी ज़बान में जारी हो गई। शैर भी उनकी ज़बान में एक अनोखापन दिखाने के लिये बनाने लगे। ख़्वाजा अबुलहसन ख़ुसरो जिसको अमीर ख़ुसरो भी

कहते हैं तेरहवीं सदी में इस क़िस्म की ग़ज़लें कहने लगा था :—

"ज़े हाले मिस्कीं मकुन तग़ाफ़ुल दुराय नैना बनाय बतियां।"

ग़ज़ल मशहूर है, लेकिन सभी ख़ुसरो की तरह 'तूतीये हिन्द' न थे। हिन्दी में हँसी के लायक़ ग़लतियां करते थे। उनकी हिन्दी ज़बान से तो हम नये आये विलायत के ताज़े डाल के टूटे साहब लोगों की हिन्दी बेहतर समझते हैं। मिसाल के लिये कुछ दक्खनी सादी का कलाम सुनिये। यह चौदहवीं सदी में हुआ था :—

"हमना तुम्हन की दिल दिया, तुम दिल लिया और दुख दिया।
हम यह किया तुम वह किया, ऐसी भली यह रीत है॥"

मलिक मुहम्मद जाइसवाले की मसनवी पद्मावत ऐसे ऐबों से ख़ाली है, और शीरीनी उसके कलाम से टपकी पड़ती है। मसनवी का दीबाचा :—

"सय्यद अशरफ़ पीर पियारा, जेहि मोंहिं पंथ दीन्ह उजियारा।
लेसा हिये प्रेमकर दिया, उठी जोति भा निर्मल हिया॥
मारग हुतो अन्धेर असूझा, भा उजेर सब जाना बूझा।
खार समुद्र पाय मोर मेला, बोहित धर्म कीन्ह कै चेला॥
जाके ऐस होहिं कनहारा, तुरत बेग सो पावै पारा।
दस्तगीर गाढ़े के साथी, जहँ अवगाह देहिं तहँ हाथी॥"

यह अकबर, जहांगीर और शाहजहाँ का ज़माना था कि जब किसी क़दर मुल्क में अमन-अमान रहने लगा, और लिखने पढ़ने की तरफ़ लोगों का दिल मुतवज्जिह हुआ। तर्जुमा के लिये संस्कृत पुस्तकें तलाश होने लगीं और हिन्दुओं के साथ राह रस्म बढ़ जाने से मुसलमान

शाइर भी कि जिनमें क्या कोई शाही ख़ान्दान से न होंगे बिल्कुल यहां की ज़बान में शैर कहने लगे। 'वली' इस क़िस्म का शाइर अव्वल कहा जा सकता है। यह उसी का है :—

"ताक़त नहीं किसी को कि एक हर्फ़ सुन सके।
अहवाल गर कहूं मैं दिले बेक़रार का॥
मसनदे गुल मंज़िले शबनम् हुई।
देख रुतबा दीदये बेदार का॥"

लेकिन मज़मून इन शायरों के पास सिवाय इश्क़ के और कुछ न था। कभी वह किसी का सरापा और नाज़ और अन्दाज़ बयान करते हैं कभी वह फ़िराक़ के दर्द में मुबतला हैं। इसके सिवाय और उनको कुछ सूझता नहीं। ऐसे मज़मूनों के लिये निहायत नर्म और शीरीं शब्दों के सिवा दूसरे काम में आ ही नहीं सकते। अगर फ़ारसी की वर्णमाला पर निगाह की जावे तो तुर्त साबित हो जावेगा कि इससे बढ़कर दुनिया में कोई ज़बान मुलायम और मीठी नहीं है। पर रोज़ बरोज़ हिन्दी शब्द इन शाइरों के नज़दीक सख़्त (श्रुतिकटु) ठहरते गये, और इनकी जगह फ़ारसी और अरबी शब्द भरती होने लगे, मसलन् पहिले "पंखड़ी" काम में आता था, लेकिन बाद जो शाइर हुए उनके कानों में इस शब्द ने घाव किया। तुर्त 'बर्गेगुल' से बदल दिया — और इस तरह पर क़दम बक़दम खिंचते हम लोग मिर्ज़ा नौशाह असदुल्लाह ख़ां 'ग़ालिब' और मिर्ज़ा रजबअली बेग 'सुरूर' की उर्दूएमुअल्ला को पहुंचे।

दिल्ली राजधानी थी और राजा की बोली बोलियों की राजा समझी जाती है। दिल्ली के क़िले की ज़बान सबके लिये सनद हो गयी।

लेकिन यह केवल क़िले ही की ज़बान थी। ज़िले में जाट गूजरों की ज़बान से बढ़कर शायद किसी दूसरी ज़बान में दिहक़ानियत न मिले।

इस उन्नीसवीं सदी के शुरू में डाक्टर गिलक्रस्ट साहब ने मीर अमन दिहलवी, बाग़बहार के मुसन्निफ़, और लल्लूलाल जी कवि आगरे-वाले प्रेमसागर के मुसन्निफ़ को हुक्म दिया कि नसर (गद्य) की कुछ किताबें इस मुल्क की ज़बान में ऐसी बनावें कि जिनको पढ़कर साहब लोग इस मुल्कवालों की बोली समझ सकें, और इस मुल्क वाले जो कुछ कि साहब लोग उनसे बोलें उसको समझ लेवें। दोनों ग्रन्थकर्त्ता बेशक हैरान हुए होंगे, क्योंकि यह उनके लिये बिल्कुल नयी बात थी। दोनों ने किताब बनायी, मगर दोनों को एक एक नयी ज़बान बनाना पड़ी। लल्लू जी ने तो अपने प्रेमसागर में से बिल्कुल फ़ारसी शब्द निकाल डाले, यहां तक कि अपने मुरब्बी डाक्टर गिलक्रस्ट के लिये भी साहब का शब्द नहीं लिखा। अफ़सोस लल्लू जी यह भूल गये कि ख़ुद उनका नाम आधा अर्थात् 'लाल' फ़ारसी है (?)

लेकिन अब बादशाह और बादशाही दोनों दिल्ली और लखनऊ की हमेशा के लिये दर्याबुर्द हुईं। क़िला और महल सब हिन्दुस्तान के नक़शे में सुर्ख़ रंगे गये। शाइर झूठे और ख़ुशामदी जो अब तक हमारी ज़बान के लिये सनद समझे जाते थे हर तरफ़ तितर बितर होगये। और लोहे की सड़क और धूएं की गाड़ियाँ अब नित हर तरह की प्रजा के लोगों को भारतवर्ष के हर एक हिस्से और कोनों से ले जाकर आपस में मिलाती हैं। वह ज़रूर एक दूसरे से बातचीत करेंगे और एक दूसरे की सुनेंगे। तो अब क्या करना चाहिए! क्या उर्दूएमुअल्ला सीखने के लिये दिल्ली के

क़िले में जावें ? दिल्ली खुद अब दूसरे दर्जे का शहर गिना जाता है। क़िले में वह दीवान ख़ास जिसमें अबतक लिखा हुआ है "अगर फ़िर्दौस बररूए ज़मीनस्त। हमीनस्तो हमीनस्तो हमीनस्त" अजाइबख़ाना बनायी गयी। अगर वहां सनद के लिये किसी शाइर को तलाश करें तो पहरे वाले गोरे और संतरी "हुक्मदर" (who comes there ?) पुकारते हैं। पस हम लोगों को अब सनद के लिये किसी दूसरी तरफ़ देखना चाहिये।

अटकल से कम ज़ियादा कोई पचास बरस गुज़रे होंगे, सर्कार ने अपनी कचहरियों से फ़ारसी ज़बान उठा दी, और हुक्म दिया कि इस मुल्क की बोली में काम किया जावे। ज़बान फ़ारसी तो उठ गयी, मगर हरफ़ फ़ारसी ज्यों के त्यों बने रहे। नतीजा यह निकला कि एक नई ज़बान हुई अर्थात् कचहरी की ज़बान।

बलवे के पहले सरिश्ते तालीम इस देश में क़ायम हुआ और बहुतायत से यहां की ज़बान में किताबें छापी गयीं, लेकिन इसमें भी किसी क़दर वही ग़लती हुई जो डाक्टर गिलक्रस्ट के वक्त में अफ़सोस का कारण हुई थी अर्थात् पंडित लोग सोचते हैं कि जितने असली संस्कृत शब्द (चाहे वह समझ में आवें या नहीं) लिखे जावें उतनी उनकी नामवरी का सबब है, और इसी तरह मौलवी लोग फ़ारसी और शब्दों के लिये सोचते हैं। ग़रज़ पुल बनाने के बदले दोनों ख़ंदक को गहरा और चौड़ा करते चले जाते हैं। उन लोगों ने अपने नज़दीक एक का नाम हिन्दी रक्खा है और दूसरे का नाम उर्दू।

शुद्ध हिन्दी के तरफ़दार (और उनमें बड़े बड़े ज़बरदस्त आदमी

हैं) हर्गिज़ खुश न होंगे, जब तक कि हम लोगों की ज़बान से सारे फ़ारसी शब्द निकाल बाहर न किये जावें। वह लोग फ़ारसी के आने से पहले जो प्राकृत शब्द जारी थे उन पर भी संतोष न करके वेदों का ज़माना लाना चाहते हैं। वह अपने शब्दों को बिल्कुल नये सिरे से पाणिनि की टकसाल में ढलवाना चाहते हैं। वह ख़ुद नहीं जानते कि इस अपनी ख़याली ज़बान का क्या नाम रखें। भुलावे के लिये वह कभी कभी उसको ब्रजभाषा और ज़बान के शब्दों को ख़ारिज नहीं करती है। सुनिये भिखारीदास अपने "काव्यनिर्णय" में क्या कहता है—

"ब्रजभाषा भाषा रुचिर कहै सुमति सब होय।
मिलै संस्कृत पारस्यौ पै अति सुगम जो होय॥"

और भी एक कवि ने कहा है—

"अन्तरवेदी नागरी गौड़ी पारस देस।
अरु अरबी जामें मिलै मिश्रित भाषा बेस॥"

यह ज़बान (ब्रजभाषा) अब थोड़ी दूर में अर्थात् केवल मथुरा के ज़िले में और उसके आसपास बोली जाती है। राजा जयसिंह सवाई जयपुरवाले ने बड़े बड़े भारी इनआम देकर ब्रजभाषा की कविताई को रौनक़ दी। उसने बिहारी के दोहरों के लिये एक एक अशरफ़ी दे डाली, और सच तो यों है कि बिहारी ही ने ब्रजभाषा को अमर किया। अक्सर छन्दों में जो हिन्दुओं को पसन्द हैं ब्रजभाषा के कारन सहज में कविता बन जाती है। इसी लिए हिन्दुस्तान के और भी हिस्सों में कवि लोग इस ज़बान को काम में लाते हैं। यह दोहरा बिहारी का है—

"लिखन बैठि जाकी सबिहिं गहि गहि गरब गरूर।

भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ॥"

ऐसी शुद्ध हिन्दी चाहने वाले को हम इस बात पर यक़ीन दिला सकते हैं कि जब तक कचहरी में फ़ारसी हरफ़ जारी हैं इस देश में संस्कृत शब्दों के जारी करने की कोशिश बेफ़ायदा होगी।

तो हम लोगों को क्या करना चाहिये, किस तरफ़ फिरना चाहिये जिसमें हमको सीधी राह मिले। हम लोगों की ज़बान का व्याकरण किसी क़दर क़ाइम हो गया है। जो बाक़ी है जिस क़दर जल्द क़ाइम हो जावे बिहतर। इस ज़बान का दर्वाज़ा हमेशा खुला रहा है और अब भी खुला रहेगा उसमें शब्द बेशक आये और बराबर चले आते हैं, क्या भूमियों की बोली, क्या संस्कृत, क्या यूनानी (यहां तक कि यूनानी लफ़्ज़ 'दीनार' पुरानी पुरानी संस्कृत पोथियों में भी पाया जाता है) क्या रूमी क्या फ़ारसी क्या अरबी क्या तुर्की क्या अँग्रेज़ी क्या किसी मुल्क के शब्द जो कभी इस दुनिया के पर्दे पर बसे हैं या बसते हैं सब के वास्ते इसका दर्वाज़ा खुला रहा है और अब भी खुला रहेगा; अब इसे बन्द करने की कोशिश करना सिवाय इसके कि किस क़दर मूजिब हमारे हान और नुक़सान का है सोचना चहिये कि कैसा असम्भव है। रोकटोक बेशक मुनासिब है और यही हो सकती है। वह कौन मनुष्य है कि अपने ताल में जिससे तमाम गांव सिंचते हैं, पानी आने की नालियाँ बन्द करे। गंगा की धारा का बहना तो आप बन्द नहीं कर सकते लेकिन यह अवश्य कर सकते हैं कि बाँध और पुश्ते बनाकर उन्हीं के दर्मियान उसको रखें। अगर बढ़ आवे समय समय पर उन बाँधों को हटा के और उनकी मरम्मत कराके ज़ियादा फैलाव देते जावें।

हम लोगों को जहां तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिये कि जो आमफ़हम व ख़ास पसन्द—अर्थात् जिनको ज़ियादा आदमी समझ सकते हैं और जो यहां के पढ़े लिखे आलिम फ़ाज़िल पंडित विद्वान की बोलचाल में छोड़े नहीं गये हैं और जहाँ तक बन पड़े हम लोगों को हर्गिज़ ग़ैर मुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिये और न संस्कृत की टकसाल क़ायम करके नये नये ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिये, जब तक कि हम लोगों को उसके जारी करने की ज़रूरत न साबित होजाय, अर्थात् यह कि उस अर्थ का कोई शब्द हमारी ज़बान में नहीं है, या जो है अच्छा नहीं है, या कविताई की ज़रूरत या इल्मी ज़रूरत या कोई और ख़ास ज़रूरत न साबित हो जाय। मैंने अक्सर बड़े बड़े मशहूर मुसन्निफ़ और शाइरों से पूछा कि साहिब आप कोई फ़ाइदा बतला सकते हैं कि जिससे हर एक शब्द को छोड़कर दूसरे को इख़्तियार करें। सबने एक ज़बान यही जवाब दिया कि "जो कान को अच्छा लगे" अब मुश्किल यह है कि कान सब लोगों का एक ही नहीं है। एक के कानों को एक ल.फ्ज़ अच्छा लगता है और दूसरे के कानों को दूसरा। जो हो। हम लोगों को एक हिन्दू जानूसन दर्कार है कि जो काम अँग्रेज़ी जानूसन ने अंग्रेज़ी ज़बान के लिये किया है हमारी ज़बान के वास्ते करे अर्थात् जिसकी खोज और तलाश से हमारी ज़बान की यक़ीनी हद्दें क़ायम हो जावें और उनके अन्दर काफ़ी फैलाव रहे कि ज्यों ज्यों तरक्क़ी होती जाय गुंजाइश मिलती जाय। इसमें अरबी फ़ारसी संस्कृत (और अब कहना चाहिये अँग्रेज़ी) के भी शब्द कन्धे से कन्धा भिड़ाकर चमक दमक रौनक़ पावें।

स्वामी दयानन्द सरस्वती

(१८२४—१८८३)

—:०:—

स्वामी दयानन्द के गद्य के विषय में विशेष कुछ कहने के पूर्व दो बातों का स्मरण रखना पड़ता है। एक तो यह कि वे काठियावाड़ के निवासी थे और उनकी मातृभाषा गुजराती थी। दूसरी बात यह है कि स्वामी जी एक युगपरिवर्तनकारी मत के प्रवर्तक थे और उनका जीवन उसके सिद्धान्तों के प्रचार में ही बीता। देश में भ्रमण करते हुए जगह जगह बड़े दिग्गज पंडितों से शास्त्रार्थ करने में ही वे लगे रहे।

इन्हीं दो बातों से स्वामी जी की लेखन-शैली की तालिका मिल जाती है।

प्रारम्भ से ही स्वामी जी का अधिकांश समय वैदिक ग्रन्थों के पठन-पाठन में व्यतीत हुआ और बड़े बड़े विद्वानों के सहवास में रहने तथा समय समय पर उनसे अपने मत के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने से उन्हें संस्कृत में लिखने पढ़ने तथा बोलने का अभ्यास हो गया। बाद को, जब देश के भिन्न भिन्न प्रान्तों में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए उन्हें पर्यटन करना पड़ा, शास्त्रार्थ में नित्य सम्मिलित होकर खंडन-

मंडन करने की आदत सी उन्हें बनानी पड़ी। इसके सिवाय जनसाधारण तक अपने विचार पहुँचाने के अभिप्राय से उन्हें व्याख्यान भी ख़ूब देने पड़े। तात्पर्य यह है कि स्वामी जी प्रधानत: संस्कृतज्ञ थे, क्यों कि वेदों का नया भाष्य करने के लिए उन्हें शुरू से ही संस्कृत पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ी थी। हिन्दी में भी उन्हें काफ़ी अभ्यास प्राप्त करना पड़ा था। बात यह थी कि स्वामी जी की नस नस में देश-प्रेम तथा राष्ट्रीयता के भाव भरे थे, और उन्हें अपने वैदिक मत के प्रचार के लिए एक ऐसी भाषा का आश्रय लेना अनिवार्य था जिसके द्वारा समस्त देश के अधिकांश लोगों तक उनका नया सन्देश पहुँच सके। एवं, उन्हें आभास हो गया था कि हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जो इस काम के लिए सर्वथा उपयुक्त है और, हो न हो, किसी समय उसी को राष्ट्र-भाषा बनने का सौभाग्य प्राप्त हो सकेगा। तभी स्वामी जी ने अपना मुख्य ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' हिन्दी में लिखा।

'सत्यार्थप्रकाश' की मुहावरेदार भाषा को देख कर कुछ लोगों को सन्देह होता है कि वह स्वामी जी का लिखा हुआ नहीं है, किन्तु उनके बतलाये हुए भाव किसी अन्य लेखक ने अपने ढंग से लिखे हैं। यह इस लिए कहा जाता है कि स्वामी जी वस्तुत: एक संस्कृतज्ञ थे और साथ ही साथ दूसरे प्रान्त के निवासी थे। इस लिए उस तरह की चटकीली, मुहावरेदार भाषा लिखना उनके लिए कम सम्भव हो सकता है।

इस भाषा–विषयक सन्देह को स्वामी जी के लिखे हुए पत्रों की भाषा से आधार मिल जाता है। आगे जो पत्र दिये गए हैं उनकी हिन्दी में कुछ विशेषतायें हैं।

पत्रों के लेखक की संस्कृतमयता का पता यों लगता है कि उनमें कई शब्दों का लिंग–विचार संस्कृत के अनुसार किया गया है, जैसे 'पुस्तक' शब्द जो संस्कृत में नपुंसक लिंग है पर हिन्दी में स्त्रीलिंग है, उसका प्रयोग यों किया गया है। "यद्यपि मैंने सब पुस्तक गण-पाठ का नहीं देखा है।" हिन्दी-व्याकरण के नियमों के अनुसार यही वाक्य "मैंने सब पुस्तक गण-पाठ की नहीं देखीं" लिखा जाता।

इसके सिवाय स्वामी जी बहुधा तद्भव शब्दों को छोड़कर तत्सम शब्दों का ही प्रयोग करते थे। जैसे 'पुराने' के लिए 'पुराणों' तथा 'सब' के स्थान में 'सर्व' लिखा करते थे।

उनके गद्य की संस्कृतता का प्रमाण और भी मिलता है। अन्य प्रान्तीय लेखक होने से खड़ी बोली अथवा मुहावरेदार मिश्रित हिन्दी से सुभिज्ञ अथवा सम्यक् अभ्यस्त न होने के कारण वे संस्कृत की कुछ धातुओं के मूलरूप हो व्यवहृत करते थे। जैसे 'किया है' की जगह 'करा' है तथा आज्ञाप्रदर्शक क्रिया 'रखना' की जगह 'धरना' लिखते हैं।

स्वामी जी के इस प्रकार संस्कृत-मय गद्य में भाषा की द्रुति बड़ी मन्द प्रतीत होती है। उसमें उस सौन्दर्य्य का अभाव रहता है जो अभ्यस्त लेखकों की भाषा में होता है।

अभी जिन पत्रों की भाषा के सम्बन्ध में संकेत किया जा चुका है उन्हीं से यह ज्ञात होता है कि लेखक को हिन्दी पर स्वाभाविक अधिकार प्राप्त नहीं है।

फिर भी स्वामी जी के संस्कृत-मय गद्य में कई बातें उल्लेख्य हैं। एक तो वे जो कुछ लिखते हैं वह बड़ा ओजपूर्ण तथा प्रभावशाली होता है, या यों कहिए कि उससे स्वामी जी के आमर्ष-युक्त स्वभाव तथा मानसिक शक्ति का परिचय मिलता है। वैसे भी प्रसिद्ध है कि वे बड़े तिग्म-प्रकृति पुरुष थे, और उनकी वक्तृत्वशक्ति भी अद्वितीय थी। मुंशी समर्थदान जी के नाम उन्होंने जो पत्र लिखा था उसमें पंडित ज्वालादत्त शर्मा को 'विक्षिप्त' आदि भाव-पूर्ण विशेषणों से भूषित किया है तथा उनकी लिखने की असावधानता की 'घास काटने' से तुलना की है। इन सब बातों से प्रकट होता है कि एक शक्तिपूर्ण गद्य-शैली में लिखने का उन्हें पूरा अभ्यास था। यह दूसरी बात है कि उनकी भाषा में कभी वैयाकरणिक शैथिल्य होता था, जो उनके लिए गुजराती होने के कारण स्वाभाविक ही था।

स्वामी जी के गद्य में हास्य और व्यंग दोनों की ख़ासी मात्रा रहती है। वास्तव में यदि 'सत्यार्थप्रकाश' स्वयं उनका लिखा हुआ न भी हो, तो भी यह निर्विवाद सिद्ध है कि उसके कथनोपकथनों में जो रोचकता है तथा उनमें जो भाव हैं उनको प्रेरक शक्ति केवल मात्र स्वामी जी से मिली होगी। पं० भीमसेन शर्मा अथवा पं० ज्वालादत्त शर्मा अकेले 'सत्यार्थप्रकाश' की

भाषा को सजीव बनाने में कदापि समर्थ न हो सकते थे।

हिन्दी-गद्य के इतिहास में स्वामी दयानंद तथा आर्य-समाज सदैव स्मरणीय रहेंगे। हिन्दी का प्रचार सारे देश में करने वालों में स्वामी जी का सब से पहला स्थान है। आर्य-समाज का प्रवर्तन करके उन्हों ने लोगों के हृदयों में 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' तीनों के प्रति प्रेम उत्पन्न करने की चेष्टा की। अपने नये सुधारक मत को देशव्यापी बनाने के उद्देश्य से हिन्दी में ही उन्होंने सामाजिक पुस्तकें लिखीं। सच्चे प्रचारक की भाँति उन्होंने अपने व्याख्यानों तथा लेखों में बड़ी सुबोध तथा रोचक भाषा का प्रयोग किया। हिन्दी-गद्य को अपनी अनिश्चितता की दशा में, जब कि उर्दू उस पर रेढ़ मार रही थी, स्वामी जी तथा उनके अनुयायियों के हाथ से एक सुचारु रूप धारण करने का अच्छा मौक़ा मिला। सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि अभी तक लेखक, जिस निरुद्देश्य रीति से, आँखें बन्द किये, गद्य लिखते रहे थे उसका लोप हुआ और आर्यसमाज से प्रचार-प्रधान मत के द्वारा, केवल लोगों के दिलों में असर करने की नियत से, तत्कालीन गद्य-लेखकों की भाषा में ओज, शाब्दिक निर्दिष्टता (Precision) और रोचकता का समावेश हुआ।

(१)

हिमालय-यात्रा

मैं कुछ दिन तक अकेला हृषीकेश में रहा, इस अवसर में एक

ब्रह्मचारी और दो पहाड़ी साधू भी आ मिले, फिर हम सब के सब वहां से स्थान टेहरी को चले गये। यह स्थान विद्या की वृद्धि के कारण साधुओं और राज-पंडितों से पूर्ण और प्रसिद्ध था, इन पंडितों में से एक दिन एक पंडित ने अपने यहां मेरा निमंत्रण किया, और नियत समय पर एक आदमी मेरे बुलाने के लिये भेजा, उसके साथ मैं और ब्रह्मचारी दोनों उसके मकान पर पहुंचे।..........

तत्पश्चात् मैं कुछ दिन तक स्थान टेहरी में ही रहा और इन्हीं पंडित साहब से मैंने कुछ पुस्तकों और ग्रन्थों का हाल जो मैं देखना चाहता था दरयाफ्त किया, और यह भी पूछा कि ये ग्रन्थ इस शहर में कहां कहां पर मिल सकते हैं, यह सुन पंडित साहब ने संस्कृत व्याकरण के कोष (जो बड़े बड़े कवियों के बनाये हुये) ज्योतिष और तंत्र आदि की पुस्तकों का नाम लिया। इनमें से तंत्र की पुस्तकें मेरी देखी हुई नहीं थीं इस लिये उनसे माँगी और उन्हों ने शीघ्र थोड़ी सी पुस्तकें उसी प्रकार की ला दीं। उनके खोलते ही मेरी निगाह एक ऐसे विषय पर पड़ी कि जिसमें बिलकुल झूंठी बातें, झूंठे तरजुमे और झूंठे अर्थ थे। देख कर मेरा जी कांपने लगा।

इसके बाद मैं श्रीनगर को गया और वहां केदारघाट पर एक मंदिर में निवास किया। इस जगह पर एक गंगागिर नामक साधू थे जो कभी कभी दिन के समय अपने पहाड़ से (जो कि एक जंगल में था) नहीं उतरता था, मेरी मुलाक़ात हुई और मुझको मालूम होगया कि यह एक अच्छा विद्वान् है, थोड़े दिन बाद मेरी और उसकी मित्रताई भी होगई।

तात्पर्य कि जब तक मेरा और उसका साथ रहा, योगविद्या और

उम्दा बातों की आपस में बातचीत होती रही और प्रति दिन के तर्क वितर्कों से यह बात ख़ूब साबित हो गई कि हम दोनों साथ ठहरने के लायक़ हैं और मुझे तो उसकी मुहब्बत ऐसी अच्छी लगी कि मैं दो महीने से अधिक उसके साथ रहा ।

आगे चल कर उत्तर की तरफ़ एक पहाड़ पर, जो कि शिवपुरी नाम से प्रसिद्ध है गया । यहां मैंने शीत काल के चार मास व्यतीत किये, फिर उस ब्रह्मचारी और दोनों साधुओं से पृथक् होकर एकाकी निडर निस्संदेह केदारघाट गया, फिर गुप्तकाशी में पहुँचा थोड़े ही दिन बाद केदारघाट को (कि जिसे मैं दुनिया की सब रहतूतों से अच्छा समझता था) लौट आया और यहां ब्राह्मण पुराणियों और केदारघाट पंडितों के साथ रहा किया । तब तक मेरे पूर्वोक्त साथी अर्थात् एक ब्रह्मचारी और दोनों साधू भी आ मिले । यहां के पंडितों के कारखाइयों को मैं सदैव देखता और उनमें जो बातें याद रखने के लायक़ थीं ध्यान में देता रहा । जब इन बातों में से मैं ब.ख़ूबी जानकार होगया तब मेरे दिल में कुर्वजवार पहाड़ों की सैर करने की इच्छा हुई (जो सदैव बर्फ़ से ढके रहते थे) कारण कि उन महात्मा पुरुषों के दर्शन करूं जिनका ज़िकर मैं सुनता चला आता था और कभी आज तक मुलाक़ात नसीब न हुई थी । निदान मैंने अपने मनमें पुख़्ता इरादा कर लिया कि चाहे कुछ हो उक्त महात्मा की खोज अवश्य करूंगा इस लिये कि जैसा मैं इन्हें सुनता हूं वैसे हैं या नहीं ।

पहले पहल उस भयानक कठिन मार्ग को मैंने पहाड़ी लोगों से पूछा जो कि वे मार्ग को जानते हों वा न जानते हों । फिर और और

लोगों से पूछा निदान मार्ग का पता ठीक न लगा और २० दिन तक हैरान परेशान इधर उधर घूमता फिरता जहाँ से फिरा उसी जगह पर पहुंच गया। इस अवसर में मेरे साथी भी मुझसे अलग हो गये थे। बाद इसके मैं तुंगनाथ की चोटी पर चढ़ गया वहां पर मैंने एक मंदिर पुजारी और मूर्तों से भरा हुआ पाया। उसी दिन वहां से उतर आया। वहां पर मुझको दो रास्ते मिले जिनमें से एक पच्छिम को और दूसरा नैऋत्य को जाता था। तब मैं उस राह को जो जंगल की तरफ़ की थी झुक पड़ा। कुछ दूर चल कर मेरा ठहरना एक ऐसे घने जंगल में हुआ कि जहां की चट्टानें खंड भंड तथा नाले भी विना पानी के और जिसके आगे रास्ता भी नहीं। जब मैं ऐसी जगह घिर गया तब अपने मन में विचार किया अब यहां से नीचे उतरना चाहिये या और ऊपर चढ़ना चाहिये।

पस चोटी की ऊँचाई तथा रात की सी अँधेरी के कारण मुझे ज्ञात हुआ कि चोटी पर पहुंचना सम्भव नहीं। लाचार मैं घास और सूखी झाड़ियों को पकड़ कर नाले के नीचे किनारों पर पहुंचा और एक चट्टान पर खड़े होकर जो चारों तरफ़ निगाह की तो सिवाय भयानक पहाड़ियों टीलों और उन विकट जंगलों के कि जहां मनुष्यमात्र का निर्वाह कठिन है और कुछ भी न देख पड़ा।

सूर्य भी उस समय अस्त होने को था इस कारण मुझे बड़ी चिंता हुई कि इस सुनसान वीरान जंगल में बिना पानी और ऐसे पदार्थ के जो जल सके मेरी क्या दशा होगी। निदान मुझको उस विकट जंगल में ऐसी ऐसी जगहों में घूमना पड़ा कि जहाँ के बड़े बड़े कांटों में उलझ उलझ कर मेरे कपड़ों की धज्जियाँ उड़ गईं और मेरा शरीर भी घायल

हुआ तथा पांव भी लँगड़े होगये। हैरान परेशान बड़े दुःख और संकट के साथ उस मार्ग को पूरा करके पहाड़ के नीचे पहुंचा तब अपने तईं प्रसिद्ध मार्ग को पाया। उस समय रात को अँधियारी सब तरफ़ छाई हुई थी। इस कारण अनुमान से मुझे रास्ता ढूँढ़ना पड़ा, लेकिन मैंने प्रसिद्ध मार्ग से अलग न होने का ख़ूब ख़्याल रक्खा। आख़िरकार में मैं एक ऐसी जगह में पहुंचा जहाँ मुझको कुछ झोपड़े नज़र पड़े। वहां के आदमियों से पूछा तो मालूम हुआ कि रास्ता ऋषीमठ को जाता है। यह सुन मैं आगे बढ़ा और उक्त मठ में रात को विश्राम किया। प्रातःकाल मैं फिर गुप्त काशी को लौट गया, जहाँ से उत्तर को चला था। लेकिन देशाटन का शौक़ फिर मुझे ऋषीमठ को ले गया इस लिये कि वहां की गुफाओं और उनके रहने वालों के वृत्तान्तों का जानकार हो जाऊँ। पस मुझे ऋषीमठ के देखने में अच्छा अवसर मिला जो कि जाहलपरस्त और पाखण्डी साधुओं से भरा हुआ था। यहां के बड़े महंत ने मुझे अपने चेला करने का इरादा किया और इस बात की दृढ़ता के लिये यह लालच दिखाया कि हमारी गद्दी के तुम्हीं मालिक होगे और लाखों रुपये की दौलत तुम्हारे पास होगी। तब मैंने उनको लापरवाही से साफ़ जवाब दिया कि जो मुझे दौलत की चाह होती तो मैं अपने बाप की रियासत जो तुम्हारे इस स्थल और माल व दौलत से कहीं बढ़ कर थी क्यों कर छोड़ता। इसके सिवाय यहां भी मैंने घर, धन, दौलत तथा सर्व सुखों और लाभों का परित्याग किया। न तो मैं उसके लिये तुम्हें कोशिश करते देखता हूं और न तुममें उस अर्थसिद्ध करने की विद्या है। यहां फिर मेरा रहना आपके पास कैसे हो सके। यह सुन महंत ने पूछा कि

तुम्हारा अर्थ क्या है कि जिसके लिये तुम इतना परिश्रम कर रहे हो तब मैंने जवाब दिया कि मैं सत्ययोग विद्या और मोक्ष (जो बिना आत्मा की पवित्रता और सत्य न्यायाचरणों के नहीं प्राप्त हो सकता है) चाहता हूं और जब तक यह अर्थ सिद्ध न होगा तब तक बराबर अपने देश वालों का उपकार जो मानुषी धर्म है करता रहूंगा। यह सुन महंत ने कहा कि यह बहुत अच्छी बात है परन्तु अब तुम कुछ दिन हमारे पास ठहरो। इस बात का मैंने कुछ भी उत्तर न दिया क्योंकि मैं जान गया कि यहाँ तुम्हारी इच्छा पूर्ति न होगी।

दूसरे दिन प्रातःकाल मैं वहाँ से जोशीमठ रवाना हुआ और वहाँ कुछ दिनों दक्षिणी महाराष्ट्रों और संन्यासियों के साथ रहा जो संन्यासाश्रम के चौथे दरजे के सच्चे साधू थे।

(२)

समर्थदान को पत्र

मुन्शी समर्थदान जी, आनन्दित रहो! ज्वालादत्त जो भाषा बनाता है.......... ऐसा न हो कि पोपलीला घुसेड़ डाले। जैसी हमारी संस्कृत है उसी के अनुकूल और कुछ न करे.........

तुम थोड़ी सी भाषा देख लिया करो, यह ज्वालादत्त तो विक्षिप्त पुरुष है........ यद्यपि मैंने सब पुस्तक गणपाठ का नहीं देखा परन्तु भूमिका के पहिले पृष्ठ में दृष्टि पड़ी तो (दूर २) के स्थान में (दर २) अशुद्ध छपा है। ऐसी भाषा को तुम भी देख सकते हो और यह भाषा भी अच्छी नहीं बनाता किन्तु घास ही काटता है। इसके नमूने के लिये

हम एक पत्र भेजते हैं जिसकी उसने भाषा बनाई है और बड़ी भूल करी है कि जिसका पदार्थ है कुछ और भाषा कुछ और बनाई है.........। थोड़े दिन के पश्चात् पुराणे बहुत से पत्र इसके भाषा बनाये भेजेंगे उसमें इसके दोष सैकड़ों दीख पड़ेंगे।

अब यह भाषा भी अच्छी नहीं बनाता जैसी कि पहले बनाता था, जैसी की प्रतिदिन उन्नति करनी चाहिये। यह प्रति दिन गिरता जाता है। अब के भाषा में कई पद छोड़ दिये हैं कहीं अपनी ग्रामणी भाषा लिख देता है और (च) का अर्थ और करना चाहिये यह (भी) कर देता है इत्यादि............सत्यार्थप्रकाश में कोई ऐसा अनुचित शब्द निकाल कर जो हमारे आशय से विरुद्ध न हो वह शब्द उसके स्थान में धरना और हमको लिखके सूचित करना कि यंह शब्द धरे हैं।

बालकृष्ण भट्ट

[१८४४—१९१४]

—:o:—

अपने 'हिन्दी-प्रदीप' द्वारा पं० बालकृष्ण भट्ट ने लगभग ३२ वर्षों तक हिन्दी की अनवरत सेवा की। जब हिन्दी पढ़ने वाले लोगों में उत्साह की इतनी कमी थी कि केवल आठ आने या अधिक से अधिक एक रुपया वार्षिक मूल्य देकर मासिक पत्रिकाओं को मँगाते रहना ही उनके लिए भार गुज़रता था, ऐसी अवस्था में बराबर ३२ वर्षों तक 'हिन्दी-प्रदीप' ऐसे उच्च कोटि के पत्र को चलाते रहना खेल नहीं था। पंडित प्रताप-नारायण जब तक 'ब्राह्मण' को निकालते रहे तब तक उन्हें सदैव चन्दे के लिए ग्राहकों से झींकते ही बीता; नादिहिन्दों का मज़ाक़ बनाकर, उनसे गिड़गिड़ा कर, उनसे 'हरिगंगा' कह कर, सब तरह से वे हार गये। जब एक भी न चली और उन्हें स्वयं अपने पास से ही उलटा देना पड़ा तब उन्हें 'ब्राह्मण' को बंद कर देना पड़ा।

पंडित बालकृष्ण भट्ट के इस अध्यवसाय से पता लगता है कि वे कितने प्रगाढ़ साहित्य-प्रेमी थे, तथा वे अपनी धुन के कितने पक्के थे।

हम अभी कह चुके हैं कि १९वीं शताब्दी के मध्यकाल में हिन्दी में बड़े बड़े लेखकों में से प्रत्येक ने एक न एक पत्र-पत्रिका का आश्रय लिया था। इसके दो उपयोग थे। एक तो जिस पत्र-पत्रिका में कोई लेखक लेख लिखता या, उसके द्वारा उसकी ख्याति पठितसमुदाय में होती थी और दूसरे उसके आश्रय से उसकी लेखन-शैली भी क्रमशः पुष्ट होती थी।

बालकृष्ण भट्ट जी का 'हिन्दी-प्रदीप' एक विशेष श्रेणी का पत्र था। वह प्रायः गद्य-मय होता था। उसमें उत्कृष्ट प्रकार के हास्य-पूर्ण तथा गम्भीर साहित्यिक निबन्ध होते थे और वे अधिकतर भट्ट जी की लेखनी से ही निकलते थे। अन्य लेखक उसमें बहुत कम लिखते थे। इसके सिवाय 'हिन्दी-प्रदीप' में कविता कम रहती थी।

स्थूलरूप से कह सकते हैं कि 'हिन्दी-प्रदीप' में तीन प्रकार की सामग्री रहती थी। प्रत्येक अंक का अधिकतर भाग साहित्यिक निबन्धों (Literary essays) से भरा रहता था, शेष में सामयिक सामाजिक अथवा राजनैतिक घटनाओं वा समस्याओं पर लेख रहते थे। कभी कभी प्राचीन संस्कृत-साहित्य से चुनी हुई सूक्तियाँ तथा हँसी के चुटकुले रहते थे।

अतएव, यह स्पष्ट है कि भट्ट जी अपने पत्र-सम्पादन के दो ध्येय रखते थे। अपने समकालीन 'ब्राह्मण' आदि अन्य पत्रों की तरह उनका सबसे प्रधान उद्देश्य तो यही रहता था कि पठित समुदाय की रुचि हिन्दी-साहित्य की ओर प्रवृत्त

हो । इसी लिए शिक्षित लोगों के मनोरंजन के हेतु वे हास्य-मय कहानियाँ तथा उपन्यासादि प्रकाशित करते थे । उपन्या-सादि को क्रमानुसार 'प्रदीप' के अंकों में प्रकाशित करके वे स्थिर रखते थे ।

उनका दूसरा उद्देश्य हिन्दी में गम्भीर या विदग्धसाहित्य को उत्तेजित करने का था । तभी तो वे बड़े गहन विषयों पर रोचक निबन्ध लिखते थे और औरों को उस ओर उत्साहित करने का प्रयत्न करते थे ।

सारांश यह है कि भट्ट जी 'प्रदीप' में केवल ग्राहकों की संख्या बढ़ाने की ही नियत से क्षणिक मनोविनोद की वस्तुयें प्रस्तुत न करते थे । हिन्दी की साहित्यिक वृद्धि करना उनका एकमात्र अभिप्राय था । वे स्वयं एक स्थल पर 'प्रदीप' के दीर्घ जीवन–काल के कार्य का सिंहावलोकन करते हुए कह गये हैं कि :—

"पाठक ! इस बत्तीस साल की जिल्दों में कितने ही उत्तमोत्तम उपन्यास, नाटक तथा अन्यान्य प्रबन्ध भरे पड़े हैं । वे सब यदि पुस्तकाकार छपा दिये जायें तो निस्सन्देह हिन्दी-साहित्य के अंग का कुछ न कुछ कोना अवश्य भर जाय···।"

उनके भिन्न भिन्न प्रकार के निबन्धों का उल्लेख करके यह प्रसंग समाप्त होगा । हम उनके निबन्ध पाँच कक्षाओं में वर्गी-कृत करते हैं ।

(१) विचित्र तथा असाधारण विषयों पर ।

(२) सामयिक विषयों पर ।

(३) कल्पनापेक्ष विषयों पर ।

(४) गम्भीर अथवा शिक्षाप्रद विषयों पर ।

(५) सामाजिक अथवा राजनैतिक विषयों पर ।

'ईश्वर क्या ही ठठोल है', 'नाक निगोड़ी भी बुरी बला है' तथा 'भकुआ कौन कौन है', इन लेखों को हम प्रथम प्रकार के लेखों के अच्छे उदाहरण मानते हैं। ऐसे लेखों के शीर्षक ही इतने विचित्र हैं कि जिनको सुनकर हँसी आती है। उनका प्रतिपादन तो और भी अच्छा हुआ है। उनमें कोरे मसख़रेपन की धूम नहीं रहती, पढ़ते समय यह स्पष्टत: ज्ञात होता है कि लेखक का हृदय बड़ा गम्भीर है, तथा मानव जीवन की घटनाओं पर उसने बड़ी पैनी दृष्टि डाली है।

उनके सामयिक लेखों में हम 'इसे इलाहाबाद कहें या ख़ाकाबाद', 'हमारी परिवर्तन-विमुखता' को अच्छा समझते हैं। इस तरह के लेखों में भट्ट जी के व्यंगचातुर्य का पता लगता है। उनकी कल्पना-शक्ति की तीव्रता 'बाल्यभाव', 'आँसू', 'चन्द्रोदय' शीर्षक लेखों से मालूम होती है। वैसे तो उनके लेखों में कल्पना-शक्ति की छटा है, परन्तु इनमें विशेष-कर उसका प्राचुर्य है।

भट्ट जी बड़े हास्य-प्रिय पुरुष थे और जो कुछ लिखते थे, उसमें बिना हँसी की पुट छोड़े नहीं रहते थे। उन्होंने बड़े गम्भीर विषयों पर भी निबन्ध लिखे हैं। 'चरित्र-शोधन',

'परिश्रम', 'नीयत', 'प्रेम और भक्ति', 'बातचीत' आदि पर लेख लिख कर उन्होंने अपनी मननशीलता का परिचय दिया है।

उनके साहित्यिक लेख तो बहुत से हैं।

पंडित बालकृष्ण भट्ट के 'आँसू', 'बाल्यभाव', 'ईश्वर क्या ही ठठोल है', 'बातचीत' आदि कतिपय निबन्धों को हम अंगरेज़ी के लेखक चार्ल्स लैंब (Charles Lamb) के उत्तमोत्तम निबन्धों के साथ रखने में तनिक भी न हिचकेंगे। वास्तव में भट्ट जी की भाषा में वही सुबोधता है, वही स्वाभाविकता है तथा वही रस है जो लैंब में मिलते हैं। जिस प्रकार लैंब 'All Fools day', 'Poor relations' आदि लेखों में छोटी सी बातों को लेकर बड़ी लम्बी काल्पनिक उड़ान लेते हैं, उसी प्रकार भट्ट जी भी उपर्युक्त लेखों में बड़े ऊँचे पहुँच जाते हैं। एक बात और है कि भट्टजी के अधिकांश निबन्धों में वही घनिष्टता अथवा व्यक्तित्व है जो लैंब में है जिसका उल्लेख सैयद इंशा तथा पं० प्रतापनारायण के सम्बन्ध में किया जा चुका है। लिखते समय पं० बालकृष्ण भट्ट अपना हृदय-कपाट खोलकर बैठते थे; पाठकों से अपने मन के भाव छिपाना उन्हें न आता था। तभी तो 'आँसू' के उद्भव की व्याख्या करते करते वे कहते हैं कि "हमारे लिए आँसू बड़ी बला है। नज़ले का ज़ोर है, दिन रात आँखों से आँसू टपकता है। क्या जाने बंगाल की खाड़ी वाला समुद्र हमारे ही कपार में आकर

भर रहा है ?"

भट्ट जी का गद्य

भट्ट जी का यह निश्चित मत था कि "प्रोज़ (गद्य) हिन्दी का बहुत ही कम और पोच है। सिवाय एक प्रेमसागर सी दरिद्र रचना के इसमें कुछ और है ही नहीं जिसे हम इसके साहित्य के भाण्डार में शामिल करते। दूसरे उर्दू इसकी ऐसी रेढ़ मारे हुए है कि शुद्ध हिन्दी तुलसी, सूर इत्यादि कवियों की पद्यरचना के अतिरिक्त और कहीं मिलती ही नहीं।"

वास्तव में भट्ट जी का यह कहना तो सर्वमान्य है कि १९वीं शताब्दी के पहले का गद्य साहित्य बहुत ही कम है, पर इसे एकदम से 'पोच' या जघन्य कहने में थोड़ा सा संकोच अवश्य होता है। तिस पर फिर 'प्रेमसागर' को दरिद्र रचनाओं में परिगणित करना तो और भी आश्चर्यजनक है। यह सब कुछ मानते हुए कि लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' लिखकर हिन्दी-गद्य को अधिक उन्नत नहीं किया, प्रत्युत इसकी भाषा से उर्दू की छाया को यथाशक्ति हटा कर तथा मुहावरों का तिरस्कार करके एक प्रकार से वर्षों तक उसके विकास को रोक दिया। तो भी निष्पक्ष होकर यह स्वीकृत करना होगा कि 'प्रेमसागर' चाहे साहित्यिक इतिहासवेत्ताओं की विचार-कोटि से व्यर्थ क्यों न हो, परन्तु जिन्हें भाषा के माधुर्य तथा सजीव-वर्णन शैली का नशा है वे कदापि उसे इस दृष्टि से देखकर तुच्छ न समझेंगे।

पंडित बालकृष्ण स्वयं एक साहित्यज्ञ थे; भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था; हिन्दी-गद्य को विविध-रूप-संपन्न तथा समीचीन बनाने की उनकी हार्दिक भावना थी। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने 'हिन्दी-प्रदीप' का उद्घाटन किया था। वे उस प्रकार के 'साहित्यिक व्यसनी' लोगों में से न थे जो बिना किसी स्पष्ट सिद्धान्त के लेखक बन बैठते हैं।

एवं, यह स्वाभाविक सा प्रतीत होता है कि उन्होंने 'प्रेम-सागर' की साहित्यिक महत्ता को अधिक न समझ कर उसे 'दरिद्र' कह डाला।

ऊपर जो भट्ट जी के लेखों से अवतरण दिया गया था उससे उनका गद्य-विषयक एक और सिद्धान्त ज्ञात होता है। ऐसा अनुमान होता है कि उनकी साहित्यिक आत्मा को इस बात से क्लेश होता था कि उर्दू के अत्यधिक प्रचार से शुद्ध हिन्दी को धक्का पहुँच रहा था। अतएव उनके भाषा–विषयक विचारों की विवेचना करते समय हम उन्हें उन शुद्धि-वादियों (Purists) की श्रेणी में रखते हैं, जिनमें पंडित गोविन्द-नारायण मिश्र, पंडित श्रीधर पाठक तथा अयोध्यासिंह उपाध्याय भी हैं। यह बात दूसरी है कि उनके गद्य की भाषा प्रायः मिश्रित है और उसकी रोचकता का श्रेय बहुत कुछ उर्दूपन को है जो मुहावरों के रूप में उसमें विद्यमान रहता है। तात्पर्य केवल इतना है कि जब हिन्दी-गद्य के विषय में भिन्न भिन्न लेखकों के सिद्धान्तों की परीक्षा की जावेगी, तब भट्ट जी शुद्ध संस्कृत

शैली के पक्षपातियों के साथ ही रक्खे जावेंगे।

बालकृष्ण जी असल में एक बड़े संस्कृतज्ञ थे और इसी लिए शायद शुद्ध संस्कृतमिश्रित भाषा के लिए इतने उत्कंठित रहे हों। परन्तु कोरे संस्कृत पंडितों की नाईं उन्होंने अपने गद्य-लेखों को भाषा-काठिन्य से जकड़ कर नीरस नहीं बनाया। सरस हृदय तथा साहित्य-भक्त होने के कारण वे समयानुकूल अपनी भाषा में उर्दू, फ़ारसी सब कहीं से उपयुक्त शब्द और मुहावरे चुन चुन कर एकत्र करते थे। पंडित प्रतापनारायण तथा उनके गुरु सैयद इंशा की भाँति उनका भी यही प्रयत्न रहता था कि जो कुछ भी लिखा जाय वह ऐसी भाषा में हो जिससे पढ़ने वाले की रुचि उसकी ओर बढ़े और जिससे उसमें व्यक्त किये हुए भाव उसके हृदय में तत्काल ही अंकित हो जावें। इसी लिए उनके लेखों में हास्यरस का समावेश पर्याप्त परिमाण में रहता था। बल्कि गम्भीर से गम्भीर विषयों पर लिखे हुए उनके निबन्ध इस हास्य से रिक्त नहीं हैं। सारांश यह कि उन्होंने अपनी भाषा में कभी भी दुरूहता नहीं आने दी। भाव तथा भाषा दोनों की विशदता पर वे सदैव ध्यान रखते रहे।

इस बात का एक बड़ा अच्छा प्रमाण मिलता है। लिखते लिखते जहाँ कहीं उन्हें बड़ी खोज करने पर भी हिन्दी में किसी अँगरेज़ी शब्द का पर्यायवाची शब्द न मिलता था, और जब वे अच्छी तरह समझ लेते थे कि जो भाव व्यक्त करना

उनको अभीष्ट था, उसको पूर्ण रीति से स्पष्ट करने में अमुक अँगरेज़ी शब्द ही समर्थ ज्ञात होता था, तब वे निस्संकोच उसी को प्रयुक्त कर देते थे। जैसे 'दिल और दिमाग़' शीर्षक लेख में 'इनटेलेक्ट' और 'फ़ीलिंग' और 'बातचीत' नामक लेख में 'स्पीच्'।

यही नहीं, कभी कभी उनके लेखों के शीर्षक तक अँगरेज़ी में होते थे। उदाहरणार्थ "Are the nation and individual two different things ?" इससे जान पड़ता है कि भट्ट जी 'शुद्ध-हिन्दी' के परिपोषक होते हुए भी कभी पुराने संस्कृत पंडितों के दुराग्रह के वश में नहीं पड़े थे। अपने भावों को स्पष्टतया प्रकट करने के अर्थ वे शब्दों की उपयुक्तता का बड़ा ध्यान रखते थे; किसी बात को यदि बिना किसी भाषा के शब्द के आश्रय के बिना व्यक्त करना असम्भव समझ लेते थे तो उसे बेधड़क प्रयोग करते थे। आजकल अँगरेज़ी पढ़े हुए लेखकों के लेखों में जो कोष्टकबन्दी होती है उसका आविष्कार भट्टजी ने ही किया था।

इसके सिवाय इसी ध्येय के सम्पादन में बालकृष्ण जी अक्सर भावोपयुक्त नये नये शब्द तथा मुहावरे भी गढ़ते थे। उदाहरण के लिए उनका 'गतांक' शब्द का लाक्षणिक अथवा सालंकार प्रयोग लीजिए।

आजकल अँगरेज़ी पत्रों ने 'back-number' शब्द को राजनैतिक अर्थ में प्रयुक्त करना प्रारम्भ किया है, और उन

लोगों को यह उपाधि दी जाती है जो पुराने ढर्रे या संकुचित-विचार वाले होते हैं। ठीक इसी अर्थ में भट्टजी 'गतांक' शब्द को वर्षों पहले गढ़ चुके थे।

इसी प्रकार भट्टजी के शाब्दिक आविष्कार की साहस-पूर्णता उनके मुहावरों से ज्ञात होती है।

'हमारी परिवर्तन-विमुखता' शीर्षक लेख में दो मुहावरे हमें विशेष जँचे हैं। भारत की परिवर्तन-विमुखता का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि "(हम) कितने सौ वर्ष कलेवा कर गये, वही गजी की धोती और गाढ़े की मिरज़ई छोड़ कोई दूसरे प्रकार के वस्त्र को न निकाल सके।" सौ वर्ष कलेवा करने वाली बात बड़ी चुभती हुई है। इस असाधारण मुहावरे का प्रयोग भट्टजी के हाथ से हुआ है, और लोगों को शायद ही यह सूझता।

इन सब बातों के आधार पर हम कह सकते हैं कि बालकृष्ण भट्ट पुरानी लीक पीटने वाले गद्य-लेखक न थे, उन्होंने नये नये शब्द तथा मुहावरे भी गढ़े थे। पंडित प्रतापनारायण यद्यपि भट्टजी के समकक्ष थे, तथापि उनके सब गुणों का वर्णन करने के उपरान्त यह कहना पड़ता है कि वे एक आविष्कारक गद्य-लेखक न थे। उनके लेखों में जो रोचकता है, उनकी भाषा में जो सजीवता है उन सबका मूल यही है न कि उन्होंने घरेलू मसलों तथा हास्य और व्यंग का ख़ूब प्रयोग किया है। यदि पता लगाइए कि पंडित प्रतापनारायण ने कितने नये शब्द

अथवा मुहावरों की सृष्टि की तो शायद ही कुछ मिलें। वे केवल हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी, संस्कृत के प्रस्तुत शब्द-भांडार से सजीव से सजीव, रोचक से रोचक शब्द तथा मुहावरे निकाल कर अपने लेखों में उनका प्रदर्शन करते थे।

पंडित प्रतापनारायण के संबंध में कहा जावेगा कि उनका पांडित्य जो कुछ भी था उनके लेखों में उतराता हुआ नहीं देख पड़ता, किन्तु ऐसे ही कभी कभी शेरों तथा श्लोकों आदि के रूप में निकल आता है। इसके विपरीत पंडित बालकृष्ण भट्ट के लेखों में विद्वत्ता का प्रदर्शन होता है, उनकी संस्कृतज्ञता सदैव टपकती है। वास्तव में भट्टजी के लेखों में एक प्रकार की साहित्यिक सुगंध होती है जो पंडित प्रतापनारायण में बहुधा नहीं मिलती। इस विद्वत्ता के विचार से भट्टजी पंडित महावीर-प्रसाद जी द्विवेदी की श्रेणी में हैं। दोनों को संस्कृत–गद्य–शैली के पोषकों में गिनना उचित है।

---

(१)

आँसू

मनुष्य के शरीर में आँसू भी गड़े हुए ख़ज़ाने के माफ़िक़ है। जैसा कभी कोई नाज़ुक वक्त़ आ पड़ने पर संचित पूंजी ही काम देती है उसी तरह हर्ष, शोक, भय, प्रेम इत्यादि भावों को प्रगट करने में जब सब इन्द्रियाँ स्थगित होकर हार मान बैठती हैं तब आँसू ही उन उन भावों

को प्रगट करने में सहायक होता है। चिरकाल के वियोग के उपरान्त जब किसी दिली दोस्त से मुलाक़ात होती है तो उस समय हर्ष और प्रमोद के उफान में अंग अंग ढीले पड़ जाते हैं, वाष्प-गद्गद् कण्ठ रुँध जाता है; जिह्वा इतनी शिथिल पड़ जाती है कि उससे मिलने की .खुशी को प्रगट करने के लिये एक एक शब्द मानों, बोझ सा मालूम होता है। पहिले इसके कि शब्दों से वह अपना असीम आनन्द प्रकट करै सहसा अँासू की नदी उसकी अँाख में उमड़ आती है और नेत्र के पवित्र जल से वही अपने प्राणप्रिय को नहलाता हुआ उसे बग़लगीर करने को हाथ फैलाता है। सच्चे भक्त और उपासक की कसौटी भी इसी से हो सकती है। अपने उपास्य देव के नाम-संकीर्तन में जिसे अश्रुपात न हुआ, मूर्ति का दर्शन कर प्रेमाश्रुपात से जिसने उनके चरणकमलों का अभिषेक न किया उस दाम्भिक को भक्ति के आभासमात्र से क्या फल? सरस कोमल चित्तवाले अपने मनोगत सुख दुःख के भाव को छिपाने की हज़ार हज़ार चेष्टा करते हैं कि दूसरा कोई उनके चित्त की गहराई को न थहा सके पर अश्रुपात भाव-गोपन की सब चेष्टा को व्यर्थ कर देता है*। मोती सी अँासू की बूंदें जिस समय सहसा नेत्र से झरने लगती हैं उस समय उसे रोक लेना बड़े बड़े गम्भीर प्रकृतिवालों की भी शक्ति के बाहर होता है। भवभूति ने, जिनको प्रकृति का चित्र अपनी कविता

---

*देखिये रहीमः—

रहिमन अँसुवा नयन ढरि, मन दुख प्रगट करेइ।
जाहि निकार्यो गेह सों, कस न भेद कहि देइ॥

—सम्पादक

में खींच देना ख़ूब मालूम था, कई ठौर पर अश्रुपात का उत्तम वर्णन किया है, जिससे यही आशय निकलता है यथा :—

"अयन्ते वाष्पौघस्त्रुटित इव मुक्ता मणिसरो ।
विसर्पन् धाराभिर्लुठति धरणीं जर्जरकणः ॥
निरुद्धोप्यावेगः स्फुरदधरनासापुटतया ।
परेषामुन्नेयो भवति च भराध्मातहृदयः ॥"

यदि सृष्टिकर्ता अत्यन्त शोक में अश्रुपात को प्राकृतिक न कर देता तो वज्रपात सम दारुण दुःख के वेग को कौन सम्हाल सकता । इस भावार्थ का पोषक भवभूति का नीचे यह श्लोक बहुत उत्तम है :—

"पूरोत्पीड़े तड़ागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया ।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते ॥"

अर्थात् बरसात में तालाब जब लबालब भर जाता है तो बाँध तोड़ उसका पानी बाहर निकाल देना ही सुगम उपाय बचाव का होता है — इसी तरह अत्यन्त शोक से क्षोभित तथा व्याकुल मनुष्य को अश्रुपात ही हृदय को विदीर्ण होने से बचा लेने का उपाय है। बल्कि ऐसे समय रोना ही राहत है।

कोई शूरवीर, जिसको रणचर्चामात्र सुन जोश आजाता है और जो लड़ाई में गोली तथा बाण की वर्षा को फूल की वर्षा मानता है, वीरता की उमंग में भरा हुआ युद्धयात्रा के लिये प्रस्थान करने को तैयार है। विदाई के समय विलाप करते हुए अपने कुनबावालों के आँसू के एक एक बूंद की क्या क़ीमत है यह वही जान सकता है। वह शसपंज में पड़ आगे को पाँव रख फिर हटा लेता है। वीर और करुणा — ये दो

विरोधी रस अपनी ओर से उमड़ उमड़ देर तक उसे किंकर्तव्यतामूढ़ किये रहते हैं। आँख में आँसू उन्हीं अकुटिल सीधे सत्यपुरुषों के आता है जिनके सच्चे सरल चित्त में कपट और कुटिलाई ने स्थान नहीं पाया। निठुर निर्दयी मक्कार की आँखें, जिसके कट्टर कलेजे ने कभी पिघलना नहीं जाना, दुनिया के दुःख पर क्यों पसीजेंगी। प्रकृति में चित्त का आँख के साथ कुछ ऐसा सीधा सम्बन्ध रख दिया है कि आँखें चित्त की वृत्तियों को चट्ट पहिचान लेती हैं और तत्काल तदाकार अपने को प्रकट करने में देर नहीं करतीं। तो निश्चय हुआ कि जो बेकलेजे हैं उनकी बैल सी बड़ी बड़ी आँखें केवल देखने ही को हैं, चित्त की वृत्तियों का उन पर कभी असर होता ही नहीं। चित्त के साथ आँख के सीधे सम्बन्ध को बिहारी कवि ने कई दोहों में प्रकट किया है। यथा :—

"कोटि यतन कीजै तऊ, नागरि नेह दुरै न।
कहे देत चित चीकनों, नई रुखाई नैन॥
दहैं निगोड़े नैन ये, गहैं न चेत अचेत।
हौं कसि कै रिस को करौं, ये निरखत हँसि देत॥"

मृतक के लिये लोग हज़ारों लाखों ख़र्च कर आलीशान रौज़े, मक़बरे, क़ब्रें संगमरमर या संगमूसा की बना देते हैं; क़ीमती पत्थर, मानिक, ज़मर्रुद से आरास्ता उन्हें करते हैं; पर वे मक़बरे क्या उनकी रूह को राहत पहुँचा सकते हैं जितनी उसके दोस्त आँसू के क़तरे टपकाकर पहुंचाते हैं।

इस आँसू में भी भेद है। कितनों का पनीला कपार होता है, बात कहते रो देते हैं। अक्षर उनके मुंह से पीछे निकलेगा, आँसुओं की

झड़ी पहले ही शुरू हो जायगी। स्त्रियों के जो बहुत आँसू निकलता है, मानों रोना उनके गिरो रहता है, इसका कारण यही है कि वे नाम ही की अबला और अधीर हैं। दुःख के वेग में आँसू को रोकनेवाला केवल धीरज है। उसका टोटा यहां हरदम रहता है; तब इनके आँसू का क्या ठिकाना! सत्वशाली धीरज वालों को आँसू कभी आता ही नहीं। कड़ी से कड़ी मुसीबत में दो चार क़तरे आँसू के मानों बड़ी बरकत हैं। बहुत मौक़ों पर आँसू ने ग़ज़ब कर दिया है। सिकन्दर का क़ौल था कि मेरी माँ की आँख के एक क़तरा आँसू की क़ीमत मैं बादशाहत से भी बढ़ कर मानता हूं। रेणुका के अश्रुपात ही ने परशुराम से २१ बार क्षत्रियों का संहार कराया। कितने ऐसे लोग भी हैं जिन्हें आँसू नहीं आता। इस लिये जहां पर बड़ी ज़रूरत आँसू गिराने की हो तो उनके लिये प्याज़ का गट्ठा पास रखना बड़ी सहज तरकीब निकाली गई। प्याज़ ज़रा सा आँख में छू जाने से आँसू गिरने लगता है।

"किसी को बैंगन बावले किसी को बैंगन पत्थ"

बहुधा आँसू का गिरना भलाई और तारीफ़ में दाख़िल है। हमारे लिये आँसू बड़ी बला है। नज़ले का ज़ोर है, दिन रात आँसू टपकता है, ज्यों ज्यों आँसू गिरता है त्यों त्यों बीमारी कम होती जाती है। सैकड़ों तदबीरें हम कर चुके आँसू का टपकना बन्द न हुआ। क्या जाने बंगाल की खाड़ी वाला समुद्र हमारे कपारे में आकर भर रहा है। आँख से तो आँसू चला ही करता है, आज हमने लेख में भी आँसू ही पर क़लम चला दी, पढ़ने वाले इसे निरी नहूसत की अलामत न मान हमें क्षमा करेंगे। ['साहित्यसुमन' से]

(२)

चन्द्रोदय

अंधेरा पाख बीता उजेला पाख आया। पश्चिम की ओर सूर्य डूबा और वक्राकार हंसिया की तरह उसी दिशा में दिखलाई पड़ा। मानों कर्कशा के समान पश्चिम दिशा सूर्य के प्रचण्ड ताप से दुखी हो क्रोध में आ इसी हँसिया को लेकर दौड़ रही है और सूर्य भयभीत हो पाताल में छिपने के लिये जा रहा है। अब तो पश्चिम ओर आकाश सर्वत्र रक्तमय हो गया। क्या सचमुच ही इस कर्कशा ने क्या सूर्य का काम तमाम किया जिससे रक्त बह निकला, अथवा सूर्य भी क्रुद्ध हुआ जिससे उसका चेहरा तमतमा गया और उसी की यह रक्त आभा है? इस्लाम धर्म के मानने वाले नये चन्द्र की बहुत बड़ी इज़्ज़त करते हैं सो क्यों? मालूम होता है इसी लिये कि दिन दिन क्षीण होकर नाश को प्राप्त होता हुआ चन्द्रमा मानों सबक़ देता है कि रमज़ान में अपने शरीर को इतना सुखाओ कि वह नष्ट हो जाय। तब देखो कि उत्तरोत्तर कैसी वृद्धि होती है। अथवा यह कालरूपी श्रोत्रिय ब्राह्मण के नित्य जपने का ओंकार महामन्त्र है; या अन्धकार महाराज के हटाने का अंकुश है; या विरहिणियों के प्राण कतरने की कैंची है; अथवा श्रृंगार रस से पूर्ण पिटारे के खोलने की कुंजी है; या तारामौक्तिकों से गुथे हार के बीच का यह सुमेर है; अथवा जंगम जगत् मात्र को डसने वाले अनंग भुजंग के फन पर का चमकता हुआ मणि है; या निशानायिका के चेहरे की मुस्कराहट है; या सन्ध्यानारी के काम-केलि के समय में उसकी छाती पर लगा हुआ नखक्षत है; अथवा जगज्जेता कामदेव की धन्वा है; या

तारा मोतियों की दो सीपियों में से एक सीपी है ।

इसी प्रकार दूज से बढ़ते बढ़ते यह चन्द्र पूर्णता को पहुंचा । यह पूनों का पूरा चाँद किसके मन को न भाता होगा ? यह गोल गोल प्रकाश का पिण्ड देख भाँति भाँति की कल्पनायें मन में उदय होती हैं कि क्या यह निशा अभिसारिका के मुख देखने की आरसी है; या उसके कान का कुण्डल अथवा फूल है; या रजनी रमणी के लिलार पर बुक्के का सफ़ेद तिलक है; अथवा स्वच्छ नीले आकाश में यह चन्द्र मानों त्रिनेत्र शिव की जटा में चमकता हुआ कुन्द के सफ़ेद फूलों का गुच्छा है । कामवल्लभा रति की अटा में कूजता हुआ यह कबूतर है, अथवा आकाशरूपी बाज़ार में ताराररूपी मोतियों का बेचने वाला सौदागर है । कूई की केलियों को विकाशित करते मृगनयनियों के मान को समूल उन्मीलित करते, छिटकी हुई चाँदनी से सब दिशाओं को धवलित करते, अन्धकार को निगलते चन्द्रमा सीढ़ी दर सीढ़ी शिखर के समान आकाश-रूपी विशाल पर्वत के मध्य भाग में चढ़ा चला आ रहा है । क्षपा-तम-स्काण्ड का हटाने वाला यह चन्द्रमा ऐसा मालूम होता है मानों आकाश महासरोवर में श्वेत कमल खिल रहा है जिसमें बीच बीच जो कलंक की कालिमा है सो मानों भौंरे गूंज रहे हैं । अथवा सौन्दर्य की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी के स्नान करने की यह बावड़ी है, या कामदेव की कामिनी रति का यह चूना पोता धवल गृह है, या आकाश–गंगा के तट पर विहार करने वाला हंस है जो सोती हुई कुइयों को जगाने को दूत बन कर आया है; या देव–नदी आकाश–गंगा का पुण्डरीक है या चाँदनी का अमृत–कुंड है; अथवा आकाश में जो तारे देख पड़ते हैं वे सब गौएं हैं

उनके झुण्ड में यह सफ़ेद बैल है; या यह हीरे से जड़ा हुआ पूर्व दिगंगना का कर्णफूल है; या कामदेव के बाणों को चोखा करने के लिये शान धरने का सफ़ेद गोल पत्थर है या सन्ध्या-नायिका के खेलने का गेंद है। इसके उदय से पहिले सूर्यास्त की किरणों से सब ओर जो ललाई छा गई है सो मानों फागुन में इस रसिया चन्द्र ने दिगंगनाओं के साथ फाग खेलने में अबीर उड़ाई है, वही सब ओर आकाश में छाई हुई है। अथवा निशायोगिनी ने तारा–प्रसून–समूह से कामदेव की पूजाकर यावत् कामीजनों को अपने वश में करने के लिये छिटकी हुई चाँदनी के बहाने वशीकरण बुक्का उड़ाया है; अथवा स्वच्छ नीले जल से भरे आकाश-हौदा में कालमहागणक ने रात के नापने को एक घटीयंत्र छोड़ रक्खा है; अथवा जगद्विजयी राजा कामदेव का यह श्वेत छत्र है; वियोगीमात्र को कामाग्नि में झुलसाने को यह दिनमणि है, कंदर्प-सीमन्तिनी रतिदेवी की छप्पेदार कर्धनी का टिकड़ा है; या उसी में जड़ा चमकता हुआ सफ़ेद हीरा है; या सब कारीगरों के सरताज आतशबाज़ की बनाई हुई चरख़ियों का यह एक नमूना है; अथवा महापथगामी समयराज के रथ की सूर्य और चन्द्रमा-रूपी दो पहियों में से यह एक पहिया है जो चलते चलते घिस गयी (?) है। इसी से बीच में कलाई देख पड़ती है; अथवा लोगों की आँख और मन को तरावट और शीतलता पहुँचाने वाला यह बड़ा भारी बर्फ़ का कुण्ड है, इसी से वेदों ने परमेश्वर के विराट-वैभव के वर्णन में चन्द्रमा को मन और नेत्र माना है; या काल-खिलाड़ी के खेलने का सफ़ेद गेंद है समुद्र के नीले पानी में गिरने से सूखने पर भी जिसमें कहीं कहीं नीलिमा बाक़ी रह गई है; या

तारे-रूपी मोतीचूर के दानों का यह बड़ा भारी पनसेरा लड्डू है; अथवा लोगों के शुभाशुभ काम का लेखा लिखने के लिए यह बिल्लौर की गोल दवात है; या खड़िया मिट्टी का बड़ा भारी ढोंका है; या काल खिलाड़ी की जेबी घड़ी का डायल है; या रजत का कुण्ड है; या आकाश के नीले गुम्बज में संगमरमर का गोल शिखर है। शिशिर और हेमन्त में हिम से जो इसकी द्युति दब जाती है सो मानों यह तपस्या कर रहा है जिसका फल यह चित्रा के संयोग से शोभित हो चैत्र की पूनो के दिन पावेगा, जब इसकी द्युति फिर दामिन सी दमकेगी। इसी से कविकुलगुरु कालिदास ने कहा है:—

"हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव ।"

['साहित्यसुमन' से]

---

(३)

संसार कभी एक सा न रहा

सूर्य चन्द्रमा पृथ्वी तथा दूसरे दूसरे ग्रह और उनके उपग्रह आदि यावत् भगण सब अपनी २ कक्षा में चलते हुए कभी एक क्षण के लिये स्थिर नहीं रहते तब इस दृश्य जगत् को संसार "चलने वाला" कहना उचित ही है। स्थिर पदार्थ चाहे चिर काल तक एक रूप में रहे भी पर जो चलने वाले हैं वे एक ही प्रकार के और एक ही रूप में सदा क्यों कर रह सकते हैं। जो कल था सो आज नहीं है, जो आज है सो कल न होगा। छिन छिन में नये गुल खिलते हैं लड़के से जवान हो गये, जवान बूढ़े हो जाते हैं। वह प्यारी प्यारी मुग्धमुखच्छवि जिसे देखते ही

आँख लुभा उठती है, जी जुड़ाता है, जिसके धूलि-धूसरित स्वभाव सुन्दर सुहावने कोमल अंग प्रत्यंग के दरस परस को भाग्यहीन जन तरसते हैं "चिरात्सुतपस्पर्श रसज्ञतां ययौ" उसका सब रँग ढँग जवानी के आते ही अथवा यों कहिये पौगंड बीत जाने पर किशोर अवस्था के पहुँचते ही कुछ और का और होगया। बाल्यावस्था की मुग्धमाधुरी अकृत्रिम सरलता और सिधाई में सयानपन और कुटिलाई जगह करने लगी; स्वाभाविक सौन्दर्य्य में बनावटी सलोनापन आ समाया; नई नई सजावट की ओर जी झुक पड़ा। एक पैसे की शीरीनी और छदाम के मिट्टी के खिलौने में जहाँ ब्रह्मानन्द का सुख मिलता था तहाँ दो चार आनों की गिनती ही क्या है रुपयों की बात चीत आने लगी। लड़काई का उदार समभाव और सन्तोष कहीं एक बात में भी न रह सका। तृष्णा, लालच, हिर्स दोस्ती या दुश्मनी की बाज़ार गरम हुई; विषमभाव और मन की कुटलाई ज्ञान शक्ति बढ़ने के साथ ही साथ नित नित अधिक होती गई। होले २ पूर्ण तरुनाई तक पहुंच नीचे को खिसकने लगे गदहपच्चीसी को नाघ चेहलसाली को भी डांक अधेड़ की गिन्ती में आगये। बस अब खिसके सो खिसके। बाल चांदी होने लगे सौ २ तरह पर खिज़ाब कर पुराने ठिकरे पर नई कलई की भांति पहिले का सा कुदरती रंग फिर लाया चाहते हैं। किचकिचाते हैं, बार बार सोचते हैं कि नई जवानी और चढ़ती उमर का जोश तरोताज़ा हो जाता। बालों ही के सफ़ेद हो जाने के ग़म में डूबे बैठे थे कि दांत जो हीरे की दमक को भी दबाते हुए मोतियों की लड़ियों की तरह सोह रहे थे कगारे पर की रूख की भांति एक एक कर गिरने लगे, मुख के भीतर थोड़ी थोड़ी

दूर पर मानो विन्ध्यपर्वत का एक एक खड्डुसा खड़ा कर दिया गया। उधर नेत्र ने भी जवाब दिया, चश्मे की हाजत हुई। दिमाग़ कमज़ोर पड़ गया हाफ़िज़ा दुरुस्त न रहा। जो बात पहिले एक बार कहने या सुनने से अक़िल की सराय में मानो सदा के लिये टिकसी गई थी उसे रूठे पाहुने की भाँति बार २ बुलाते हैं, धोखते रहते हैं। पर सिवाय उचट जाने के बुद्धि में किसी तरह ठहरती ही नहीं। इतने में कान भी मान लाये। मुँह पर सिकुड़न आने लगी। हाड़ों को छोड़ छोड़ कर माँस और चिमड़ी ठौर ठौर इकट्ठी हो हो शरीर समथर मैदान में जगह जगह टीले से खड़े हो गये। अस्तु योंही होते होते साठ सत्तर अस्सी पहुंचे दिन करीब आय गये। मुँह बाय रह गये। "राम राम सत्य हैं दो चार दिन नित्य हैं।" "अहन्य हनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरं। शेषा जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्–" संसार कभी एकसा न रहा हमारा यह सिद्धान्त अब आया मन में। ख़ैर अब आगे बढ़िये। पञ्चभूतात्मक पञ्चप्राण वाले जीव जो इस चल और असार संसार में एक से न रहे तो कौन अचरज है जब अटल और सदा के लिये स्थिर बड़े बड़े पहाड़ सैकड़ों कोस के मैदान और जंगल भी काल पाय और के और हो जाते हैं — "पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमभवत्तत्र सरितां। विपर्यासं जातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम्"

उत्तर चरित्र में भवभूति कवि लिखते हैं कि दण्डकवन में पहिले जो सोते थे वे नदियों के प्रवाह के कारण अब पुलिन बन गये। घने और विरले जंगलों में उलट पुलट हो गई। जहाँ घना जंगल था वहाँ अब कहीं कहीं दो एक पेड़ रह गये और जो बिलकुल पट पर मैदान था वह

घने जंगल में बदल गया इत्यादि । तो निश्चय हुआ कि परिवर्त्तन जिसके हमारे पुराने बुड्ढे अत्यन्त विरुद्ध हैं इस अस्थिर जगत का एक मुख्य धर्म या गुण है वही नये लोग इस परिवर्त्तन पर अनमन न होकर चिढ़ते नहीं; वरन् इसे तरक्की को एक सीढ़ी मानते हैं । हमारे अभागे से भारत में परिवर्त्तन को यहां तक लोग बुरा समझते हैं कि दिन दिन अत्यन्त गिरी दशा में आकर भी परिवर्त्तन की ओर नहीं मन दिया चाहते । यह हमारी परिवर्त्तन विमुखता ही का कारण है ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

[१८५०–१८८४]

—:o:—

आधुनिक हिन्दी–साहित्य में हरिश्चन्द्र एक बड़े स्रोत के समान हैं। जिस प्रकार किसी स्रोत से निकल कर बहुत सी धारायें भिन्न भिन्न दिशाओं में बहती हैं, ठीक उसी प्रकार बाबू हरिश्चन्द्र की प्रखर प्रतिभा की ज्योति तथा उनकी अद्वितीय सहृदयता के प्रभाव से अनेक साहित्य–प्रेमियों का जन्म हुआ। यही नहीं, अब भी जब कि उनको संसार से उठे हुए चालीस वर्ष से अधिक हुए हैं, उनकी संचारित की हुई शक्ति हिन्दी-प्रेमियों को उत्साहित कर रही है।

भारतेन्दु के चारों ओर जिनके विषय में 'लाखन खरचि बर आखर खरीदे हैं' वाली बात प्रसिद्ध है एक प्रकार का प्रकाश-पुंज सा एकत्रित हो गया है। लोगों की यहाँ तक धारणा हो गई है कि आजकल हिन्दी–साहित्य की जो कुछ उन्नति तथा जो कुछ भिन्न भिन्न अंगों की पूर्ति होती देख पड़ती है उस सब की नींव हरिश्चन्द्र रख गये थे। यह बात अधिकांश में है भी ऐसी ही। कविता और नाटक का तो भारतेन्दु ने विशेष रूप से पुनरुज्जीवन किया था। इसके सिवाय उन्होंने

जनसाधारण की रुचि एकदम से उर्दू की ओर से हटा कर हिन्दी की ओर प्रेरित की थी।

परन्तु हिन्दी-गद्य को आधुनिक परिमार्जित स्वरूप देने में उन्होंने कोई सोद्देश्य प्रयत्न नहीं किया। गद्य में छोटी-मोटी जो पुस्तकें भी उन्होंने लिखी हैं, उनका महत्व यह देखते हुए कुछ भी नहीं है कि उनकी भाषा में उस चमत्कार का सर्वथा अभाव है जो अन्यत्र उनकी कृतियों में भरा है। सच तो यह है कि कविता और नाट्यकला को अलंकृत करने के लिए ही उन्होंने अवतार लिया था। अस्तु, यह बात ध्यान में रख कर कि नाटकों के बाहर जो कुछ उन्होंने गद्य में लिखा है उसमें टकसालीपन नाममात्र को भी नहीं है, उनकी गद्य-शैली पर संक्षेप से विचार करना है। अधिक विवरणपूर्वक प्रस्तावना (नं०२) में उसका उल्लेख हो चुका है। ऐसा ज्ञात होता है कि 'काश्मीर-कुसुम', 'वैष्णवसर्वस्व', 'चरितावाली' आदि जो निबन्ध भारतेन्दु ने गद्य में लिखे थे, उनको लिखते समय उनका यह ध्येय कदापि नहीं रहा होगा कि उनमें वे अपना शैली-चातुर्य दिखावें। वे उन्होंने केवल धार्मिक आवेश तथा देशप्रेम के भावों से प्रेरित होकर लिखे थे। स्वयं वैष्णव होने के कारण तथा वैष्णव धर्म में भक्ति रखते हुए उन्होंने 'वैष्णव-सर्वस्व' लिख डाला। इसी प्रकार सूरदास, जयदेव, कबीर आदि महापुरुषों की संक्षिप्त जीवनियाँ भी उन्होंने लिखी थीं। यह कहना अनुचित न होगा कि शायद बिना कविता का

सहारा लिये ही जहाँ कहीं उन्हें गद्य लिखना पड़ा है वहाँ नीरसता का अनुभव होने से उनकी भाषा शुष्क सी हो गई है। यही कारण है कि नाटकों में और विशेषकर 'भारतदुर्दशा' में कवितामयी अथवा अभिनयापेक्ष परिस्थिति में अनेक गद्य के बड़े सुंदर नमूने मिलते हैं।

जैसा कि प्रस्तावना में विस्तारपूर्वक कहा जा चुका है, हरिश्चन्द्र का सर्वोत्तम गद्य ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों की ओर झुका है। 'करें' के थान में 'करैं', 'संग', आदि अन्य बहुत से प्रयोग इस बात के उदाहरण हैं।

बनारस के आसपास की पूर्वीय हिन्दी की छाया भी उनके गद्य की क्रियाओं, लिंगों तथा कारक-चिन्हों से प्रकट होती है। जैसे "जिन लोगों ने केवल उत्तम उत्तम वस्तु चुन कर एकत्र किया है।" खड़ी बोली से इस प्रकार का व्याकरण कोसों दूर है।

कभी कभी उनकी भाषा क्लिष्ट संस्कृत से पूर्ण होती है जैसे कि उनके 'नाटक' शीर्षक लेख में मिलती है। वह संस्कृतता ऐसे स्थलों पर ही मिलती है जहाँ कि उन्हें गम्भीर विषयों पर लिखना होता है। बात यह जान पड़ती है कि अपनी गद्य-शैली को विषयानुसार बदलने की सामर्थ्य उनमें कम थी। केवल सुगम विषयों पर तथा कथनोपकथन लिखने में ही उनका पूर्ण अधिकार था। ऐसा गद्य लिखना जिसके प्रतिपाद्य विषय से तथा जिसकी भाषा से कविता कोसों दूर जाती हो,

भारतेन्दु की रसीली प्रकृति के विरुद्ध पड़ता था। तभी प्रायः मननशील विषयों के उपयुक्त उनका गद्य नहीं है।

उनके गद्य में नागरिकता है। ग्रामीण मुहावरों तथा भावों के लिए उसमें कोई स्थान नहीं है। इसका प्रमाण यह है कि यद्यपि उनके नाटकों का गद्य बड़ा मुहावरेदार तथा रोचक है, तथापि ढूँढ़ने पर भी उसमें सिवाय तुलसीकृत रामायण की उपयुक्त पंक्तियों, कुछ शिष्ट समाज में प्रचलित लोकोक्तियों तथा उर्दू, फ़ारसी की चलती हुई शेरों के, कोई भी ऐसे मुहावरे न मिलेंगे जिनसे भारतेन्दु के गद्य संबंध किंचित्‌मात्र भी ग्राम्य भाषा से सिद्ध हो सके।

---

(१)

महाकवि जयदेव

जयदेव जी की कविता का अमृतपान करके तृप्त चकित मोहित और घूर्णित कौन नहीं होता, और किस देश में कौन ऐसा विद्वान् है जो कुछ भी संस्कृत जानता हो और जयदेव जी की काव्य-माधुरी का प्रेमी न हो। जयदेव जी का यह अभिमान कि अंगूर और ऊख की मिठास उनकी कविता के आगे फीकी है बहुत सत्य है। इस मिठाई को न पुरानी होने का भय है न चींटी का डर है। मिठाई है पर नमकीन है।— यह नई बात है। सुनने पढ़ने की बात है पर गूँगे का गुड़ है। निर्जन में, जंगल, पहाड़ में जहां बैठने को बिछौना भी न हो वहां गीतगोविन्द सब आनन्द-सामग्री देता है, और जहां कोई मित्र, रसिक, भक्त, प्रेमी न हो वहां

यह सब कुछ बन कर साथ रहता है । जहां गीत-गोविन्द है वहीं वैष्णव-गोष्ठी है, वहीं रसिक-समाज है, वहीं वृन्दावन है, वहीं प्रेम सरोवर है, वहीं भाव-समुद्र है, वहीं गोलोक है, और वहीं प्रत्यक्ष ब्रह्मानन्द है ।...

---

(२)

नाटक रचना-प्रणाली

नाटक-रचना में शैथिल्य-दोष कभी न होना चाहिये, नायक नायिका द्वारा किसी कार्य विशेष की अवतारणा करके अपरिसमाप्त रखना अथवा अन्य व्यापार की अवतारणा करके उसका मूलच्छेद करना नाटक-रचना-उद्देश्य नहीं है । जिस नाटक की उत्तरोत्तर कार्यप्रणाली सन्दर्शन करके दर्शक लोग पूर्व पूर्व कार्यविस्मृत होते जाते हैं वह नाटक कभी प्रशंसा-भाजन नहीं हो सकता । जिन लोगों ने केवल उत्तम उत्तम वस्तु चुन कर एकत्र किया है उनकी गुम्फित वस्तु की अपेक्षा जो उत्कृष्ट, मध्यम और अधम तीनों का यथास्थान निर्वाचन करके प्रकृति की भावभंगी उत्तम रूप से चित्रित करने में समर्थ हैं वही काव्यामोदी रसज्ञमण्डली को अपूर्व आनन्द वितरण कर सकते हैं । कालिदास, भवभूति और शेक्सपियर प्रभृति नाटककार इसी हेतु पृथ्वी में अमर हो रहे हैं । कोई सामग्री नहीं है, अथच नाटक लिखना होगा यह अलीक संकल्प करके जो लोग नाटक लिखने को लेखनी धारण करते हैं उनका परिश्रम व्यर्थ हो जाता है । यदि किसी को नाटक लिखने की वासना हो तो नाटक किसको कहते हैं इसका तात्पर्य हृदयंगम करके नाटक-रचयिता को सूक्ष्मरूप से ओतप्रोत भाव में मनुष्य की प्रकृति आलोचना करनी चाहिए । जो अना-

लोचित मानव प्रकृति है, उनके द्वारा मानव जाति के सब अन्तर्भाव विशुद्ध रूप से चित्रित होंगे, वह कभी संभव नहीं है। इसी कारण से कालिदास का 'अभिज्ञानशाकुन्तल' और शेक्सपियर के 'मैकबथ' और 'हेमलेट' इतने विख्यात होके पृथ्वी के सर्वस्थान में एकादर से परिभ्रमण करते हैं। मानव प्रकृति की समालोचना करनी हो तो नाना देश में भ्रमण करके नाना प्रकार के लोगों के साथ कुछ दिन बास करै; तथा नाना प्रकार के समाज में गमन करके विविध लोगों का आलाप सुनै तथा नाना प्रकार के ग्रन्थ अध्ययन करै। यह न करने से मानव प्रकृति समालोचित नहीं होती। मनुष्य लोगों की मानसिक वृत्ति परस्पर जिस प्रकार अदृश्य हैं उन लोगों के हृदयस्थ भाव भी उसी रूप अप्रत्यक्ष हैं। केवल बुद्धि-वृत्ति की परिचालना द्वारा तथा जगत के कतिपय वाह्य कार्य पर सूक्ष्म दृष्टि रखकर उसके अनुशीलन में प्रवृत्त होना होता है। और किसी उपकरण द्वारा नाटक लिखना झख मारना है।

———

पं० भीमसेन शर्मा

[१८५४–१९१७]

—:०:—

[पं० भीमसेन जी स्वामी दयानन्द सरस्वती के विश्वस्त शिष्यों में से थे, तथा आर्यसमाज के सिद्धान्तों के विद्वत्तापूर्ण प्रतिपादक थे। बहुत वर्षों तक वे स्वामी जी के साथ ही साथ रहे थे और प्रचार-कार्य में उनकी पूरी सहायता करते थे। एक बार किसी कारण उन्होंने अचानक आर्यसमाज त्याग दिया और कट्टर सनातनधर्मी बन गये जो अन्त तक वे रहे। हिन्दी–गद्य के उन थोड़े से सहायकों में पं० भीमसेन शर्मा की गणना है, जो धार्मिक पक्षपात के आवरण से घिर कर विस्मृति के अन्धकार में पड़ गये हैं और जिनके कार्य को ठीक ठीक विवेचना अभी तक नहीं हो पाई। कई वर्ष तक वे प्रयाग से 'प्रयाग–समाचार' निकालते रहे थे जब वे आर्यसमाज में ही थे। बाद को वे इटावे से 'ब्राह्मण-सर्वस्व' नामक सनातनधर्मी पत्रिका का सम्पादन करते रहे।]

पं० भीमसेन अपने समय के धुरन्धर विद्वान् थे। स्वामी दयानन्द के साथ रहते रहते उन्हें उस विषय का अधिक अध्ययन करने का अवकाश मिला होगा। परन्तु वे कोरे

संस्कृतज्ञ ही न थे। आर्यसमाज ने अपने किसी भी विद्वान् परिपोषक को एकान्त में बैठे बैठे अपनी विद्वत्ता को जुगाली करना कभी नहीं सिखाया, वरन् उसे सदैव उसी के सहारे सर्व साधारण में सद्भावों की चर्चा कराने की शिक्षा दी। अस्तु, पं० भीमसेन शर्मा ने स्वामी दयानन्द की सेवा में रह कर तथा आर्यसमाज के सिद्धान्तों का उद्घाटन तथा प्रस्फुरण अपनी आँखों से स्वामी जी की अध्यक्षता से देखते रह कर, संस्कृत के साथ साथ हिन्दी को भी अपनाना सीखा। स्वामी जी का लेखन-कार्य भी वे बहुत कुछ करते थे। इस प्रकार, क्योंकि स्वामी जी के ही द्वारा उनकी रुचि हिन्दी की ओर प्रवृत्त हुई, इसी लिए उनके गद्य में भी उन्हीं की सी संस्कृतता है।

पं० भीमसेन शर्मा का गद्य राजा शिवप्रसाद के विपरीत दिशा में झुका हुआ है। वे एक स्थल पर कह चुके हैं कि "जो जाति स्वतन्त्र भाषा का अभिमान रखती हो......उस जाति के लिए अपनी भाषा को खिचड़ी बनाने की शैली उपयुक्त नहीं कही जा सकती।" अर्थात् वे मिश्रित भाषा के घोर विरोधी थे। वे उन लोगों में से थे जो हिन्दी को देववाणी की कन्या मानते हैं, और जो उसके संस्कृत के सम्बन्ध को छिपाने वाले फ़ारसी, उर्दू आदि अन्य विदेशीय भाषाओं के मिश्रण से चिढ़ते हैं। वे कहते हैं कि "संस्कृत-भाषा के अक्षय भंडार में शब्दों की न्यूनता नहीं है। हमको चाहिये कि अपनी भाषा

की पूर्ति संस्कृत के सहारे से यथोचित करें। जिन लोगों को जिन विशेष प्रचरित अन्य भाषान्तर्गत शब्दों के स्थान में उनसे सर्वथा भिन्न संस्कृत शब्दों का व्यवहार करने की रुचि नहीं है तो उसी से मिलते हुए संस्कृत शब्दों का वहाँ प्रयोग करना चाहिये।"

पं० भीमसेन जी ने इस प्रकार के कई उर्दू शब्दों को जो हिन्दी में मिल से गये हैं संस्कृत का रूप देकर नये सिरे से गढ़ने का प्रयत्न किया था। 'शिकायत' और 'चश्मा' के स्थान में उन्होंने 'शिक्षायतन' और 'चक्ष्म' अथवा 'चक्ष्मा' को प्रयोग करने की अनुमति दी थी। यही नहीं, व्याकरण की रीति से उनकी समीचीनता भी उन्होंने सिद्ध की है।

तात्पर्य यह है कि हिन्दी के शब्द-कोश को समृद्ध करने के लिए भीमसेन जी सिद्धान्ततः इस बात पर ज़ोर देते थे कि नये नये भावों को व्यक्त करने के लिए जो शब्द गढ़े जावें वे जहाँ तक सम्भव हो सीधे संस्कृत से ही लाये जावें। अभी कुछ वर्ष पूर्व जब सब लोग एक स्वर से यह कह रहे थे कि हिन्दी शुद्ध रखना चाहिए, और यही नहीं वैज्ञानिक कोश के निर्माण के जोश में जब 'ओषजन', 'हिद्रजन' आदि शब्द ज़बर-दस्ती बनाये जा रहे थे तब तक ऐसी हवा चल उठी थी कि जिसके वेग में पड़कर हिन्दी-गद्य की विकास-धारा उलटी ओर घुमाई जा रही थी। पं० भीमसेन शर्मा उस शुद्धिवाद के बड़े समर्थक थे। यह कहना तो अनुचित है कि ('सिफ़ारिश'

के बदले) 'च्चिप्रग्राशिष्', ('साहिब' के बदले) 'साहब' ('आहवेन सहे वर्तते सत्सम्बन्धे तन्निर्णयाय यः प्रवर्तते स साहबः'), ('दुश्मन' के बदले) 'दुःशमन' आदि विचित्र गढ़न्तें उनकी सनक मात्र की द्योतक हैं, किन्तु कुछ भी हो उन्होंने एक बड़ी मनोरंजक भाषा-विषयक जाँच (experiment) की थी। परन्तु उनके बनाये हुए इस प्रकार के शब्दों में से एक का भी अभी तक प्रचार नहीं हो पाया। इससे साफ़ जान पड़ता है कि भीमसेन जी का वह प्रयत्न निष्फल हुआ है।

संस्कृत भाषा की अद्भुत शक्ति

यदि संसार में कोई ऐसा वस्तु समझा जा सकता है कि जो जातीय गौरव तथा जातीय अभ्युत्थान का अवलम्ब हो तो कह सकते हैं कि विदेशी भाषाओं से ऋण लेकर केवल स्वदेशी भाषा और अपनी लिपि है। आत्म गौरव का संस्कार जागे बिना जातीय अभ्युत्थान का होना असम्भव है और जहां की भाषा अपने देश के उपकरणों से संगठित नहीं हैं वहां आत्म-गौरव के संस्कार का आविर्भाव होना असंभव है। क्योंकि ऐसी दशा में संसार यही कहेगा कि "कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा"। जहां आत्मगौरव का अभाव है उस देश वा जाति का जातीय अभ्युत्थान होना भी असंभव सा ही जानो। क्योंकि जब आत्मगौरव का संस्कार मन वा अन्तःकरण में जागता है तभी वाणी और शरीर से सम्बन्ध रखने वाले उच्च कर्त्तव्य-पालन द्वारा जाति का अभ्युत्थान होता है।

जो मनुष्य ऐसे वंश में उत्पन्न हुआ है जिसमें गौरव का कुछ चिन्ह भी नहीं, न कोई वैसा कर्त्तव्य-पालन है उसका उत्थान होना सम्भव नहीं है। क्योंकि जन्मान्तरीय संस्कार स्वच्छ होने पर भी उन संस्कारों के उद्बोधक निमित्त कारण उस जाति में प्राप्त नहीं हैं, इसी कारण ऐसे साधनहीन वंशों में उच्च कोटि के विचारवान मनुष्यों का सदा ही अभाव दीखता है। विचार का स्थान है कि मेवाड़ के महाराणा वीरों ने म्लेच्छों के समक्ष शिर नहीं झुकाया तथा अन्य सभी राजाओं ने शासक यवनों की अधीनता स्वीकार की। इसका कारण वंशपरम्परागत आत्मगौरव ही था और है क्योंकि इक्ष्वाकु महाराजा के सूर्यवंश का आत्मगौरव परम्परा से चला आता है कि जिस आत्मगौरव ने चिरकालावधि प्रातःस्मरणीय श्रीमान् महाराणा प्रतापसिंह के अयोग्य पुत्र महाराणा अमरसिंह के दुर्बल हृदय पर भी वीरता की चिनगारियां विकीर्ण करदीं थीं। अतएव हमारा कर्त्तव्य यह है कि हम भारतवासी लोग अपनी भाषा को अपने स्वदेशीय उपकरणों से संगठित करें कि जो जातीय अभ्युत्थान का प्रधान साधन है।

यद्यपि इस उक्त विचार पर यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि संसार में ऐसी भी जातियां विद्यमान हैं कि जिनकी भाषा अन्य अनेक देशीय भाषाओं का अवलम्ब करके बनी हैं और वे इस समय राजराजेश्वर हैं तो फिर नाना भाषाओं से शब्दों को चुन चुन कर हम लोग भी अपनी भाषा की पूर्ति क्यों न करलें? निस्सन्देह यह प्रश्न कुछ जटिल है, तथापि विचार के चक्षुओं से आलोचना करने पर विदित होता है कि राजराजेश्वर हो जाने पर भी वे लोग मनुष्योन्नति की चरमसीमा

से बहुत दूर हैं जो उन्नति के शिखर तक पहुंच भी नहीं सकते। वेदादि शास्त्रों के मन्तव्यानुसार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार मानव जाति की उन्नति के विषय हैं। वेदादि शास्त्रों को न मानने वाले ईसाई, मूसाई आदि भी इन चार से भिन्न कोई अन्य विषय सिद्ध कर नहीं सकते। इन चार में से साम्प्रतिक उन्नत जातियों में धर्म और मोक्ष दो विषयों के तत्त्वज्ञान का तो सर्वसम्मत अभाव है। भारतवासी द्विज भी धर्म और मोक्ष साधनों से पूर्वापेक्षा अधिकांश गिरे होने पर भी उन्नत जातियों की अपेक्षा अब भी धर्म और मोक्ष साधनों से अधिकतर सम्पन्न हैं यह बात उन्नत जातियों के निष्पक्ष लोग भी जानते और मानते हैं। तीसरे कामसुख की सीमा साक्षात् इसी मानव शरीर से स्वर्गीय दिव्य सुखों का अनुभव करना वा योगाभ्यास के द्वारा अष्ट सिद्धियों सम्बन्धिनी कामनाओं की प्राप्ति से होने वाले आनन्द का अनुभव करना है। साम्प्रतिक उन्नत जातियां इस तीसरी कामोन्नति से वंचित हैं यह भी प्रत्यक्ष सिद्ध है। यद्यपि वर्त्तमान के भारतवासी द्विज भी इस उन्नति से अधिकांश पतित हैं तथापि उन्नत जातियों की अपेक्षा अब भी हम लोग स्वर्गादि से कम वंचित हैं। अब रह गयी चौथी एक अर्थोन्नति, सो यह सर्वसम्मत है कि जो इस अर्थोन्नति में हम भारतवासी लोग अधिकतर अधःपतित हो गये हैं और वर्त्तमान की अन्य उन्नत जातियां इसी अर्थोन्नति में हमसे बहुत आगे बढ़ गयीं हैं, और इस समय के प्रायः सभी लोग इसी उन्नति को उन्नति समझते हैं। इस अर्थोन्नति की सीमा भूमण्डल भर का एक चक्रवर्ती राजा होना है। जिस जाति वा जिस धर्म वालों का भूमण्डल पर चक्रवर्ती राज्य होजाता है उस जाति

वा धर्म वालों की पूर्ण अर्थोन्नति मानी जाती है। वर्त्तमान ईसाई आदि जातियों में किसी को भी सीमापर्यन्त अर्थोन्नति अब तक कभी नहीं हुई और हमारा विश्वास है कि ऐसी जातियों की सीमापर्यन्त अर्थोन्नति कभी आगे भी नहीं हो सकती क्योंकि पूर्ण धर्मात्मा होने से धर्म के द्वारा मनुष्य की सीमा अर्थोन्नति हो सकती है इसी से पूर्ण धर्मात्मा राजा ही चक्रवर्त्ती हो सकता है। और वर्त्तमान की उन्नत जातियों में से किसी में भी धर्माचरण की प्रधानता होना असम्भव है। इसलिये हमको अपनी सर्वाङ्गपूर्ण भाषा के द्वारा धर्मादि चारों विषयों में सीमापर्यन्त उन्नति के शिखर तक पहुंचने का पूरा पूरा उद्देश्य मन में रखना चाहिये।

इसी ऊपर के लेखानुसार मानना चाहिये कि जातीय अभ्युत्थान केवल राजनैतिक उन्नति पर हो पर्यवसित नहीं है किन्तु इसके साथ ही साथ सामाजिक और धर्मादि विषय पर निर्भर है। जिन जातियों की भाषा खिचड़ी के तुल्य है वे भी जातियां धर्म के और समाज के संगठन में पराधीन हैं और अनेक भाषाओं के शब्दों से अपनी भाषा पूर्ण करने की शैली उन जातियों को अवश्य सफलता प्राप्त करा सकती है कि जो किसी समय सर्वथा जंगली जातियां रहीं हों और जिनने ऐसे ही सहारे से अपनी उन्नति की हो। जिनमें अपना पूरा पूरा अवलम्ब नहीं है उनको भिक्षावृत्ति के अतिरिक्त अन्य क्या हो सकता है? परन्तु उनमें अपनी स्वतन्त्र भाषा का अभिमान उन्नति के मार्ग में चलाने वाला नहीं होता और उनकी भाषा का जीवन भी संकट से ग्रस्त रहा करता है क्यों कि वैसी भाषा गिरगट के तुल्य रंग बदला करती और प्रत्येक सहस्र वर्ष

में मृतप्राय हो जाती है। और जो जाति स्वतन्त्र भाषा का अभिमान रखती हो उस जाति के लिये अपनी भाषा की खिचड़ी बनाने की शैली उपयुक्त नहीं कही जा सकती। यदि किसी जाति पर राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक विप्लव का आरोप किया जावे कि इस जाति के राजनैतिकादि बल नष्ट भ्रष्ट हो जावें तो इस विप्लव का प्रधान साधन यही हो सकता है कि जाति की भाषा और लिपि के अधःपतन का उपाय कार्य में परिणत किया जाय अर्थात् उस भाषा को अन्यदेशीय भाषा वा शब्दों के तथा लिपि के अधीन किया जावे। तब ऐसी दशा में उस आत्म-विश्वास का तिरोभाव क्रमशः होते होते नाना प्रकार के विप्लव आ घुसेंगे। इसका परिणाम यही होगा कि उसका नाम केवल इतिहास में ही उल्लेख योग्य रह जावेगा किन्तु उनका पता कुछ भी नहीं रहेगा। पाँच भौतिक शरीर की विद्यमानता से ही जातीय जीवन समझा नहीं जाता किन्तु जिस जाति में भाषादि के स्वकीय उपकरण नहीं हैं समझना चाहिये कि वह जाति जीवित नहीं है किन्तु मृत है।

वर्त्तमान कालिक हिन्दी-जगत् में उदारता का एक नवीन प्रवाह बहने लगा है कि हम अपनी भाषा की श्रीवृद्धि नाना भाषाओं के सहारे से करें। उन महाशयों का कथन है कि हिन्दी जब राष्ट्रभाषा है [उसे चाहें अन्य प्रान्तीय राष्ट्रभाषा मानें वा न मानें] तब यह संस्कृत वा अन्य किसी भाषा की अधीनता क्यों स्वीकार करे ? सो उन महाशयों का यह विचार पूर्वोक्त कारणों से ठीक वा उचित नहीं है तथा, द्वितीय, यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि संस्कृत का अनुसरण करने वाली अन्यान्य बंगादि भाषाओं से हमारी भाषा बहुत भिन्न वा दूर हो

जायगी और इसका परिणाम यह होगा कि बंगादि अन्य प्रान्त वाले हिन्दी भाषा को फ़ारसी, अरबी आदि विदेशीय भाषाओं के तुल्य म्लेच्छ भाषा समझने लगें क्योंकि वे लोग अपनी अपनी भाषा को संस्कृतोन्मुख करने में प्रवृत्त हो चुके हैं और हिन्दी को अन्य देशीय भाषाओं के संयोग से खिचड़ी करने का प्रयत्न किया जाय तो काल पाकर अन्य प्रान्तीय भाषाओं से हिन्दी का बड़ा अन्तर पड़ जायगा। हिन्दी को वैदिक म्लेच्छ भाषा कहने के कुछ कुछ चिन्ह अभी से दीखने भी लगे हैं। अतएव हमको अभी से सतर्क हो जाना चाहिये और इस समय हमारा प्रधान कर्त्तव्य यह है कि हम लोग अपनी हिन्दी-भाषा को संस्कृत की ओर झुकाने का प्रयत्न प्रारम्भ कर देवें।

संस्कृत-भाषा के अक्षय भाण्डार में शब्दों की न्यूनता नहीं है, हमको चाहिये कि अपनी भाषा की पूर्ति संस्कृत के सहारे से यथोचित करें, यदि ऐसा हो तो भिक्षावृत्ति के अवलम्बन की आवश्यकता कुछ नहीं होगी। यदि हम लोग संस्कृत के धातुप्रत्ययों के संयोग से नवीन शब्द बनाने का कष्ट न उठाना चाहें तो संस्कृत भाषा की आत्मीयकरण-शक्ति ऐसी है कि जिसके सहारे अन्य भाषा के शब्दों में से आवश्यकतानुसार अधिकांश को तद्वत् अथवा समीप्य रूप के सहारे मिला सकते हैं और वे शब्द संस्कृत धातुप्रत्ययों से सिद्ध होने के कारण संस्कृत ही कहे माने जा सकते हैं। समाचारपत्रों के सम्पादकादि अनेक महाशयों ने अबतक ताज़ीरातहिन्द के स्थान में भारतीय दण्डसंग्रह, कचहरी का न्यायालय, मुक़द्दमा का अभियोग, गवाह का साक्षी, मुद्दई व मुद्दालह का वादी-प्रतिवादी, सज़ा का दण्ड इत्यादि अनेक संस्कृत शब्दों के लिखने बोलने

का प्रारम्भ कुछ काल से कर दिया है और यह व्यवहार भी दिन दिन वृद्धिगत होता ही जाता है। हम सहर्ष ऐसे प्रचार का अनुमोदन करते और उन प्रचारक महाशयों को धन्यवाद देते हैं। तथा एक द्वितीय प्रकार यह है कि जैसे हम कहते मानते हैं कि जैसे संस्कृत वार्दल शब्द का रेफ उड़ जाने से लोक में बादल कहने लगे। वार नाम जल का है उसके दल नाम खण्ड बादल कहाते हैं। यही अर्थ अब भी बादल शब्द से समझा जाता है। इसी से वार्दल का अपभ्रंश बादल कपाट का अपभ्रंश किवाड़, भित्ति का भीत, गृह वा गेह का घर, कुटी का कुरी, चतुष्काष्ठ का चौखट, चतुष्कोणी का चौकी, शिरोधर का सरदल, चतुष्कोण का चौका, कर्ण का कान, नासिका का नाक, अक्षि का आंख, हस्त का हाथ, पाद का पांव इत्यादि अपभ्रंश हुए हैं। वैसेही जिन लोगों को जिन विशेष प्रचरित अन्य भाषान्तर्गत शब्दों के स्थान में उनसे सर्वथा भिन्न संस्कृत शब्दों का व्यवहार करने की रुचि यदि नहीं है तो उसी से मिलते हुए संस्कृत शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। इसके लिये अति संक्षेप से थोड़े से उदाहरण हम दिखाते हैं।

जैसे–शिकायत शब्द अन्य भाषा का है परन्तु हिन्दी-भाषा में विशेष रूप से प्रचलित हो गया है। यदि इस पद के स्थान में उपालम्भ शब्द का प्रयोग करने की रुचि नहीं है और यह इच्छा है कि इसी अर्थ का बोधक इसी से मिलता हुआ संस्कृत-शब्द हो तो वैसे शब्द भी संस्कृत-भाषा की अद्भुत शक्ति होने से हम को प्राप्त हो सकते हैं जिनका स्वरूप अर्थ दोनों मिल सकते हैं जैसे–शिक्षायत्न वा शिक्षायत्ति। जिस मनुष्य की शिकायत की जाती है उसको कुछ शिक्षा व दण्ड देने वा दिलाने का

अभिप्राय होता है कि जिससे वह आगे वैसा न करे इससे शिकायत शब्द के स्थान में शिक्षायत्न शब्द का प्रयोग उचित है। चश्म, चश्मा शब्द के स्थान में उपचक्षु शब्द का व्यवहार करना यदि नहीं रुचता तो उसका शुद्ध संस्कृत शब्द चक्ष्म व चक्ष्मा भी हो सकता है। तब शिकायत तथा चश्मा शब्दों को बोलते लिखते हुए भी शिक्षायत्न का अपभ्रंश शिकायत को मानना और चक्ष्मा शब्द का अपभ्रंश चश्मा को मान लेना चाहिए क्योंकि दर्शनार्थ चक्षिङ धातु से चक्ष्मा बनेगा, देखने का साधन चक्ष्मा कहा जायगा। मन आशा का अपभ्रंश मंशा पद को मानना उचित है। ग्रसु ग्लसु अदने। धातु से घञ् प्रत्यय करने पर ग्लास पद सिद्ध होता है। ग्लसन्ति जलंखादन्ति येन स ग्लासःपात्रम्। इसी ग्लास शब्द को कुछ बिगाड़ के गिलास बोलने लगे ऐसा मानना चाहिए। साहब शब्द भी संस्कृत है आहवनाम संग्राम वा विग्रहमात्र का है।

लड़ाई झगड़े का निर्णय करने में प्रवृत्त रहने वाला मनुष्य साहब कहावेगा। उसी का अपभ्रंश साहिब वा साहेब मानना चाहिए। सिफ़ारिश–क्षिप्राशिष् अर्थात् जिस क्रिया से शीघ्र ही कार्य सिद्धि की आशा हो वह क्षिप्राशिष् कहा सकती है। उसी को बिगाड़ के सिफ़ारिश शब्द अपभ्रंश बन गया ऐसा मान लेने पर कुछ हानि नहीं है।

दुकन्दार तथा द्विकन्दार दोनों शब्द संस्कृत हो जाते हैं यदि निन्दितार्थ में शब्द का प्रयोग इष्ट हो कि ग्राहकों को लोभ परायण होकर ठगनेवाले विक्रेता का नाम है, क्रेता विक्रेता दोनों सुख का नाश करने वाले द्विकन्दार कहावेंगे। ऐसे अर्थ में दुकन्दार शब्द को अपभ्रंश मान

लेना चाहिये। यदि सत्यभाषण द्वारा उचित लाभ लेने अच्छा वस्तु देने वाला विक्रेता प्रशस्तार्थबोधक लेना अभिष्ट हो तो दुक नाम ठगई के दुःख को नष्ट करने का विक्रेता दुकन्दार कहावेगा। तब यह अपभ्रंश नहीं माना जावेगा। उस पूर्वोक्त दशा में दुकन्दार अपभ्रंश माना जायगा। ताराप जिस जलाशय में मनुष्यादि तर सकें जिसमें तरने योग्य अप् नाम जल हो वह ताराप कहावेगा। उसका अपभ्रंश तालाब हो गया। अपो जलं तापयतीति–अप्ताप: सूर्यः। इसी अप्ताय शब्द का अपभ्रंश आफ्ताब होगया ऐसा मानना अनुचित कुछ नहीं है।

न्यायालय में न्यायाधीश के समक्ष अज नाम ईश्वर को साक्षी करके किया कथन अजहार कहाता अथवा जिस कथन में अपने मनका भावहरण नाम गोपन न किया जाय किन्तु अपने हृदय का सभी भाव प्रकाशित कर दिया जाय वह अजहार कहाता है। उसी का अपभ्रंश इजहार होगया जानों, इजहार के स्थान में यदि हम अजहार बोलें वा लिखें तब भी व्यवहार में किसी प्रकार की बाधा नहीं हो सकती अर्थात् हमको अजहार शब्द संस्कृत मानकर इजहार को उसी का अपभ्रंश मान के व्यवहार करना उचित है। किन्तु इजहार को अन्य भाषा का शब्द मानने की आवश्यकता नहीं है। यदि हम दुश्मन शब्द को अपने लिखने बोलने के व्यवहार में लाना चाहें तो उसे दुःशमन संस्कृत शब्द का अपभ्रंश मानकर व्यवहार करना अच्छा है क्योंकि दुःख के साथ उस शत्रु का शमन किया जा सकता है। यदि हम निजात शब्द को अपने व्यवहार में लावें तो उसको नजात का अपभ्रंश मान लेना चाहिये क्योंकि निजात नाम मुक्ति का है। न जायते नोत्पद्यते प्राणी य थाम-

वस्थायांसा नजाता । जिस दशा में फिर जन्ममरण नहीं होता वही अवस्था नजात शब्दवाच्य मुक्ति जानो ।

यदि हम आसमान शब्द को अपने व्यवहार में लावें तो आसमान शब्द का अपभ्रंश मानें । आसमन्तात्समानानमेवरूपं यदस्ति सर्वत्र विद्यते न च घटादिषु विकृतं भवति तदासमानम् । जो सब घटादि पदार्थों में एक ही रूप रहता, जिसमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता वह आसमान नाम आकाश का है उसी का अपभ्रंश आसमान होगया जानो । बन्ध धातु से उर प्रत्यय करने पर बन्धुर शब्द बनेगा । जिस समुद्र तट पर जहाज़ बांधे जावें वह स्थान बन्धुर हुआ उसी का अपभ्रंश बन्दर शब्द को मान लेना चाहिये । अथवा स्तुति अर्थवाले वदिधातु से औणादिक अर प्रत्यय करने पर प्रशस्त कार्य साधक स्थान का नाम बन्दर हो सकता है ।

हमने जो उदाहरणार्थ शब्दों के संस्कृत–रूप यहां दिखाये हैं उससे हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि उन उन अंग्रेज़ी फ़ारसी के शब्दों के स्थान में हमारे लिखे ही शब्द मान लिये जावें किन्तु कोई महाशय इससे भी अच्छे अन्वर्थ संस्कृत–शब्दों का अन्वेषण उन उन विदेशी शब्दों के स्थान में करें यह हो सकता है पर उसकी रीति यही होगी । आज हम इस बिचार को यहीं समाप्त करते हैं ।

पण्डित प्रतापनारायण मिश्र

[१८५६-१८९४]

——:०:——

पंडित प्रतापनारायण जी मिश्र हिन्दी के उन थोड़े से लेखकों में से हैं जिनका जीवन-वृत्तान्त उतना ही रोचक है जितना कि उनका साहित्यिक कार्य। मिश्र जी का जीवन स्वयं एक उपन्यास की भाँति था। उस पर जितना ही कहा जाय सब थोड़ा है। वास्तव में उनके जीवन-स्रोत से जितनी धारायें निकल कर उनके लेखों की भाषा के आलबाल में मिली हैं, उनका जितना सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुसंधान किया जाय, उतना ही उनके साहित्यिक महत्व को समझने में आसानी होगी। यह कहना भी अत्युक्ति-पूर्ण न होगा कि उनके प्रत्येक साहित्यिक गुण का उल्लेख करते समय यदि प्रयत्न किया जाय, तो उसी के समानान्तर उनके दैनिक जीवन की कोई न कोई घटना अवश्य मिल सकती है।

मिश्र जी का जन्म सन् १८५६ में पंडित संकठाप्रसाद जी के घर में हुआ था। बाल्यावस्था से ही मिश्र जी की प्रकृति में स्वतन्त्रता के लक्षण विद्यमान थे। उनके पिता ने भी पुत्र को ज्योतिषाचार्य बना कर अपने ही साँचे में ढालना चाहा,

परन्तु ज्योतिष से बिचक कर वे अलग खड़े हो गए। उनकी रुचि निरे पुस्तक-प्रेम की ओर कभी नहीं रही, वे तो आरम्भ से ही आनन्दमय जीवन बिताने के पक्षपाती रहे थे। ग्रन्थ के बाद ग्रन्थ घोंटना, तथा दुनिया से सम्बन्ध तोड़ कर, अकेले बैठे बैठे विद्वत्ता के नशे की झोंक में बड़ी बड़ी भीमकाय पुस्तकें लिखने में सारी जवानी गँवा देना तथा आधी उमर में बुढ़ापा से हाथ मिलाकर 'भस्मान्तग्वं शरीरं' का मंत्र जपते हुए एक दिन अन्तिम हिचकी ले लेना, ये सब बातें प्रतापनारायण जी की समझ में नहीं आ सकती थीं।

वे स्वयं 'प्रेम-धर्म' के अनुयायी थे। वह उन्हें सदैव मस्त रहने तथा चैन से जीवन व्यतीत करने का पाठ पढ़ाया करता था।

एक बार की बात है कि कानपुर में पंडित दीनदयालु जी शर्मा 'व्याख्यान-वाचस्पति' के आदेशानुसार सभा की गई और एक सनातन-धर्म-सभा की स्थापना की योजना हुई। कई लोगों के व्याख्यान हो चुकने के बाद पं० प्रतापनारायण जी की बारी आई। उन दिनों में वे सनातन-धर्मी बन गये थे। ख़ैर, भँड़ैती में प्रवीण तो थे ही, वे जान बूझ कर घर से अपने रूमाल को इलायची के तेल से भिगो लाये थे। जब खड़े होकर हिन्दू-धर्म की पतित अवस्था पर करुणाजनक वक्तृता देना आरम्भ किया, तब आँखों में आँसू लाने के लिए उन्होंने वही इलायची के तेल से भीगा रूमाल लगा लिया। फिर क्या था,

आँखें बाहर से तो ढबढबा आईं, श्रोताओं ने आँसुओं की उत्पत्ति का रहस्य न जानकर स्वयं सचमुच में रोना शुरू कर दिया।

वे एक प्रेमी जीव थे, और प्रेमी लोग समदर्शी होते ही हैं। अपने समकालीन हिन्दी-लेखकों में शायद मिश्र जी भारतेन्दु से ही इस बात में टक्कर मारते हैं। उनको तो वे अपना गुरू, मित्र, उपास्यदेव सभी कुछ मानते थे। पं० प्रताप-नारायण जी का जीवन एक प्रकार से हरिश्चन्द्र-मय था। भारतेन्दु की जातीयता, उनकी सहृदयता, मनमौजीपन उनसे सीख कर उन्होंने अपना शिष्यत्व ख़ूब निबाहा था। एक बार एक महाशय ने वीर-पूजा के भावों से प्रेरित होकर पंडित प्रतापनारायण जी को बड़ा स्नेहमय पत्र लिखा था। उसके उत्तर में उन्होंने 'ब्राह्मण' में हमारा 'उत्साह-वर्द्धक' शीर्षक एक मज़ेदार छोटा सा लेख लिखा था। वे कहते हैं कि, "यदि लोग हमको भूल जायँगे तो यहाँ की धरती अवश्य कहेगी कि हममें कभी कोई ख़ास हमारा था। आज जहाँ हमको यह सोच है कि हाय! कानपुर के हम कौन हैं? वहाँ इस बात का हर्ष भी है कि बाहरवालों की दृष्टि से हम निरे ऐसे वैसे नहीं हैं। बाजे बाजे लोग हमें श्रीहरिश्चन्द्र का स्मारक समझते हैं? बाजों का ख़्याल है कि उनके बाद उनका सा रंग ढंग इसी में है। हमको स्वयं इस बात का घमण्ड है कि जिस मदिरा का पूर्ण कुम्भ उनके अधिकार में था, उसी का एक

प्याला हमें भी दिया गया है"........

वे उस श्रेणी के लोगों में से नहीं थे जो 'जल में रहैं मगर से बैर' वाले मसले को चरितार्थ करते हैं अर्थात् संसार में रह कर समाज से ३६ बन कर रहते हैं। प्रत्युत पं० प्रतापनारायण जी का जीवन एक प्रकार से निरा सार्वजनिक था क्योंकि उनका अधिकांश समय सभी प्रकार के शहरवालों—भले-बुरे, शरीफ़-गुंडों की संगति में व्यतीत होता था। जो एक दिन वे गोरक्षिणी सभा में करुणाजनक व्याख्यान देते थे, तो दूसरे दिन ही उसी मुँह से फक्कड़पने की बातें उच्चारण करते देखे जाते थे।

जिस समय पंडित प्रतापनारायण स्फुरित हुए थे उस समय हिन्दी-साहित्य में एक अभूतपूर्व ज्योति फैली थी। उस समय अनेक लेखक-प्रवरों का जन्म हुआ, जिनके द्वारा नाटक, निबन्ध, काव्य आदि भिन्न भिन्न साहित्यिक अंगों की वृद्धि हुई। एक बात उल्लेख्य है कि उस समय के प्रत्येक धुरन्धर साहित्याचार्य ने अपने अपने निश्चित क्षेत्र में कार्य करने के लिए एक न एक पत्रिका निकाली और उसके द्वारा जनता तक अपने सिद्धान्तों की धूम मचाई।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'कवि-वचन-सुधा', बदरीनारायण जी ने 'आनन्द-कादम्बिनी', बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी-प्रदीप', प्रतापनारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण' तथा श्री द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' द्वारा हिन्दी-संसार में अपनी भेरी बजाई।

पंडित प्रतापनारायण ने केवल साहित्यिक चर्चा को उत्तेजित करने ही के उद्देश्य से 'ब्राह्मण' का उद्घाटन किया था। किन्तु उसके द्वारा जन-समुदाय में देश-भक्ति के भावों को उत्पन्न करना तथा सामाजिक सुधार की ओर उनकी प्रवृत्ति करना भी उनका अभीष्ट था। तभी तो 'ब्राह्मण' के पन्ने गो-रक्षा, स्वदेशीवस्तु-प्रचार, कान्यकुब्ज-कुरीति-निवारण आदि विषयक लेखों से भरे पड़े हैं।

परन्तु यह होते हुए भी 'ब्राह्मण' ने साहित्यिक सेवा सब से अधिक की है। जब कभी हिन्दी-साहित्य का विस्तृत इतिहास लिखा जायगा तब पंडित प्रतापनारायण और 'ब्राह्मण' का स्थान हिन्दी-गद्य के सम्बन्ध में अत्यन्त महत्वपूर्ण गिना जायगा।

'ब्राह्मण' का मुख्य ध्येय हिन्दी की ओर रुचि उत्पन्न करना था। १९वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में जब हरिश्चन्द्र आदि के उद्योग से साहित्यिक पुनरुज्जीवन का आविर्भाव हुआ, उस समय की हिन्दी-जनता की मानसिक क्षमता अधिक पुष्ट न हो पाई थी, केवल राजनैतिक आन्दोलन के झोंके में मातृभाषा की ओर प्रेम के भाव प्रकट होने लगे थे। तुलनात्मक समालोचना, शोध आदिक उच्च अध्ययन के उपकरणों का निर्माण तब तक कम से कम हिन्दी में तो बहुत कम हुआ था। अस्तु, सबसे प्रथम यह विचार प्रत्येक साहित्यिक सेवी के चित्त में उन्नत रहा होगा कि इसके पूर्व कि साधारण प्रकार के

साक्षर लोगों में विदग्ध साहित्य की ओर रुचि पैदा की जाय, इस बात की परम आवश्यकता थी कि उन्हें उसकी ओर प्रेरित करने के लिए एक सुगम साहित्य बनाया जाय। इस इस तरह के सुगम साहित्य बनाने का तथा उसके प्रचार करने का श्रेय पंडित प्रतापनारायण को है, उनके बाद पंडित बालकृष्ण भट्ट का नाम आता है।

इस दिशा में काम करने की नियत से मिश्र जी अपने 'ब्राह्मण' के प्रत्येक अंक में 'घूरे के लत्ता बिनैं कनातन का डौल बाँधैं', 'भौं', 'जवानी की सैर', 'वृद्धि', 'तिल', 'भलमंसी' आदि सुबोध विषयों पर सरल तथा हास्यपूर्ण भाषा में निबन्ध लिखते थे, जिन्हें मामूली शिक्षा पाये हुए लोग भी समझ सकते थे, तथा उसका आनंद ले सकते थे।

इस ढंग के हल्के लेखों में 'किस पर्व में किसकी बनि आती है' शीर्षक लेख बड़ा रोचक है। उदाहरण के लिए उसका कुछ अंश दिया जाता है:—

"पित्र-पक्ष में आर्यसमाजी कुढ़ते कुढ़ते सूख जाते होंगे कि हाय! हम सभा करते लेक्चर देते मरते हैं पर पोप जी देश भर का धन खाये जाते हैं।"

"तथा माघ के महीने का महीना कनौजियों का काल है पानी छूते हाथ, पाँव गलते हैं पर हमें बिना स्नान किये फल फलहरी खाना भी धर्मनाशक है!!" पर जिस 'ब्राह्मण' में इस प्रकार की हँसी के लतीफ़े रहते थे, उसमें गम्भीर लेख तथा

कवितायें भी रहती थीं। अभी कह चुके हैं कि 'ब्राह्मण' का उद्देश्य प्रधानत: नैतिक था। इस बात की पुष्टि में हम मिश्र जी के 'हमारी आवश्यकता', 'नारी', 'देव-मंदिरों के प्रति हमारा कर्तव्य', 'खुशामद' आदि लेखों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं।

'हमारी आवश्यकता' शीर्षक लेख में वे साफ़ साफ़ शब्दों में 'ब्राह्मण' के नैतिक उद्देश्य का उल्लेख यों करते हैं:—

"जी बहलाने के लेख हमारे पाठकों ने बहुत से पढ़ लिये यद्यपि उनमें भी बहुत सी समयोपयोगी शिक्षा रहती है, पर बागजाल में फंसी हुई ढूंढ़ निकालने योग्य। अत: अब हमारा विचार है कि कभी कभी ऐसी बातें भी लिखा करें जो इस काल के लिये प्रयोजनीय हैं, तथा हास्यपूर्ण न हो के सीधी सीधी भाषा में हों। हमारे पाठकों का काम है कि उन्हें निरस समझ के छोड़ न दिया करें तथा केवल पढ़ ही न डाला करें वरंच उनके लिए तन से धन से कुछ न हो सके तो बचन ही से यथावकाश कुछ करते भी रहा करें।"

अत: मनोरंजन-पूर्ण शिक्षा देना ही 'ब्राह्मण' का काम रहा था।

'ब्राह्मण' की साहित्यिक सेवा के विषय में पं० प्रतापनारायण जी ने उसके अन्तिम अंक में 'अन्तिम भाषण' शीर्षक लेख में पाठकों से बिदाई लेते समय कहा है:—

"यह पत्र अच्छा था अथवा बुरा, अपने कर्तव्यपालन में

योग्य था वा अयोग्य यह कहने का हमें कोई अधिकार नहीं है। पर, हाँ इसमें सन्देह नहीं है कि हिन्दी-पत्रों की गणना में एक संख्या इसके द्वारा भी पूरित थी।"

पंडित प्रतापनारायण ने कई तरह से हिन्दी-साहित्य की श्री-वृद्धि की है। परन्तु गद्य के लिए उन्होंने जो कुछ किया है वह सचमुच युगपरिवर्तनकारी है।

हरिश्चन्द्र, राजा शिवप्रसाद, बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण के पहले हिन्दी में वास्तविक गद्य था ही नहीं, अथवा जो था भी वह भट्ट जी के शब्दों में 'कम और पोच था'।

राजा शिवप्रसाद ने अपने गद्य को मिश्रित भाषा द्वारा हिन्दी-उर्दू के बीच में अच्छा 'पुल' बाँधा था। एक प्रकार से उन्होंने हिन्दी-गद्य को क्लिष्टता तथा दुरूहता के गर्त में गिरने से बचाया था और यथासम्भव उसमें रोचकता का समावेश करके उसको अपने पैरों खड़ा किया।

प्रतापनारायण तथा बालकृष्ण भट्ट दोनों ने फ़ारसीपन को गद्य में उस परिमाण में रखना उचित न समझा जितना कि राजा साहब जोश में आ कर रख गये थे। इसके बदले प्रतापनारायण ने ग्रामीणता, हास्य तथा व्यंग की मात्रा ख़ूब घोली। उन तीनों गुणों के रासायनिक संयोग से एक प्रौढ़, सुबोध, रोचक तथा सजीव शैली की सृष्टि हुई। यह सर्वमान्य मत है कि किसी भाषा के गद्य को लचीला तथा उत्कृष्ट बनाने के

लिए उसमें हास्य और व्यंग इन दोनों उपादानों की आवश्यकता होती है। इनके बिना गद्य निरा शुष्क और परिमित-प्रयोग रहता है।

साथ ही साथ ग्रामीणता अथवा घरेलूपन का सम्मिश्रण करके प्रतापनारायण ने हिन्दी–गद्य में एक ख़ास तरह की सजीवता सदा के लिए डाल दी। इस गुण का संचार उन्होंने ग्रामीण लोकोक्तियों तथा विषयोपयुक्त पद्य-पंक्तियों के बहुप्रयोग द्वारा किया है। उनके किसी भी पूर्ववर्ती अथवा समकालीन हिन्दी-लेखक की भाषा में इस प्रकार का घरेलूपन नहीं मिलता। केवल सैयद इंशा की शैली उससे मिलती जुलती है। हम इसी विचार से तथा हास्यपूर्णता के कारण प्रतापनारायण मिश्र का वर्गीकरण इंशा के साथ करते हैं। दोनों की तुलना करने पर स्वयं ज्ञात हो जावेगा कि दोनों की भाषा में समान रूप से विचित्रता, हास्य तथा घनिष्टता (intimacy) पाई जाती है। इंशा के सम्बन्ध में अभी कहा जा चुका है कि उनके एक पृष्ठ भी पढ़ने वाले को तुरन्त यह जिज्ञासा होती है कि लेखक के विषय में जितना अधिक ज्ञान हो उतना ही अच्छा तथा उससे मित्र–भाव पैदा करने की इच्छा होती है। यही बात पंडित प्रतापनारायण के गद्य के विषय में भी घटित होती है। पंडित जी की भाषा में, उनके विचारों में एक प्रकार का अवर्णनीय रस है, एक प्रकार की घनिष्टता है, जिससे प्रत्येक सहृदय बाचक को उनके साथ वार्तालाप करने

का सा आनन्द आता है।

अभी कहा जा चुका है कि उनके गद्य में विचित्रता का एक बड़ा गुण है। इसका पता उनके लेखों के शीर्षकों से ही लग जाता है। 'घूरे के लत्ता बिनैं कनातन का डौल बाँधैं', 'मरे का मारैं शाहमदार', 'भौं', 'इसे रोना समझो चाहे गाना' आदि लेख इसके प्रमाण हैं। उनकी भाषा में भी विचित्रता होती थी। इसके मूल कारण उनके हास्य तथा व्यंग हैं। 'दशहरा और मुहर्रम' शीर्षक लेख का एक अवतरण इस वैचित्र्य का अच्छा उदाहरण होगा।

"यह तो समझिए यह देश कौन है? वही न? जहां पूज्य मूर्तियां भी दो एक को छोड़ चक्र वा त्रिशूल वा खड्ग वा धनुष से ख़ाली नहीं हैं जहां धर्मग्रन्थ में भी धनुर्वेद मौजूद हैं, जहां शृंगार-रस में भी भ्रू-चाप और कटाक्ष-बाण, तेग़-अदा व कमाने-अब्र का वर्णन होता है। यहां से लड़ाई भिड़ाई का सर्वथा अभाव हो जाना मानों सर्वनाश हो जाना है। अभी हिन्दुस्तान से कोई वस्तु का निरा अभाव नहीं हुआ। सब बातों की भांति वीरता भी लस्टम पस्टम बनी ही है पर क्या कीजिये, अवसर न मिलने ही से 'बाँधे बछेड़ा कट्टर होइगे बइठे ज्वांन गये तोंदिआय'।"

इस प्रकार विचित्र शीर्षकों को लेकर पंडित प्रतापनारायण ऐसी चलती-फिरती भाषा में लेख लिखते थे तथा बीच बीच में प्रसंगोपयुक्त न जाने कहाँ से ऐसी बातें ले आते थे जिनका

ख़्याल साधारण पाठक को कभी न हो सकता था। आश्चर्य और मनोविनोद ये दो अनुभव वाचकों को प्रतापनारायण के गद्य-लेखों को पढ़ने से प्राप्त होते हैं।

पर यह सब मानते हुए कि पंडित प्रतापनारायण हिन्दी-गद्य के धुरन्धर उन्नायकों में से हैं, हम उन्हें एक असावधान लेखक कहेंगे। पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी तथा बालकृष्ण भट्ट इन दोनों के लेखों से कहीं भी एक पृष्ठ लीजिए और उसको मिश्र जी के किसी लेख के सामने रखिए तो ज्ञात हो जावेगा कि यह 'असावधान लेखक' की पदवी सार्थक है।

प्रतापनारायण के गद्य में विरामादि के चिन्हों का प्राय: अभाव है; उनके सब वाक्य एक दूसरे से गुम्फित रहते हैं और पढ़ते समय बड़ी एकाग्रता तथा सावधानी की आवश्यकता होती है। इस बात में वे राजा शिवप्रसाद से मिलते हैं।

प्रतापनारायण की 'स्पेलिंग' भी अक्सर चिन्त्य होती है। जैसे 'रिषि', 'रिचा' आदि। उनके सन्धि-युक्त शब्द भी कहीं कहीं व्याकरण की रीति से अनुचित होते हैं; जैसे 'जात्याभिमान'।

इन सब बातों से सिद्ध है कि पंडित प्रतापनारायण मननशील लेखकों की कक्षा में नहीं गिने जा सकते; 'उपरोक्त', 'राजनीतक', 'जात्याभिमान', 'सम्वत्' आदि जो वैयाकरणिक अनौचित्य बड़े से बड़े हिन्दी-लेखकों के हाथ से अज्ञानवश अभी तक कभी कभी निकल जाते हैं उनसे मिश्र जी भी न बचे

थे। उन्होंने हिन्दी-गद्य को सजीव बनाकर छोड़ दिया; उसे भाषा तथा व्याकरण के विचार से परिष्कृत बनाने का प्रयत्न मिश्र जी ने न किया। यह काम श्री द्विवेदी जी के कन्धों पर आ पड़ा।

हिन्दी-गद्य के प्रति प्रतापनारायण ने एक और महत्वपूर्ण कार्य किया है। हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं के प्रचलित होते ही गद्य-विकास को एकदम बड़ी सहायता मिली। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से बड़े बड़े लेखकों का जन्म हुआ, उनमें से लगभग प्रत्येक ने अपनी लेखन-कला के लिए स्वतंत्र क्षेत्र प्रस्तुत करने के उद्देश्य से तथा जनता में हिन्दी-प्रेम का प्रचार करने के लिए अपनी अपनी पत्र–पत्रिकायें निकालना शुरू कीं।

इन पत्रिकाओं के द्वारा हिन्दी-साहित्य के एक महत्वपूर्ण अंग की पुष्टि हुई अर्थात् हिन्दी में उस प्रकार के साहित्य-निबन्धों (Literary essays) के लिखने की परिपाटी चल पड़ी जिस प्रकार के निबन्ध अंग्रेज़ी में ऐडीसन (Addison), स्टील (Steele) तथा बाद को लैम्ब (Lamb) आदि ने लिखे हैं।

इन निबन्धों के लिखने की रीति प्रथम पंडित प्रतापनारायण तथा पंडित बालकृष्ण भट्ट ने ही आरम्भ की। इन दोनों के निबन्ध भिन्न भिन्न प्रकार के होते थे। प्रतापनारायण के लेख अधिकांश में हल्के विषयों पर होते थे। सांसारिक जीवन के गाम्भीर्य को सह्य तथा आनन्दमय बनाने के लिए

हो उन्होंने आजन्म परिश्रम किया था, एवं, अपने लेखों में भी उनका यही ध्येय रहता था कि उनको पढ़कर लोगों का मनोरंजन हो। साथ ही साथ उनके निबन्धों में अदृश्यरूप से हास्योत्पादक भाषा में नैतिक शिक्षा भी रहती थी।

प्रतापनारायण सदैव मखोलपन ही में न रहते थे। उनके बहुत से निबन्ध जैसे 'शिवमूर्ति', 'काल', 'स्वार्थ', 'सोने का डंडा और पौंड़ा', 'हरि जैसे को तैसे है', आदि काफ़ी गम्भीर विषयों पर लिखे गये हैं।

इन दोनों प्रकार के निबन्धों में दो बातें उल्लेख्य हैं। एक तो वे सदैव लिखते समय जन-साधारण का वेष धारण कर लेते थे। काफ़ी विद्वान् होकर भी उस समय वे विद्वत्ता-प्रदर्शन करना गर्ह्य समझते थे। दूसरी बात यह है कि उनके निबन्धों में वैयक्तित्व की छाप है, कोई भी निबन्ध आपे से बाहर होकर नहीं लिखा गया। तभी तो उनके लेखों का प्रभाव पढ़नेवालों पर बहुत गहरा पड़ता है। यही आत्मीयानुभव का लक्षण पंडित बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों में भी है। पर उनके अधिकतर लेखों में प्रतापनारायण की सी घनिष्टता नहीं है। उनमें पांडित्य-प्रदर्शन करने की भी प्रवृत्ति है। द्विवेदी जी के लेख भी इसी रंग से रँगे होते हैं। इन तीनों लेखकों की गद्य-शैली की विवेचना करते समय भी यही कहना पर्याप्त है कि पंडित प्रतापनारायण मिश्र का गद्य असंस्कृत (uncultured) अथवा घरेलू (vernacular) है और द्विवेदी जी तथा भट्ट

जो का गद्य संस्कृत (classical) है।

---

(१)

घूरे के लत्ता बिनैं कनातन का डौल बाँधैं

घर की मेहरिया कहा नहीं मानती, चले हैं दुनिया भर को उपदेश देने, घर में एक गाय नहीं बाँधी बाँध जाती गोरक्षणी सभा स्थापित करेंगे, तन पर एक सूत देशी कपड़े का नहीं है बने हैं देशहितैषी, साढ़े तीन हाथ का अपना शरीर है उसकी उन्नति नहीं कर सकते देशोन्नति पर मरे जाते हैं कहां तक कहिये हमारे नौसिखिया भाइयों को 'माली-खूलिया' का अज़ार हो गया करते धरते कुछ भी नहीं हैं बक बक बाँधे हैं। जब से शिक्षा कमीशन ने हिन्दी को हंट (शिकार) किया तब से एडीटर महात्मा और सभाओं के मेम्बरों के दिमागों में फ़ितूर पड़ गया है जिसे देखो सर्कार ही पर ख़ार खा रहा है न जाने सर्कार का यह क्या बनाये लेते हैं, अरे भाई पहिले अपना घर तो बाँधो लाला मसजिद पिरशाद सिड़ीवासितम को समझाओ कि तुम्हारे बुज़ुर्गों की बोली उरदू नहीं है लाला लखमीदास मारवाड़ी से कहो कि तुम हिन्दू हो लाला नीचीमल खन्ना से पूछो तुम लोग संकल्प पढ़ते समय अपने को वर्मा कहते हो कि शेख़ ?- पं० युसुफ़नरायण कश्मीरी से दरयाफ़्त करो कि तुम्हारे दशों संस्कार (मुंडनादिक) वेद की रिचाओं से हुए थे कि हाफ़िज़ के दीवान से ? इसके पीछे सर्कार हिन्दी के दफ़्तर न करदे तो 'ब्राह्मण' के एडीटर को होली का गुंडा बनाना। क्या सर्कार जानती नहीं है कि हिन्दुस्तान की बोली हिन्दी ही है क्या सर्कार से छिपा है कि यहां हिन्दुओं

की अपेक्षा मुसलमान दशमांश से भी कम हैं क्या शिक्षाकमीशन वाले अँगरेज़ जो दुनिया को चरे बैठे हैं वे न समझते थे कि हिंदी से प्रजा का बड़ा उपकार होगा पर हां जहादी हज़रत तो बुरा कौन बने ? फूट के लतिहल आलस्य के आदी खुशामद के पुतले हिन्दू नाराज़ ही होकर क्या कर लेंगे बहुत होगा एक बार रोके बैठ रहेंगे बस उरदू बीबी को कौन मुआ उठा सकता है ? कुछ दिन हुए सर्कार ने हर ज़िले के हाकिमों से पूंछा था कि हिन्दी के प्रेमी अधिक हैं कि उर्दू के आशिक़ ज़ियादा हैं पर हमारे यहां के कई एक धरम मूरत धरमा औतार कमिश्नरों ने कहा "म्हा तो जाणों कोयना हिन्दी कैसी और उरदू कोण ? जैसी हजूर की मरजी होय लिख भेजो" सच भी है सातौ विद्यानिधान, कालाकुत्ता कलकत्ता समझने वालों को शहर का बंदोबस्त मिला है और बिचारे क्या कहते ? भला ले इन्हीं लच्छनों से नागरी का प्रचार होगा ? यदि सचमुच हिन्दी का प्रचार चाहते हो तो आपस के जितने काग़ज़ पत्तर लेखा जोखा टीप तमस्सुक हों सब में नागरी लिखी जाने का उद्योग करो जिन हिंदुओं के यहां मौलवी साहब बिसमिल्ला कराते हैं उनके यहां पंडितों से अक्षरारंभ कराये जाने का उपकार करो चाहे कोई हँसै कोई धमकावै जो हो सो हो तुम मनसा वाचा कर्मणा उरदू की लुल्लू देने में सन्नद्ध हो इधर सरकार से भी झगड़े खुशामद करो दाँत निकालो पेट दिखाओ मेमोरियल भेजो एक बार दुतकारे जाओ फिर धन्ने परो किसी भांति हतोत्साह न हो हिम्मत न हारो जो मनसाराम कचियाने लगैं तो यह मंत्र सुनादो

"प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्ननिहिताः विरमन्ति मध्याः

विघ्नै सहस्र गुणितैरपि हन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तम जनाः न परित्यजन्ति ।"

बस फिर देखना पाँच सात बरस में फ़ारसी छार सी उड़ जायगी ? नहीं तो होता तो परमेश्वर के किए है हम सदा यही कहा करेंगे "पीसैं का चुकरा गावैं का छीताहरन", "घूरे के लत्ता बिनैं कनातन का डौल बांधैं"। हमारी भी कोई सुनैगा ? देखें कौन माई का लाल पहिले सिर उठाता है।

['ब्राह्मण' से]

---

(२)

समझदार की मौत है

सच है 'सबते भले हैं मूढ़ जिन्हें न व्यापै जगत गति' मज़े से पराई जमा गपक बैठना खुशामदियों से गप मारा करना जो कोई तिथ त्यौहार आ पड़ा तो गंगा में बदन धो आना पर गंगापुत्र को चार पैसे देकर सेंतमेंत में धरम मूरत, धरमाऔतार का ख़िताब पाना संसार परमार्थ दोनों तो बन गए अब काहे को है है काहे काहे की खैं खैं है। मुंह पर तो कोई कहने ही नहीं आता कि राजा साहब कैसे रहे हैं पीठ पीछे तो लोग नवाब को भी गालियां देते हैं इससे क्या होता है आप रूप तो 'दुहू हाथ मुदमोदक मोरे' इसको कभी दुख काहे को होता होगा कोई घर में मरा मराया तो रो डाला बस अहार, निद्रा, भय, मैथुन के सिवा पांचवीं बात ही क्या है जिसको झखैं ? आफ़त तो बिचारे ज़िंदादिलों की है जिन्हें न यों कल न वों कल जब स्वदेशी भाषा का पूर्ण प्रचार था त.

के विद्वान कहते थे 'गीर्वाणवाणीषु विशालबुद्धिस्तथान्यभाषारसलोलुपोहं' अब आज अन्य भाषा वरंच अन्य भाषाओं का करकट (उर्दू) छाती का पीपल हो रही है तब यह चिंता खाए लेती है कि कैसे इस चुड़ैल से पीछा छूटै एक बार उद्योग किया गया सो तो हंटर साहब के पेट में समा गया फिर भी चिंता पिशाची गला दबाए है प्रयाग हिन्दू समाज फिकर के मारे 'कशीदम नालओ बेहोश गश्तम' का अनुभव कर रही है इरादे तो बड़े बड़े किये पर न जाने वह दिन कब आवै एक से एक विद्वान एकत्र होंगे तो कुछ न कुछ भलाई ही करेंगे पर हमें यह तलवों से लगी है कि देखें कब करेंगें देखें क्या करेंगे जो लोग कहते हैं 'पढ़े ते मनई बैलाय जायँ' सो ठीक भी जान पड़ता है कि 'नहीं कुछ वास्ता लेकिन हरारत आही जाती है', यह तो बड़े बड़े उदाहरण हैं जिनके उद्योग में दांतों पसीना आवैगा अब रोज़मर्रा की बातें देखिए कहौ किसी पर किसी दुराचारी विदेशी ने अत्याचार किया यहां क्रोधाग्नि भड़की। किसी को कोई दुःख पड़ा यहां आंसू भर आए यह भी न हुआ तो कोई पुस्तक ही लिये पढ़ते जाते हैं किसी में कोई दुर्व्यसन देखा आप सोच करने लगे कहां तक कहिए जहां समझने की शक्ति हुई कि बस बात बात में चिंता !! और चित्त चिंता का कुछ ऐसा सम्बन्ध है कि जुदा होते ही नहीं और चिंता की तारीफ़ शास्त्रकारों ने की ही है 'चिता चिंता समाख्याता तस्माच्चिंता गरीयसी' (एक विन्दु अधिक है न) 'चिता दहति निर्जीवं चिंता जीविषु तंतनु' क्या ही सत्य है ! शरीर की चिंता रही घर की चिंता रही सब पर तुर्रा देश की चिंता खूशटदास यह भी नहीं पूछते कि 'क्यों मरे जाते हो' पर देशभक्त इस लिए जीव होम देते हैं कि इनका

निस्तार हो इसी से कहते हैं कि समझदार की मौत है।

['ब्राह्मण' से]

---

(३)

बात

यदि हम वैद्य होते तो कफ़ और पित्त के सहवर्ती बात की व्याख्या करते तथा भूगोलवेत्ता होते तो किसी देश के जल बात का वर्णन करते किन्तु इन दोनों विषयों में हमें एक बात कहने का भी प्रयोजन नहीं है हमतो केवल उसी बात के ऊपर दो चार बात लिखते हैं जो हमारे तुम्हारे सम्भाषण के समय मुख से निकल निकल के पर पर हृदयस्थ भाव को प्रकाशित करती रहती है सच पूछिये तो इस बात की भी क्या बात है जिसके प्रभाव से मानव जाति समस्त जीवधारियों की शिरोमणि अशर-फुलमख़लूक़ात–कहलाती है शुकसारिकादि पक्षी केवल थोड़ी सी समझने योग्य बातें उच्चरित कर सकते हैं इसी से अन्य नभचार्यों की अपेक्षा आद्रित समझे जाते हैं फिर कौन न मान लेगा कि बात की बड़ी बात है हाँ बात की बात इतनी बड़ी है कि परमात्मा को लोग निराकार कहते हैं तौ भी इसका सम्बन्ध उसके साथ लगाये रहते हैं वेद ईश्वर का वचन है क़ुरआनशरीफ़ कलामुल्लाह है होली बाइबिल वर्ड आफ़ गाड है यह वचन कलाम और वर्ड बात ही के पर्याय हैं जो प्रत्यक्ष में मुख के विना स्थित नहीं कर सकती पर बात की महिमा के अनुरोध से सभी धर्मावलम्बियों ने "बिन बानी वक्ता बड़ योगी" वाली बात मान रक्खी है यदि कोई न माने तो लाखों बातें बना के मानने पर कटिबद्ध रहते हैं

यहाँ तक कि प्रेमसिद्धान्ती लोग निरवयव नाम से मुंह बिचकावेंगे "अपाणिपादो जवनो गृहीत्वा" पर हठ करने वाले को यह कहके बातों में उड़ावेंगे कि "हम लंगड़े लूले हमारा प्यारा तो कोटि काम सुन्दर श्याम वर्ण विशिष्ट है" निराकार शब्द का अर्थ श्री शालिगराम शिला है जो उसकी श्यामता का द्योतन करती है अथवा योगाभ्यास का आरम्भ करने वाले को आंखे मूंदने पर जो कुछ पहले दिखाई देता है वह निराकार अर्थात् बिल्कुल काला रंग है सिद्धान्त यह कि रंग रूप रहित को सब रंग रंगिन एवं अनेक रूपसहित ठहरावेंगे किन्तु कानों अथवा प्रानों वा दोनों को प्रेमरस से सिंचित करने वाली उसकी मधुर मनोहर बातों के मज़े से अपने को वंचित न करने देंगे! जब परमेश्वर तक बात का प्रभाव पहुँचा हुआ है तो हमारी कौन बात रही? हम लोगों के तो 'गात मांहि बात करामात है' नाना शास्त्र पुराण इतिहास काव्य कोश इत्यादि सब बात ही के फैलाव हैं जिनके मध्य एक एक बात ऐसी पाई जाती है जो मन बुद्धि चित्त को अपूर्व दशा में लेजाने वाली अथच लोक परलोक में सब बात बनाने वाली है यद्यपि बात का कोई रूप नहीं बतला सकता कि कैसा है पर बुद्धि दौड़ाइये तो ईश्वर की भांति इसके भी अगणित ही रूप पाइयेगा बड़ी बात, छोटी बात, सीधी बात, टेढ़ी बात, खरी बात, खोंटी बात, मीठी बात, कड़वी बात, भली बात, बुरी बात, सुहानी बात, लगती बात इत्यादि सब बात ही तो हैं? बात के काम भी इसी भांति अनेक देखने में आते हैं प्रीति, बैर, सुख, दुःख, श्रद्धा, घृणा, उत्साह, अनुत्साहादि जितनी उत्तमता और सहजतया बात के द्वारा विदित हो सकते हैं दूसरी रीति से वैसी सुविधा ही यहीं घर बैठे लाखों

कोस का समाचार मुख और लेखनी से निर्गत बात ही बतला सकता है डाकखाने अथवा तारघर के सहारे से बात की बात में चाहे जहां की जो बात हो जान सकते हैं इसके अतिरिक्त बात बनती है, बात बिगड़ती है, बात आ पड़ती है, बात जाती रहती है, बात खुलती है, बात छिपती है, बात चलती है, बात अड़ती है, बात जमती है, बात उखड़ती है, हमारे तुम्हारे भी सभी काम बात ही पर निर्भर हैं, "बातहि हाथी पाइये बातहि हाथी पाँव" बात ही से पराये अपने और अपने पराये होजाते हैं मक्खीचूस उदार तथा उदार स्वल्पव्ययी कापुरुष युद्धोत्साही एवं युद्ध-प्रिय शान्ति शोक कुमार्गी सुपथगामी अथच सुपंथी कुराही इत्यादि बन जाते हैं बात का तत्त्व समझना हर एक का काम नहीं है और दूसरों की समझ पर आधिपत्य जमाने योग्य बात गढ़ सकना ऐसों वैसों का साथ नहीं है बड़े बड़े विज्ञवरों तथा महा महा कवीश्वरों के जीवन बात ही के समझने और समझाने में व्यतीत हो जाते हैं सहृदयगण की बात के आनन्द के आगे सारा संसार तुच्छ जचता है बालकों की तोतली बातें, मंदिरियों की मीठी मीठी प्यारी प्यारी बातें, सत्कवियों की रसीली बातें, सुवक्ताओं की प्रभावशालिनी बातें, जिसके जी को और का और न कर दें उसे पशु नहीं पाषाण खण्ड कहना चाहिये क्योंकि कुत्ते बिल्ली आदि को विशेष समझ नहीं होती तौ भी पुचकार के तूतू पूसी पूसी इत्यादि बातें कह दो तो भावार्थ समझ के यथा सामर्थ्य स्नेह प्रदर्शन करने लगते हैं फिर वह मनुष्य कैसा जिसके चित्त पर दूसरे हृदयवान की बात का असर न हो बात वह आदरणीय बात है कि भलेमानस बात और बाप को एक समझते हैं हाथी के दाँत की भांति उनके मुख के एक बार कोई बात

निकल आने पर फिर कदापि नहीं पलट सकती हमारे परमपूज्ननीय आर्य्यगण अपनी बात का इतना पक्ष करते हैं कि 'तन तिय तनय धाम धन धरनी, सत्य संध कहँ तृन सम बरनी' अथच 'प्रानन ते सुत अधिक है सुत ते अधिक परान, ते दूनों दशरथ तजे बचन न दीन्हों जान', इत्यादि उनकी अक्षर समबद्धा कीर्ति सदा संसार पट्टिका पर सोने के अक्षरों से लिखी रहेगी पर आजकल के बहुतेरे भारत कुपुत्रों ने यह ढंग पकड़ रक्खा है 'मर्द की ज़बान और गाड़ी का पहिया चलता ही फिरता है' आज और बातें हैं कल ही स्वार्थांधता के वश हुज़ूरों की मरज़ी के मुवाफ़िक दूसरी बातें हो जाने में तनिक भी विलंब की सम्भावना नहीं है यद्यपि कभी कभी अवसर पड़ने पर बात के कुछ अंश का रंग ढंग परिवर्तित कर लेना नीति विरुद्ध नहीं है पर कब ? जात्योपकार देशोद्धार आर्यकुलरत्नों के अनुगमन की सामर्थ्य नहीं है किन्तु हिन्दोस्तानियों के नाम पर कलंक लगाने को भी सहमार्गी बनने में घिन लगती है इससे यह रीति अंगीकार कर रक्खी है कि चाहे कोई बड़ा बतकहा अर्थात् बातूनी कहे चाहे यह समझे कि बात कहने का भी शऊर नहीं है किन्तु अपनी मति के अनुसार ऐसी बातें बनाते रहना चाहिये जिनमें कोई न कोई किसी न किसी के वास्तविक हित की बात निकलती रहे पर खेद है कि हमारी बातें सुनने वाले उंगलियों ही पर गिनने भर को हैं इससे बात बात में बात निकालने का उत्साह नहीं होता अपने जी को क्या बने बात जहाँ बात बनाये न बने इत्यादि विदग्धालापों की लेखनी से निकली हुई बातें सुना के कुछ फुसला लेते हैं और बिन बात की बात को बात का बतबढ़ समझ के बहुत बात बढ़ाने से हाथ समेट लेना ही समझते हैं कि अच्छी बात है ।

मुहम्मदहुसेन आज़ाद

—:०:—

'आज़ाद' साहब का गद्य उस समय की याद दिलाता है जब हिन्दी और उर्दू की भाषा में बहुत कम विभिन्नता थी; या यों कहिए कि जिस समय ब्रजभाषा और खड़ी बोली के शब्दों को ले लेकर उर्दू अपना अस्तित्व स्थिर कर रही थी। मलिक अम्मन तथा सैयद इंशा आदि तत्कालीन लेखकों की भाषा की तुलना किसी भी अर्थ में आजकल की फ़ारसी मिली हुई उर्दू से करना असम्भव है। सच तो यह है कि शुरू शुरू में मुसलमान लेखकों को यह बहुत कम विचार होता होगा कि उन्हें उर्दू नाम की एक ऐसी अलग भाषा का निर्माण करना है जो यथासाध्य फ़ारसी, अरबी के शब्दों से भरी हो। जिसे 'उर्दू-ए-मुअल्ला' अथवा उत्कृष्ट उर्दू कहते हैं उसकी नींव बाद को कई कारणों से पड़ी। लखनऊ के कवियों तथा अन्य लेखकों ने विशेष कर इंशा की सरल उर्दू को जटिल बनाने में बड़ा योग दिया।

१९वीं शताब्दी के मध्यभाग तक हिन्दी भी उर्दू से मिलने की कोशिश करती रही। शायद अदालती भाषा होने के कारण तथा चिरकाल से बादशाहों तथा नवाबों के दरबारों में सम्मा-

नित होती आई होने के कारण उर्दू को हिन्दी के मुक़ाबले में अधिक गौरव-पूर्ण स्थान मिलता रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि उर्दू ने काफ़ी दिनों तक हिन्दी को अपनी अनुचरी बना कर रक्खा और साथ ही साथ अपने और उसके बीच का भेद बढ़ाने के लिए फ़ारसी, अरबी तक अपनी जड़ें फैलाईं और क्लिष्टता का आवरण अपने ऊपर डाल लिया।

प्रोफ़ेसर आज़ाद देहली के रहने वाले थे, और इसी लिए उन पर व्रजभाषा की मधुरता ने अच्छा प्रभाव डाला। देहली-वालों ने वैसे भी उर्दू की सुबोधता की वृद्धि में बड़ा स्तुत्य कार्य किया है, और वे लखनऊवाले लेखकों की दुरूहता का नियमन करते रहे हैं। आज़ाद साहब तो इस बात को मानते थे कि उर्दू व्रजभाषा की सहायता से ही अपनी ऊर्जितावस्था को पहुँची थी। इसी से शायद वे ऐसी भाषा लिखते थे जिसमें व्रजभाषा की कोमल पदावली का अच्छा समावेश रहता था।

कहा जा सकता है कि आज़ाद के गद्य का शाब्दिक चयन ही व्रजभाषा से मिलता जुलता नहीं होता, वरन् उसमें जो भावों की सुकुमारता है वह भी उसी की प्रतिच्छाया होती है। मतलब यह है कि चंचलता अथवा चुलबुलापन जो प्राचीन उर्दू में विशेष रूप से रहा करता था और जिसकी पूरी मात्रा सैयद इंशा की भाषा में मिलती है, वह आज़ाद के गद्य में बहुत कम है। उसमें उस चांचल्य के स्थान में एक प्रकार का शान्तिमय मार्दव रहता है। इसके अतिरिक्त आज़ाद के गद्य

में इंशा के चटपटेपन की जगह व्रजभाषायुक्त मिठास है।

आगे उनके 'आबे हयात' से 'भाषा के बाग़ की बहार' शीर्षक जो संग्रह दिया गया है, उसी की भाषा को शुरू से आख़िर तक देख जाइए, केवल आठ-दस ठेठ उर्दू के शब्दों के अतिरिक्त कोई भी ऐसी ख़ास बात न मिलेगी जिससे उस अवतरण को हम उर्दू में शामिल कर सकें।

हिन्दी-गद्य-संग्रह में आज़ाद के लेखों से वह अवतरण देने का केवल यही अभिप्राय रहा है कि उसमें जैसी सुबोध भाषा है वह इस बात का पक्का प्रमाण है कि उर्दू और हिन्दी वास्तव में इतनी भिन्न भिन्न भाषायें नहीं हैं जितनी कि वे आज-कल दोनों ओर के दुराग्रही परिपोषकों के द्वारा बना दी गई । हिन्दी वाले संस्कृत की और उर्दू वाले अरबी-फ़ारसी की भरमार करके अपनी अपनी भाषाओं को एक दूसरे से सहस्रों कोस दूर ले जा रहे हैं।

आज़ाद ने 'भाषा के बाग़ की बहार' को दर्शाने में फूलों, फलों, झरनों तथा श्मशान के वर्णन करते हुए जिन शब्दों का व्यवहार किया है वे अधिकतर समीचीन हिन्दी-गद्य में ही प्रयुक्त होने योग्य हैं। इस प्रकार उन्होंने अपनी उर्दू में लिखी हुई भाषा पर हिन्दीपन का गहरा रंग चढ़ा दिया है, जिसके कारण उसे हिन्दीवाले भी सगर्व अपना कर सर्वोत्कृष्ट गद्य-खंडों में उसे परिगणित कर सकते हैं।

भाषा के बाग़ की बहार

भाषा का इंशापरदाज़ बरसात में अपना बाग़ क्योंकर लगाता है। दरख़्तों के झुण्ड छाये हैं। घन के पत्ते हैं, इनकी गहरी गहरी छाँव है। जामुन की टहनियाँ आम के पत्तों में खिचड़ी होरही हैं। खिरनी की टहनियाँ फ़ालसे के दरख़्त में फैली हुई हैं। चाँदनी की बेल कमरख के दरख़्त पर लपटी जाती है, इश्क़पेचा करौंदा पर चढ़ा जाता है, इसकी टहनियाँ लटकती हैं जैसे साँप लहरा रहे हैं। फूलों के गुच्छे पड़े झूम रहे हैं, मेवेदाने ज़मीन को चूम रहे हैं। नीम के पत्तों की सब्ज़ी और फूलों की सफ़ेदी बहार पर है। आम के मौर में इससे फूलों की महक आती है। भीनी भीनी बू जी को भाती है। जब दरख़्तों की टहनियाँ हिलती हैं, मौलसिरी के फूलों का मेह बरसता है, फल फलारी की बौछाड़ होजाती है। धीमी धीमी हवा उनकी बू बास में लसी हुई रविशों पर चलती है। टहनियाँ ऐसी हिलती हैं जैसे कोई जोबन की मतवाली अठखेलियाँ करती चली जाती है। किसी टहनी में भौंरे की आवाज़, किसी में मक्खियों की भनभनाहट अलग ही समा बाँध रही है। परिन्द दरख़्तों पर बोल रहे हैं और कलोल कर रहे हैं। हौज़ में चादर इस ज़ोर से गिरती है कि कान पड़ी आवाज़ नहीं सुनाई देती। इससे छोटी छोटी नालियों में पानी लहराता जाता है तो अजब बहार देता है। दरख़्तों से जानवर उतरते हैं, आपस में लड़ते जाते हैं, परों को फर्राते हैं और उड़जाते हैं। चरिन्द ज़मीन पर चौकड़ियाँ भरते फिरते हैं। एक तरफ़ से कोयल की कूक, एक तरफ़ से कोयल की आवाज़। इसी जमघट में आशिक़ मुसीबतज़दा भी कहीं अकेला बैठा जी बहला रहा है और अपनी

जुदाई के दुख को मज़े ले लेकर उठाता है।

बरसात का समाँ बाँधते हैं तो कहते हैं:— सामने से काली घटा झूम कर उठी, अब्र धुवाँधार है। बिजली कूँदती चली आती है। स्याही में सारस और बगुलों की सफ़ेद सफ़ेद क़तारें बहारें दिखा रही हैं। जब बादल कड़कता है और बिजली चमकती है तो परिन्दे कभी दबक कर टहनियों में छुप जाते हैं कभी दीवारों से लग जाते हैं। मोर जुदा झनकारते हैं। पपीहे अलग पुकारते हैं, मुहब्बत का मतवाला चमेली की झुरमुट में आता है तो ठंडी ठंडी हवा लहक कर फुआर भी पड़ने लगी है, मस्त होकर वहीं बैठ जाता है और शेर पढ़ने लगता है।

जब एक शहर की ख़ूबी बयान करते हैं तो कहते हैं:— शाम होते एक मुक़ाम पर पहुँचा। देखता है कि पहाड़ियाँ हरी भरी हैं। इर्द गिर्द सरसब्ज़ मैदानों में बसे हुए गाँव आबाद हैं। पहाड़ के नीचे एक दरिया में निर्मल जल बह रहा है जैसे मोती की आब। बीचोबीच में शहर आबाद। जब इसके ऊँचे ऊँचे मकानों और बुर्जियों* का अक्स पड़ता है तो पानी में कलसियाँ जगमग जगमग करती हैं। और दूसरा शहर आबाद नज़र आता है। लबेदरिया के पेड़ बूटों और ज़मीन की सब्ज़ी को बरसात ने हरा किया है।

जब उदासी और परेशानी का आलम दिखाते हैं तो कहते हैं कि आधी रात इधर आधी रात उधर जंगल सुनसान, अँधेर बियाबान। मरघट में दूर दूर तक राख के ढेर, जले हुए लक्कड़ पड़े, कहीं कहीं चिता में आग चमकती है भूतों पलीतों की डरावनी सूरतें और भयानक मूरतें हैं।

*गुंबज

कोई ताड़ सा क़द लाल लाल दीदे फाड़े लंबे लंबे दाँत निकाले गले में खोपड़ियों की माला डाले खड़ा हँस रहा है। कोई एक हाथी को बग़ल में मारे भागा जाता है, कोई एक काला नाग ककड़ी की तरह खड़ा चबा रहा है। पीछे गुल होता चला आता है कि 'लीजियो, लीजियो ! मारियो, मारियो ! जाने न पाये !' दम भर में यह भूत, परेत ग़ायब होते हैं, ग़ुल, शोर थमता है। फिर मरघट का मैदान सुनसान है, पत्ते हवा से खड़कते हैं। हवा का सन्नाटा, पानी का शोर उल्लू की हूक, गीदड़ों का बोलना और कुत्तों का रोना, यह ऐसी वहशत है कि पहिले डर भी भूल जाता है। देखो यह दोनों बाग़ (उर्दू और हिन्दी) आमने सामने लगे हैं। दोनों के रंग ढंग में क्या फ़रक़ है। भाषा का फ़सीह इस्तियारा* की तरफ़ भूल कर भी क़दम नहीं रखता। जो जो आँखों से देखता है और जिन खुश आवाज़ियों को सुनता है या जिन खुशबूइयों को सूँघता है उन्हीं को अपनी मीठी ज़बान से बतकल्लुफ़ बमुबालग़ा साफ़ साफ़ कह देता है।

---

*उपमा

गोपालराम 'गहमरी'

[१८५६-   ]

——:०:——

श्री श्यामसुन्दरदास जी ने 'हिन्दी-कोविद-रत्नमाला' में गोपालराम जी की भाषा-सम्बन्धी यह उक्ति उद्धृत की है कि "भाषा ऐसी नहीं होनी चाहिए कि पढ़नेवालों को अभिधान उलटते उलटते पसीना आजाय।" उनके मुँह से ऐसी बात बिलकुल स्वाभाविक सी जान पड़ती है। बात यह है कि उनके साहित्यिक जीवन का अधिक भाग उपन्यास-लेखन में ही व्यतीत हुआ है, और यह तो स्वयंसिद्ध है कि जो उपन्यास-लेखक दुरूह तथा क्लिष्ट भाषा लिखता है वह सर्वथा अपनी सफलता पर कुठाराघात करता है। उसे यदि अपने उपन्यासों का प्रचार जनसाधारण में करना अभीष्ट है तो उन्हें ऐसी भाषा में लिखना चाहिए जो सुबोध तथा रोचक हो। ख़ास कर जिस समय गहमरी जी के साहित्यिक कार्य का श्रीगणेश हुआ था, तब तो हिन्दी-पढ़नेवालों की संख्या बहुत परिमित थी। उस समय साक्षर लोगों की रुचि गम्भीर साहित्य की ओर थी ही नहीं। यही कारण है कि किशोरी-लाल जी गोस्वामी, देवकीनन्दन खत्री, काशीनाथ खत्री तथा

गोपालराम जी को लिख लिख कर उपन्यासों का ढेर लगाना पड़ा था ।

इस प्राक्कथन के उपरान्त गोपालराम जी की गद्य-शैली का विश्लेषण करना है ।

इस पुस्तक में हिन्दी–गद्य के जो दो स्थूल विभाग किये गये हैं, उनमें से गहमरी जी को 'विचित्र' गद्य–लेखकों की श्रेणी के अन्तर्गत रख सकते हैं । तात्पर्य यह है कि उनके लेखों की भाषा का साहित्यिक महत्व अथवा उसकी रोचकता संस्कृतप्राय शब्दावली के कारण नहीं है वरन् उसके स्वतन्त्र रूप के कारण है जो लेखक ने उसे प्रदान किया है । जैसा वे स्वयं कह चुके हैं, अपनी भाषा को सदैव वे प्रसादगुणसम्पन्न रखने का प्रयत्न करते हैं । इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए संस्कृत को छोड़ कर उर्दू, ठेठ देहाती आदि जहाँ कहीं से उन्हें उपयुक्त शाब्दिक सामग्री मिल सकती है, वहीं से उसे ला कर वे जमा करते हैं । कभी कभी ऐसा करते हुए उनकी भाषा में सुबोधता के साथ ही साथ निरी ग्रामीणता आ जाती है । उदाहरण के लिए नीचे दिये हुए उनके 'ऋद्धि और सिद्धि' शीर्षक हास्य-व्यंग-पूर्ण लेख में 'बरहे', 'बुद्धि के बैल' आदि प्रयोग ध्यान देने योग्य हैं ।

परन्तु उनकी भाषा में सजीवता भी होती है । इसका पता उस लेख में ही लग सकता है । "अगर तुम अपने को कृती कहते हो तो अपना 'कैश बाक्स' दिखाओ" यही इस सजीवता का अच्छा उदाहरण है ।

'चपल चंचला' नामक उपन्यास में कई स्थलों पर गह-मरी जो का वर्णन-चातुर्य भली प्रकार ज्ञात होता है। उन वर्णनों से उनकी ओजपूर्ण गद्य-शैली का भी पता लगता है। केवल हास्यपूर्ण भाषा पर ही उनका अधिकार नहीं है, किन्तु पक्के उपन्यास-लेखक की भाँति गम्भीर से गम्भीर मनोवेगों को व्यक्त करने में भी वे पूरी तरह से समर्थ हैं।

ऋद्धि और सिद्धि

अर्थ या धन अलाउद्दीन का चिराग़ है। यदि यह हाथ में है, तो तुम जो चाहो सो पा सकते हो। यदि अर्थ के अधिपति हो तो वज्रमूर्ख होने पर भी विश्वविद्यालय तुम्हें डी० एल० की उपाधि देकर अपने तईं सभ्य समझेगा। तुम्हारी रचना में व्याकरण की चाहे जितनी अशुद्धियां होंगी, साहित्यिक लोग उसे इस समय का आर्ष-प्रयोग या आदर्श लेख कह कर मानेंगे। तुम अकल के रासभ या बुद्धि के बैल हो, तो भी अर्थ के महात्म्य से लोग तुमको विचक्षणबुद्धि-सम्पन्न या प्रतिभा का अवतार कह कर आदर करेंगे। लक्ष्मी की कृपा से तुम्हारे गौरव की सीमा नहीं रहेगी। तुम्हारे चारों ओर अनेक ग्रह, उपग्रह आ जुटेंगे, और तुमको केन्द्र बना कर एक नया "सौर-जगत्" रच डालेंगे। तथा तुम उनके बीच में मार्त्तण्डरूप होकर विराजोगे। विश्वविद्वेषी ख़ुशामदी तुमको घेरे हुए तुम्हारे सुर में सुर मिलावेंगे और जहाँ संयोग से तुमने जम्हाई ली कि चुटकियों का तार बाँध देंगे। तुम्हारे धूर्त आत्मीय स्वजन तुमको पग पग पर ठगा करेंगे। धोखेबाज़ तुम्हारे कृती पुत्र को उल्लू बना कर उससे

अनेक हैण्डनोट कटाया करेंगे। तुम्हारे अविद्या-मन्दिर में बड़ी धूमधाम से बन्दर का व्याह और भूतों के बाप का श्राद्ध होगा।

बरहे पर चलने वाला नट हाथ में बाँस लिये हुए बरहे पर दौड़ने के समय "हाय पैसा हाय पैसा" करके चिल्लाया करता है। दुनिया के सभी आदमी वैसे ही नट हैं। मैं दिव्यदृष्टि से देखता हूं कि ख़ुद पृथ्वी भी अपने रास्ते पर "हाय पैसा—हाय पैसा" करती हुई सूर्य की परिक्रमा कर रही है। अभी ज्योतिर्विद् लोग इस सिद्धान्त पर नहीं पहुँच सके हैं। क्योंकि अर्थ का खिंचाव ही विश्व—ब्रह्माण्ड का मध्याकर्षण है। उनको यह समझने में अभी देर है।

विज्ञानाचार्य सर जगदीशचन्द्र वसु ने साबित किया है कि धातुओं में प्राण है। बस उनकी बुद्धि—गवेषणा की दौड़ यहीं तक है। पर मेरी गवेषणा से यह पक्का सिद्धान्त हो चुका है कि ताँबा, सोना, चाँदी में केवल जीवनी शक्ति ही नहीं, उनमें ऐसी अद्भुत शक्ति है कि, जसके बल से वे सब विश्व-ब्रह्माण्ड को चरखी पर नचा रहे हैं।

काल—माहात्म्य और दिनों के फेर से ऐश्वर्यशाली भगवान् ने तो अब स्वर्ग से उतर कर दरिद्र के घर शरण लिया है। और उनके सिंहासन पर अर्थ जा बैठा है। इसी से अब सबके मुँह से अकेले अर्थ की ही अपार महिमा सुनी जाती है। अर्थ ही इस युग का परब्रह्म है। इस ब्रह्मवस्तु के बिना विश्वसंसार का अस्तित्व नहीं रह सकता। यही चक्राकार चैतन्यरूप कैश—बाक्स (Cash Box) में प्रवेश करके संसार को चलाया करते हैं। यही ब्रह्म—पदार्थ व्यक्त और अव्यक्त रूप से सृष्टि, स्थिति, प्रलय का कारण—स्वरूप है। जगत् का आधुनिक इतिहास

सहस्रमुख होकर इसकी महिमा गाता है। साधकों के हित के लिये अर्थ-नीति शास्त्र में इसकी उपासना की विधि लिखी गई है। जगत् के सब जीव और सब जातियां ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग द्वारा इस ब्रह्म-वस्तु की साधना करके सिद्धि लाभ करने की चेष्टा करती हैं।

यहां कुछ योगशास्त्र की बात आ पड़ी। बच्चों की पहली पोथी में लिखा है — "बिना पूछे दूसरे का माल लेना चोरी कहलाता है।" लेकिन कह कर ज़ोर से दूसरे का धन हड़प लेने से क्या कहलाता है। यह उसमें नहीं लिखा। मेरी राय में यही कर्मयोग का मार्ग है।

सुना जाता है कि कितने ही नामी लोग चोरी और डकैती करके अपने घर की गहरी नीव जमा गये हैं। उनके अनेक वंशधरों ने इस समय अनेक ख़िताब और तमग़े पाये हैं और वे अफ़सरों के साथ हाथ मिलाया करते हैं। इस तरह कर्मयोग से जो ऋद्धि और सिद्धि मिलती है वह सभी देशों के इतिहास पढ़ने से जानी जाती है।

अर्थ चारों वर्गों में प्रधान वर्ग है। बाक़ी तीन इसी के पीछे पीछे आया करते हैं। इस कारण अब रूपप्रधान वर्ग पाने के लिये ही जितनी बन सके साधना दरकार है। अधिकारी भेद से इन सब साधनाओं के प्रकार-भेद हैं। एक प्रकार की साधना में हज़ार वार निन्यानवे के धक्के खा सकने पर लखपती हुआ जा सकता है।

निरामिष वैष्णव मत से भी अर्थ की साधना हो सकती है। वैष्णव धर्म मितव्ययी का धर्म है। इसी कारण वैष्णव के देवता तुलसी हैं जिनको पाने में कुछ ख़र्च की ज़रूरत नहीं पड़ती। उनके लिये भोग चाहिए एक पैसे का बताशा। विष्णु भगवान् का नाम लेकर चढ़ा देने

से ही हो जाता है। इसमें पुरोहित की दक्षिणा या संकल्प–छुड़ाई देने की ज़रूरत नहीं।

मनुष्य–समाज में ऐसे भी लोग देखे जाते हैं जो ख़ुदा के यहां से आये हुये मनीआर्डरों को सबको ख़र्च कर डालते हैं। अर्थ मानों इन लोगों का रक्त–विकार है। इन लोगों को उल्लू की तरह आँख रहते भी दिखाई नहीं देता। कान रहते भी यह लोग सुन नहीं सकते।

भारतवासी बहुत दिनों से कर्ममार्ग छोड़ कर भक्तिमार्ग में जा पहुंचे हैं। इस देश के साधारण किरानी से लेकर राजा महाराजा पर्यन्त सभी भक्तिमार्ग के मुसाफ़िर हैं। कोई कोई सजधज कर उपास्यदेव के मन्दिर में रोज़ जाते और साष्टांग प्रणाम कर आते हैं। कोई अंग्रेज़ी, संस्कृत या हिन्दी में तरह तरह के स्तव–स्तोत्र कह कर इष्टदेव को प्रसन्न किया करते हैं। किन्तु सभी 'धनं देहि', 'धनं देहि' की रट से कान फोड़े डालते हैं। क्यों कि धन ही सब साधनों की परम–सिद्धि है।

अर्थ सब के लिये कामना की वस्तु है। किन्तु अर्थ है क्या चीज़, यह कोई नहीं समझता। मैंने दैव–गवेषणा द्वारा अद्वैतवाद की सहायता से अर्थ का असल रूप जान लिया है। चराचर विश्व–संसार में अगर कोई एक पदार्थ है तो वह अर्थ है। अर्थ के सिवाय यहां और किसी का अस्तित्व ही नहीं है। अगर तुम अपने को कृती कहते हो तो अपना 'कैश बाक्स' खोल कर दिखाओ। यदि तुम्हारे पास धन है तो तुममें मनुष्यत्व हो सकता है। दरिद्र के मनुष्यत्व है, यह बात दुनिया में कोई विश्वास नहीं करता। यदि रूप की बात कहो तो वह तो ख़ाली अर्थ ही अर्थ है। धनी का अन्धा लड़का भी चश्मरोशन कहलाता

है। अगर तुम कहो कि तुममें भलमनसाहत है, मैं तुम्हारा जेब टटोल कर कह दूंगा कि तुम ठीक कहते हो या नहीं। 'अलमति विस्तरेण'। अतएव साबित हुआ कि अर्थ के सिवाय और किसी का अस्तित्व नहीं है। कम समझ द्वैतवादी कह सकते हैं कि अर्थ और भगवान् दोनों हैं। पर मैं तो अद्वैतवाद लेकर दुनिया में उतरा हूं इस कारण मैं दोनों का अस्तित्व नहीं मानूंगा। कहूंगा कि अर्थ ही हैं, भगवान नहीं हैं।

['गोवरगणेश–संहिता' से]

———

दुर्गाप्रसाद मिश्र

[१८५९–]

—:o:—

वैसे तो दुर्गाप्रसाद जी मिश्र के गद्य में कोई विशेषता नहीं है, उनकी भाषा में वह टकसालीपन नहीं है जिसके कारण प्रतापनारायण मिश्र, द्विवेदी जी, बालमुकुन्द गुप्त तथा बालकृष्ण भट्ट के लेख सदैव साहित्यिक दृष्टि से मनोरंजक तथा स्मरणीय रहेंगे। तब भी मिश्र जी का गद्य सीधी सादी संस्कृतमय शैली का उत्तम नमूना है। यद्यपि उसमें उर्दू, अथवा यों कहिए कि, हिन्दुस्तानी भाषा की रंगत न्यूनातिन्यून है, तथापि उसमें क्लिष्टता का भी सर्वथा अभाव है। उसकी पदरचना सुकर तथा सरल है; उसके अर्थ में अत्यन्त विशदता है। कहीं कहीं पर उनकी भाषा में घरेलूपन भी है। उदाहरणार्थ 'किरन', 'सुनहरी', 'जानते हैं' तथा 'पृथिवी' इन शब्दों के उपयोग से उसमें ग्रामोचित सारल्य आजाता है और जगह जगह पर जो संस्कृत का पुट मिला है उसके बदले में सादगी की छटा आ जाती है।

इसके सिवाय दुर्गाप्रसाद के गद्य में एक प्रकार का सामंजस्य भी है जो उच्च कोटि के गद्य में प्रायः मिलता है। वे

एक बात को एक ढंग से कहते हैं और उसी के पश्चात् दूसरी बात ऐसी जोड़ देते हैं जिससे पूर्व कथित बात प्रभावपूर्ण प्रतीत होने लगती है। उनके निम्नलिखित वाक्यों से इस लक्षण का पता अच्छी तरह से लग जाता है:—

"तुम्हारे हृदय में शान्ति विराजेगी, उससे तुममें धैर्य-गुण उत्पन्न होगा, तुम अचल, अटल होकर जीवन बिताओगे" तथा

"जो सुख पाता हुआ अन्त में दुःखसागर में जा डूबता है उसके कष्ट का ठिकाना नहीं रहता, उसी प्रकार जो दुःख-सागर को पार करके सुख प्राप्त करता है उसके आनन्द की सीमा नहीं रहती।"

परन्तु यह सब कहने के बाद यही मानना पड़ता है कि मिश्रजी की गद्य-शैली के साहित्यिक उपयोग परिमित हैं। उसमें लचीलापन है ही नहीं। उसको हम केवल गम्भीर विषयों के प्रतिपादन करने में ही प्रयुक्त कर सकते हैं। यदि हम उसके द्वारा हास्यपूर्ण भावों को व्यक्त करना चाहें तो असम्भव हो जावेगा।

————

जीवतत्व

संसार–चक्र बराबर घूमता है। इस घूमने में स्वभाव का भी बहुत कुछ परिवर्तन होता है। ग्रीष्म के पीछे वर्षा, वर्षा के पीछे शरत, फिर हेमन्त, शीत, बसन्त आदि ऋतु जिस प्रकार क्रम से आती जाती हैं उसी प्रकार मनुष्य के जीवन में लड़कपन, जवानी और अन्त में बुढ़ापा

आता है। समय-चक्र से दिनरात में जहाँ तहाँ कितनी घटनायें घट जाती हैं। संसार में आज एक चीज़ एक रूप से दिखाई देती है, कल उसका और ही रूप दिखाई देता है। समय-चक्र बराबर घूमता है और उसके साथ परिवर्तन पर परिवर्तन होता चला जाता है। रात बीतने पर जब भोर होती है तो शीतल, मन्द समीर के झोकों से कलियाँ खिल जाती हैं, वृक्षों की टहनियां धीरे धीरे हिलती हैं, चारों ओर सौरभ फैल जाती है, रात की नींद का आनन्द लेकर जीव पहिले दिन का क्लेश भूल जाता है और इस नैसर्गिक शोभा को देख कर आनन्द में परिप्लुत हो जाता है। पक्षियों के मधुर स्वर से उसका आनन्द और बढ़ जाता है। क्रम से सुनहरी मुकुट सिर पर धरे बाल सूर्य उदय होते हैं। मानो अब तक रात के अँधेरे ने सूर्य को ग्रस लिया था, उससे किसी तरह पीछा छुड़ा कर अब निकले हैं। बड़ा आनन्द होता है परन्तु यह आनन्द कितनी देर ? जब सूर्य भगवान् हमारे सिर पर आ जाते हैं तो फिर कौन उनकी ओर देख सकता ? और फिर ग्रीष्मकाल के सूर्य की उग्रमूर्ति का तो क्या ठिकाना ? घर से बाहर निकलना कठिन हो जाता है। शीतल जल-वायु और शीतल स्थान के लिये सब व्याकुल हो जाते हैं। तब यही जान पड़ता है कि सूर्य अपनी किरनों से पृथिवी को दग्ध कर देना चाहते हैं। सबेरे जिनके दर्शन से इतना आनन्द था, दोपहर पीछे यह क्या विपरीत भाव ? संसार का कुछ भी चिरस्थायी नहीं है। सूर्य की वह प्रचण्डता भी अन्त को ढल जाती है। ढलते हुए सूर्य मनुष्य की ढलती हुई गति को जानते हैं। कहते हैं कि तुम्हारे जीवन का श्रेष्ट काल गतप्राय है। जो कुछ करना है झटपट कर लो। जो दिन चला जाता है वह फिर

नहीं आता। जीवन का अच्छा अंश वृथा चले जाने से अन्त में परिताप करना पड़ेगा। दिन रहते अपना काम कर लो। जब घोर अन्धेरा हो-जायगा चारों ओर सन्नाटा हो जायगा, तब ज्योतिःहीन आँखों से क्या कर सकोगे ?

जीवनवायु बराबर क्षय हो रही है। जो दिन वृथा गया वह भी तुम्हारे जीवन में से कट गया। इसी प्रकार एक दिन जीवन का अन्त हो जाता है। यदि जीवन-तत्त्व को समझ कर चलो तो बहुत कुछ कर सकते हो। ध्यान रखने से तुम्हारे जीवन के दिनरात समभाव से बीतेंगे और जब तुम अपने हृदय में विचारोगे तो अपने को ऐश्वर्यमान पाओगे। मन में सब प्रकार आनन्द रहेगा और बाहरी शोक-दुःख तुम्हें कष्ट न देगा। तुम्हारे हृदय में शान्ति विराजेगी, उससे तुममें धैर्य्यगुण उत्पन्न होगा। तुम अचल, अटल होकर जीवन बिताओगे।

देह जड़ पदार्थ की समष्टि मात्र है। यह जड़ वा प्रकृति जगत् में व्याप रही है। सबेरे सबेरे एक गुलाब का फूल खिलता है, खिलते ही उसमें से सुगन्ध उड़ कर चारों ओर फैल गई और पंखड़ियाँ टूटकर भूमि पर गिर पड़ीं। जीव की गति भी ठीक ऐसी ही है। जीव भूमि पर जन्म लेकर कुछ दिन जीता है पीछे मौत के मुंह में पड़ कर देह को भूमि ही पर छोड़ जाता है और आप ऊपर को उड़ जाता है।

सुख के अन्त में दुःख और दुःख के अन्त में सुख यही जगत् की रीति है। "चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि सुखानि च।" मनुष्य का जीवन-चक्र इसी प्रकार फिरता है। यह कोई नहीं जानता कि भविष्य में उसका जीवन सुख में कटेगा या दुःख में। जो सुख पाता हुआ अन्त

में दुःखसागर में जा डूबता है उसके कष्ट का ठिकाना नहीं रहता। उसी प्रकार जो दुःखसागर को पार करके सुख प्राप्त करता है उसके आनन्द की सीमा नहीं रहती। यह बात पृथिवी पर सर्वत्र देखी जाती है। पर समझना चाहिए कि जो सुख भोग रहा है वह पुराने जन्म के संचित पुण्य को क्षय कर रहा है और जो दुःख भोगता है वह पुराने संचित पापों का नाश कर रहा है, अर्थात् एक सुख को प्राप्त करता है और दूसरा दुःख को। जो सुख को समाप्त करता है उसे फिर दुःख पाने की और जो दुःख को समाप्त करता है उसे आगे सुख पाने की सम्भावना है। इसी से सुख दुःख की अवस्था भी समान नहीं रहती, उसमें भी परिवर्तन होता रहता है।

['श्री भारतधर्म' नामक पुस्तक से]

पं० गोविन्दनारायण मिश्र

[सन् १८५९–१९२३]

——:०:——

मिश्र जी ऐसे वंश में उत्पन्न हुए थे जिसमें कई पीढ़ियों से संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् होते आये थे। इसके सिवाय गोविन्द-नारायण जी की प्रारम्भिक शिक्षा भी संस्कृतमय परिस्थिति में हुई थी। एवं, यह स्वाभाविक सा था कि ऐसे वातावरण से निकली हुई उनकी भाषा में संस्कृत का अत्यधिक समावेश हो। परन्तु साधारण संस्कृत–पंडितों की सी एकपार्श्वता तथा मानसिक संकीर्णता का उनमें लेशमात्र तक न था। कारण यह था कि उन्होंने भिन्न भिन्न प्रकार के लोगों के बीच में विचरण किया था, उनकी बोल–चाल, रहन–सहन देखी थी जिससे उनका बौद्धिक विस्तार बढ़ा हुआ था। बंगाली, मरहटे, गुजराती तथा अन्यान्य लोगों में मिश्रित होते होते उनकी संस्कृत–विद्वत्ता का गुरुत्व हल्का हो गया होगा।

मिश्र जी का गद्य वास्तव में संस्कृतमय गद्य का अच्छा उदाहरण है। यद्यपि सरल और मिश्रित भाषा पर भी उनका अधिकार था, जैसा कि उनकी 'आत्माराम की टें टें' शीर्षक लेख–माला से ज्ञात होता है, तथापि साधारणतया समासयुक्त

लम्बे लम्बे पदों से युक्त गद्य लिखने से ही उनकी आत्मा को आनन्द मिलता था। उनका यह विचार ही था कि एक ऐसा ग्रन्थ लिखें जो बाण की 'कादम्बरी' के ढंग का हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने 'कवि और चित्रकार' शीर्षक कई छोटे छोटे निबन्ध लिखे भी थे जो अधूरे पड़े रह गये। इस प्रकार के लिखे हुए मिश्र जी के गद्य में शब्द–संचय बड़ा मनोहर होता है और उसमें प्रायः वह दुरूहता नहीं आने पाती जो इस तरह की संस्कृत में होती है। सबब यह है कि वे केवल शुद्ध संस्कृत शब्द ही ढूँढ़ ढूँढ़ कर नहीं जमा करते हैं वरन बीच बीच में बोलचाल के सुगम शब्द भी रखते हैं।

इसके अतिरिक्त मिश्र जी की भाषा काव्यमयी सी होती है। उसमें कवितोचित प्रवाह होता है तथा कल्पना की अनुपम छटा रहती है। भिन्न भिन्न शब्दों की तुक–साम्यता के कारण उनके लेखों में एक प्रकार का लय भी उत्पन्न हो जाता है। भाषा की संस्कृतमयता का पता कई बातों से लगता है। एक तो शब्द-चयन से साफ़ जान पड़ता है कि लेखक ने बड़ी खोज के बाद उसे एकत्रित किया है। शब्दों के द्वारा अनुप्रास तथा यमकादि अलंकारों के प्रस्तुत होने से भी संस्कृतता टपकती है। उनका वाक्य–विन्यास भी प्रायः सीधा-सादा नहीं होता। पढ़ने वाले को उसका आशय समझने के लिए बड़ी सावधानी तथा एकाग्रता की आवश्यकता होती है। उपन्यास–प्रेमी और अन्य इसी प्रकार के सुगम साहित्य के प्रेमियों को गोविन्दनारायण

जी के विद्वत्ताप्लावित लेख पढ़ते समय एक तरह की बेचैनी अथवा असंतोष सा प्रतीत हुए बिना नहीं रह सकता। मिश्र जी के गद्य का आनन्द प्राप्त करने के लिए गम्भीरता की आवश्यकता होती है। इसी विचार से उनके लेखों को उस श्रेणी के साहित्य में परिगणित करना उचित है जिसको समझने के लिए तथा जिसका रसास्वादन करने के लिए वाचकों को पहिले से ही अपने को तैयार रखना पड़ता है।

विभक्तियों के सम्बन्ध में आपने अपना मत 'विभक्ति-विचार' नामक लेख में प्रकट किया है। आप विभक्तियों को संज्ञा-पदों से मिलाकर लिखने के पक्षपाती थे। अभी तक इस विषय में निश्चित निर्णय नहीं हो पाया है। विभिन्न लेखक विभक्तियों को 'हटाकर' अथवा 'सटाकर' लिखते हैं।

———

[१]

कवि और चित्रकार

सहज सुन्दर मनहर सुभाव-छवि-सुभाव-प्रभावसे सबका चित्तचोर सुचारु सजीव-चित्र-रचना-चतुर चितेरा, और जब देखो तब ही अभिनव सब नवरस रसीली नित नवनव भाववर-सरसीली, अनूप रूपसरूप गरबीली, सुजन मनमोहन-मन्त्रकी कीली, गमक जमकादि सहज सुहाते चमचमाते अनेक अलंकार-सिंगार-साज-सजीली, छबीली कविता-कल्पना-कुशल कवि, इन दोनों का काम ही उस अगजगमोहिनी बलाकी सबला, सुभावसुन्दरी, अति सुकोमला अबलाकी नवेली, अलबेली, अनोखी पर

परम चोखी भी प्रेम-पोखी, समधिक सुहावनी, नयनमन-लुभावनी भोली रूप-छबिको आँखोंके आगे परतच्छ खड़ी भी दरसाकर मर्मज्ञ सुरसिक जनों के मनोंको लुभाना, तरसाना, सरसाना हरसाना और रिझाना ही है। इनमें पहलेके (चितेरे के) बाहरी साधनोंमें प्रधान मानयन्त्र पट, तूलिका और रंग विरंगे, गहरे, हलके, सुहाने, जगलुभाते, चुहचुहाते, मनहरन, अनगिनत बरन हैं। परन्तु दूसरेका तो मनचहे विविध विध अर्थभाव गमक-जमक-गमकते मृगमद चन्दन अतरतरसे भी अन्यतर सुन्दर सरस सुबास, बसे लसे विकसे, खिले अधखिले, रंगबिरंगे, सुविमल प्रफुल्ल सुमनदलसोही विश्वमोही, वरन वरनसे मनहरन वरनात्मक बचन-सुरतरुवर-वन गहन उपजाते संसार भरमें नित नयी स्थायी मनभायी सौरभ सरसाते अधिक अधिक महकाते गिनतीके अड़तालीस अक्षरोंकी एक अकेली वर्णमाला ही अतुलनीय अनन्य साधन है। निराली प्रतिभाशाली सबसे परली ऊँचीसे ऊँची श्रेणीकी अपूर्व परमोत्तम असाधारण अनन्य-सुलभ अति विचित्र शैलीकी सर्वत्र सहज फैलनेवाली अपनी अपनी अति पैनी सुतीक्ष्ण तैली बुद्धि ही दोनों की मूल पूंजी हैं।

परन्तु चतुर सुजान विज्ञ विचारवानों के अपक्षपाती सदा अडिग न्याय के ही साथी सूक्ष्म विचारधर्मकी अनमोल तुलापर धरकर तोल देखनेपर नयनमनमोहिनी विविध रंग-सोहिनी-आभा छन छन छिटकाते अपनी अनोखी मायासे जग भरमाते, चित्रविचित्र वर्ण-विन्यास-चतुरवर इतर-सकल-कला-कुशलवर चित्रकारका आसन भी, सरसरसभाव-पूर नूपुर-धुन गुनगुनाते मन्जुलतर पदविन्यासलासबिलास-विलासिनी सहज लीलावती-कविताकलकलन-चतुर यशस्वीशिरोमनि, अवनि-तलपर समतल-

थलअचलजलधिरत्नाकर अपार परिपूर छाये, सित फेन सकुचाये, हिम-सहिम शीतल पड़े जहाँ के तहाँ जमाये, अत्र तत्र सर्वत्र बिछायेसे भी न समाये आकाशलों छाये अपने अद्वितीय शोभा-शुभ-सुजस-अमीगुनसे निरंतर अमर नरवर, घर घर सदा सजीव अभिनवतर नवम चिरंजीवसे सुहाये, परम सुघर सुकविवरोंके सर्वप्रथम, सर्वप्रधान, सर्व्वोपरि विराजमान आदिमाननीय, सुर-नर कमनीय निराले आसनों की अनन्यसुलभ गौरव-गरबीली अति चटकीली सुन्दर सजीली गुनगरिमाकी गनतीमें सबसे पहली सर्वश्रेष्ठ श्रेणीकी परम प्रतिष्ठावाली, सजधजमें भी सबसे निराली शोभावाली आदर अनुराग श्रद्धा-भक्ति स्पर्द्धासे सदा पूजनीय पंक्तिसे नीचे ही बिछाया हुआ मानना पड़ेगा ; क्योंकि अपनी अति तुल-तुली परम नरम रेशम सम सुकोमल तुलिकाकी अतुल (लेखनीकी) होने पर तुली हुई लेखलघुता, निपुनई, सुघरई, अचरज में लानेवाली अचूक सचाई, सफ़ाई और जगभायी अनुपम कला-कुशलाईसे दृश्य मात्रकी अविकल ज्योंकी त्यों जैसी थी वैसीही छविका उतार लाना, और नयनों के आगे ऐनमैन खड़ीसी दरसाना भर ही चतुर चितेरेकी चरम चातुरी है।

परन्तु बिलबिलाते बिलाते, हाट बाट घाट विपनो, गली गली, और बाज़ार बाज़ार दमड़ी धेलेमें बिकते बिकाते, आरति परे बल बल जाते भी बल जाते कूर कपूर चूरकी धूर उड़ाती कास विकास तच्छ घास कुन्द कुन्द करि करिवर लजाती, बिन पानिपके लजाये, जल पाये, जिय हिय दरकाये दारुन दरसे ही सुदूर समुद्रमें जा दुरे मुरि बरबस धर-पकर कर परबस पुरनगरउगर परघर घरघर मन्दर अन्दर लाये, आज भी उस चौदहों भुवनव्यापी असह सुजसके पूरे प्रताप तापके मारे हारे

दईमारे बिचारे किनारे ताकते, दर विवश दर नाक घिसाते, हा हा खाते मुंह, विदोर विदोर बारम्बार बिलखाते कहीं भी और ठौर ठिकाना छिपकर भी किसीके आसरेमें दिन काटनेका न पाते, अन्तको सब सुरनकी चरनसरन ताक, देव मन्दिरोंमें जा घुसे सीस झुकाते मुंह छिपातेसेभी अपनी जीतके गीत गवाती सी ऊँची शंखध्वनि कराती, कैसी विचित्र भांतिकी बकपांतिकी विजयपताका भांति भांतिसे बारम्बार अनन्त अम्बर लों फहराती, अति ऊँचो उड़ाती निखिल लोकालोक विकासिनी अनूप धवलिमाकी चमक बिजिलीसे भी उजली अपनी उस सुजस प्रभाकी ओप भरी चमचमाती आभाके आगे इस मोहान्धकार—भरपूर असार संसारकी धौली वस्तु मात्रमें धवलकी प्रबलता, अवलता और मलिनताकी कलंक—कालिमाकी अनोखी कारिखसे उपजे काजरकी भरी कजरौटी सी प्रत्यक्ष दरसाती इकतक ताकते अमर मुनिवर—नर—चराचरके चाहभरे चखचखचौंधी लगाती, झिपाती, निरवधि दधिउदधिको भी सकुचाती जमाती, किनारे लगाती, दूर बहाती सुन्दरताकी सीम असीम सुन्दरी काम-बाम रतिपिय प्रानपति कन्दर्प-सौन्दर्य-दर्प दुरदुराती दूर दुराती सरद पूनों के समुदितसे दस सत पूरन चन्द कलंकीकी छिटकी जुन्हाई, समुहाई सकल मनभाईके भी मुंह मसि मल मलीन तेजहीन झलकाती, लजाती, झिपाती, विकसित सुकोमल सित—सुमन—सिरोमन सहस दलकमल-प्रफुल्ल-फुल्लदल-मधगत, अमरादि नरवर परम वन्दित अरूढ़ पदारविन्दपर पद-नख-नखत राजराज विजराज निष्कलंकीकी अनुपम अपूर्व दस गुनी चन्दिमा चमचमाती सरस सुधाधौली अलौकिक सुप्रभा फैलाती अशेष मोहजड़ता प्रगाढ़ तमतोम सटकाती, मुकाती निःशेष

निपटाती, निज भक्तजन-सुजन-मन-वांछित वराभय भुक्तिमुक्ति सुचारु चारों मुक्त हाथोंसे मुक्ति लुटाती, सकल कलापालापकलकलित सुललित सुरीली भीड़ गमक झनकार सुतार तार सुरग्राम अभिराम लसित वीन-प्रवीन-पुस्तिका-कलित मख़मलसे समधिक सुकोमल सुविमल अति सुन्दर लाल प्रवालसे लाललाल करपल्लव सुहाती, विविध विद्या-विज्ञानज्ञानसभ-सौरभ सरसाती, विकसे फूले सुहाते मनभाते सुमन प्रकास हास बास बसे अनायास सुगन्धित सित बसन लसनसोहा सुप्रभा बिकसाती, भवपारदा सारदा सरदा, सुविमल मानस-विहारी मुक्ताहारी, नीर-छीर बिचार-चतुर-चूड़ामणि महाकविवर विवुधराज राज-हंस-हिय-सिंहासन-निवासनी भगवती सरस्वती माताके मुंह निहारे, मुंहफट अनियारे प्राणोंसे प्यारे परम दुलारे पुत्र इन सहज अलबेले रंगीले अनोखे रसीले जसीले कविवरों की सुजन-मनमोहनी बचन-रचनामें ही विचित्र प्रभाव-शाली अनुपम अनोखी अतुल बलवाली पर परम कोमल सुभावकी एक ऐसी निराली शक्ति है कि जिसके अतुल बल औ अभावनीव प्रभावसे ये सबके अन्तरकी गुप्तसे गुप्त अनदेखी, अछूती, सूक्ष्मसे सूक्ष्म छिपी मनो-वृत्तियों को भी अपूर्व अनमोल अनेकों रतन जगमगाते, अनूप रूप लुनाई पलपल पर अधिक अधिक सरसाते, एकसे एक सब बातों में चढ़े बढ़े चमीकरसे भी चटकीले छबीले विचित्र अनमोल अलंकारों से समुचित खचित चितचुभी सुषमा बरसाते, एक ऐसी सुघराईसे नखसिख लों यथोचित सजाते, परम सोभाकी सोम सी समलंकृत कर दरसाते, मार्मिक सुरसिक-समाजके भावग्राही नयनों वा अनुरूप-रूप प्रतिविम्वित होने योग्य चमचमाते सुविमल सुन्दर स्वच्छ सुविशाल अनुपम अयनों के आगे

ललितपदविन्यासवाली संसारसे निराली नित्यनिपुणताकी बँधी ताल-लयसधी मनहर सुघर सुन्दर गतिपर नाचती हुई सी बातकी बात में सामने ला खड़ी कर दिखाते हैं !

उस समय नवरसमय अनुरागरागअलापकलापसरीली धुनगमक प्रस्तार उतार आरोह तानतरंगअभंग कलकलकूजित हाहा हूहूजित लय तालमय मगन चूमती मदमाती झूमती अन गिन्त अनन्त ऊँचीसे ऊँची तान-तरंगोंके लहरभरे भरपूर जोबनसे ऊभरे उमगे चले आते उस अथाह अपरिमेय असीम परावाररहित अपार अति अपूर्व लहरी आनन्दसुधारसकी विचित्र अनंत गहरी लहरी में मनमगन लोटपोट गोते खाते डूबते तरते विवस बह बह जाते रसमुग्ध अनोखे लहरो सुरसिकशिरोभूषण प्रधान सुजान दर्शकोंको निःशन्देह आत्मविस्मृति हो जाती है । यथार्थमें उस विचित्र अकथ दशामें गहरा गोता लगानेवाले चिन्ताशील अनुभवी-मात्र कुछ कालतक तो अपना आपा ही भूल जाते हैं ! सचमुच उस अनन्त अथाह अनोखे नित्य नवरस-सरस सधानिधि की थाह न पाकर मानो डूब ही जाते हैं ! उस अकथ असीम परमानन्द अपार परिपूर अमूल्य रत्नाकरके सदा सब रसभरे छलकते अकूपार अलौकिक सुधाउद-धिक अनन्त सरस समधर रस-रसीली लहरों से थकित चकित परिपूर छकित लोटपोट आनन्दमग्न उनके उस सुरस रसभीने रसीले मन भी, अनदेखे अनुभव अनुमाने पर परतच्छ से दरसाते अपूर्व लास्यहास्य आदि नृत्यकला विलास हावभाव भरे अंग अंग फड़काते मटकाते नाचते मन लुभाते नाचकी समपर लै बँधी थिरकती हुई सी लय ताल के अतलतल में लय हो आप ही आप आप भी उसकी ही ध्वनि पर थिरक थिरक कर

ताल से ताल मिलाते मन ही मन गुनगुनाते उस ही धुन पर मानों सरवस खो विवश हो गहरे लहरे के साथ ही मन की लहर में आ नाचने लगते हैं। निस्सन्देह ऐसे चमत्कारी सुरसिक राज राज हिय विहारी हियहारी अनोखे गुन इस त्रिगुणात्मक अपार संसार में केवल सुकवियों के ही बाँटे आये हैं कोई बतावे कि सारे संसार भर में इस सिरे से उस सिरे तक कविवरों के सिवा और किस दूसरे में ऐसी अनोखी अनन्य सुलभ विचित्र अलौकिक शक्ति देखने में आती है।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त

[१८६३–१९०७]

——:०:——

गुप्त जी उन लेखकों में से थे जिन्होंने पहले पहल उर्दू में ही बहुत काल तक लेख लिखे थे और जो शायद जीवन-पर्यन्त उर्दू की ही सेवा में लगे रहते, यदि जातीयता के आवेश में वे हिन्दी की ओर न झुकते। बालमुकुन्द जी १८८६ तक 'कोहनूर', 'अवधपंच' आदि उर्दू पत्रों में ही लेख लिखते रहे थे; और उनकी शैली तभी मँज चुकी थी। एवं, पं० मदन-मोहन मालवीय तथा पं० प्रतापनारायण मिश्र के सत्संग में पड़कर जब उन्होंने हिन्दी सीखी और अधिकतर उसी में लिखने लगे, तब उन्हें उस नई भाषा पर अधिकार प्राप्त करने में बहुत समय न लगा, क्योंकि साहित्यिक प्रतिभा तो उनमें थी ही, बस जिस तरह की हास्य-व्यंग से भरी हुई चुभीली भाषा वे पहले उर्दू में लिखते थे वैसी ही शक्तिपूर्ण भाषा अब हिन्दी में लिखने लगे। गुप्त जी अपने ढंग के अद्वितीय लेखक थे। उनके लेखों में हास्य और व्यंग दोनों गुण आदि से अन्त तक भरे होते थे। सचमुच यह कह सकते हैं कि उनकी भाषा की रोचकता उन्हीं गुणों पर निर्भर है।

उर्दू-कविता तथा उर्दू-गद्य दोनों में बादशाही ज़माने से ही तानाज़नी की मात्रा ख़ूब रहती आई थी। वास्तव में उर्दू की साहित्यिक विशेषता यही रही है। बाबू बालमुकुन्द जी गुप्त की हास्य-व्यंग-पूर्ण हिन्दी की गद्य-शैली भी उर्दू के इसी साँचे में ढली थी। गुप्त जी में स्वाभाविक व्यंग-शक्ति थी। वह शक्ति उस समय की सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति में स्वत: प्रस्फुरित हो उठी थी। लार्ड कर्ज़न के आधिपत्य में वंग-विच्छेद तथा अन्य कई असंतोषजनक सरकारी कारवाइयों के कारण देश में अशान्ति की आग धधक उठी थी। ऐसे आन्दोलित समय में बिगड़ी हुई प्रजा को खुल्लमखुल्ला असंतोष प्रकट करने का अवसर न देने के लिए सरकार ने राजनैतिक आपत्काल के अनुकूल कठोर क़ानूनों का प्रचार किया।

ऐसी अवस्था में हिंसापूर्ण षड्यन्त्र रचने के अतिरिक्त यदि कोई अन्य भद्र उपाय घोर असंतोष प्रकट करने का था तो वह व्यंगपूर्ण लेखों के लिखने का था। बस फिर क्या था, गुप्त जी ने 'शिवशम्भु' के कल्पित नाम से लार्ड कर्ज़न पर ख़ूब कस कर बौछारें की थीं। पर उन्हीं चिट्ठों में गुप्त जी ने अपनी लेखन-शक्ति का तथा हास्य और व्यंग-विषयक प्रतिभा का सर्वोत्तम परिचय दिया।

गुप्त जी के व्यंग के सम्बन्ध में कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो उच्चकोटि के व्यंगकारों की भाँति वे व्यंगपूर्ण लेख लिखते समय सदैव भंग पीने का बहाना कर लेते थे। इस

प्रकार भंग के नशे का परदा वाचकों के सामने डाल कर वे उन पर यह जमाने की कोशिश करते थे, कि जो कुछ खरी-खोटी बातें किसी के लिए कही जावेंगी वे सब बेलाग होकर तथा ईर्ष्या-द्वेष-रहित होकर निष्पक्ष भाव से ही कही जावेंगी। ऐसी निर्लेपता का आभास लोगों पर करके जो मज़ाक किया जाता है उसका बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि 'शिवशम्भु शर्मा' के चिट्ठों में तीक्ष्णातितीक्ष्ण व्यंग भी बड़ा हृदयग्राही प्रतीत होता है।

अब गुप्त जी के गद्य के सम्बन्ध में कुछ विचार करना है। यद्यपि उनकी शैली वास्तव में मिश्रित है, तथापि उसका झुकाव अधिकतर हिन्दी की ओर है। राजा शिवप्रसाद की तरह उनकी भाषा क्लिष्ट उर्दू-शब्दों से कभी अनावश्यक परिमाण में भरी नहीं रहती। बोल-चाल के मुहावरों का वे बड़ा ध्यान रखते थे। इतना अवश्य है कि कभी कभी उनके वाक्यों में प्राचीन उर्दू-गद्य की सी तुकबन्दी रहती है। उदाहरणार्थ यह वाक्य उनके एक चिट्ठे से ले सकते हैं:—

"वही बालक आगे कृष्ण हुआ, व्रज का प्यारा हुआ, माँ बाप की आँखों का तारा हुआ।"......

इसी प्रकार 'सतरह', 'दूज', 'हरेक', 'अबके' (अबकी) आदि कतिपय शब्दों के प्रयोग से गुप्त जी समय समय पर अपनी उर्दू की विशेषज्ञता को प्रकट करते हैं।

इन सब बातों से यह ज्ञात होता है कि गुप्त जी की

हिन्दी-शैली की जड़ें उर्दू में ही व्याप्त हैं, जिस प्रकार पं० बालकृष्ण भट्ट और पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के गद्य का आन्तरिक सम्बन्ध संस्कृत से है।

साधारणत: गुप्त जी की भाषा बड़ी शक्तिशाली तथा वेग-पूर्ण होती थी। उसमें एक प्रकार की पैनी धार सी होती है। 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक जो लेख उन्होंने 'अनस्थिरता' शब्द के वैयाकरणिक अनौचित्य को लक्ष्य करके पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी पर लिखा था, उसमें वह गुण पूर्ण रूप से भरा है।

अन्त में गुप्त जी के हिन्दी-गद्य-विषयक कार्य पर दो बातें कहनी हैं। उन्होंने ऐसे समय हिन्दी लिखना शुरू किया था जब कि उसका गद्य-साहित्य बन रहा था और पं० बाल-कृष्ण तथा पं० प्रतापनारायण मिश्र एक उत्कृष्ट शैली का निर्माण कर रहे थे। पं० प्रतापनारायण मिश्र ग्रामीण शब्द-भांडार की सहायता से गद्य को रोचक बनाने का प्रयत्न कर रहे थे और भट्ट जी संस्कृत, अँग्रेज़ी, उर्दू सब कहीं से उपयुक्त द्रव्य चुन चुन कर उसी उद्देश्य की पूर्ति में लगे थे। एक प्रकार से हिन्दी-गद्य को आधुनिक परिमार्जित स्वरूप उसी समय मिल रहा था। अतएव तत्कालीन लेखकों के द्वारा उसमें हास्य और व्यंग के समावेश होने की बड़ी ज़रूरत थी। आर्य-समाज के पाखंड-विडम्बना-प्रेरित लेखों में उन्हीं दोनों गुणों की भरमार थी। इसी बीच में बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने 'भारत-

मित्र' के पृष्ठों में अनेक सामाजिक, राजनैतिक तथा साहित्यिक विषयों पर व्यंगपूर्ण लेख लिख कर बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। प्राय: व्यंग और हास्य को अपनी शैली के ताना-बाना में मिला कर उन्होंने हिन्दी–गद्य की चुभीली शक्ति तथा उसके लचीलेपन को बढ़ाने में बड़ा योग दिया।

इसके सिवाय अपने साहित्यिक प्रतिस्पर्द्धियों के साथ क़लम की लड़ाई छेड़ कर उन्होंने अन्य लेखकों को भी साव-धानी सिखाई। द्विवेदी जी के 'अनस्थिरता' शब्द के वैयाक-रणिक अनौचित्य की घोर आलोचना करके तथा उस पर लम्बी-चौड़ी टीका-टिप्पणी करके उन्होंने अपने समय के लेखकों का ध्यान गद्य की भाषा की शुद्धता की ओर आकर्षित किया।

——

(१)

एक दुराशा

नारंगी के रस में ज़ाफ़रानी बसन्ती बूटी छान कर शिवशम्भु शर्मा खटिया पर पड़े मौजों का आनन्द ले रहे थे। ख़याली घोड़े की बागें ढीली करदी थीं। वह मनमानी जकन्दे भर रहा था। हाथ पावों को भी स्वाधीनता दी गई थी। वह खटिया के तूलअरज़ सीमा उल्लंघन करके इधर उधर निकल गये थे। कुछ देर इसी प्रकार शर्मा जी का शरीर खटिया पर था और ख़याल दूसरी दुनिया में। अचानक एक सुरीली गाने की आवाज़ ने चौंका दिया। कन–रसिया शिवशम्भु खटिया पर उठ बैठे। कान लगा कर सुनने लगे। कानों में यह मधुर गीत बार बार

अमृत डालने लगा—

"चलो चलो आज खेलें होली, कन्हैया घर"।

कमरे से निकल कर बरामदे में खड़े हुए। मालूम हुआ कि पड़ौस में किसी अमीर के यहाँ गाने बजाने की महफ़िल हो रही है। कोई सुरीली लय से उक्त होली गा रहा है। साथ ही देखा बादल घिरे हुए हैं बिजली चमक रही है रिमझिम झड़ी लगी हुई है। बसन्त में सावन देख कर अकल ज़रा चक्कर में पड़ी। विचारने लगे कि गाने वाले को मलार गाना चाहिये था न कि होली। साथ ही ख़याल आया कि फागुन सुदी है बसन्त के विकास का समय है वह होली क्यों न गावे। इसमें तो गानेवाले की नहीं विधि की भूल है जिसने बसन्त में सावन बना दिया है। कहाँ तो चाँदनी छिटकी होती निर्मल वायु बहती कोयल की कूक सुनाई देती। कहाँ भादों की सी अँधियारी है वर्षा की झड़ी लगी हुई है। ओह! कैसा ऋतुविपर्यय है।

इस विचार को छोड़ कर गीत के अर्थ का जी में विचार आया। होली खिलैया कहते हैं कि चलो आज कन्हैया के घर होली खेलेंगे! कन्हैया कौन? व्रज के राजकुमार और खेलने वाले कौन? उनकी प्रजा—ग्वाल बाल। इस बिचार ने शिवशम्भु शर्मा को और भी चौंका दिया कि ऐं! क्या भारत में ऐसा समय भी था जब प्रजा के लोग राजा के घर जाकर होली खेलते थे और राजा प्रजा मिल कर आनन्द मनाते थे? क्या इसी भारत में राजा लोग प्रजा के आनन्द को किसी समय अपना आनन्द समझते थे। यदि आज शिवशम्भु शर्मा अपने मित्रवर्ग सहित अबीर, गुलाल की झोलियाँ भरे रंग की पिचकारियाँ लिये अपने राजा

के घर होली खेलने जाये तो कहाँ जाये ? राजा दूर सात समुद्र पार है। न राजा को शिवशम्भु ने देखा न राजा ने शिवशम्भु को ! ख़ैर, राजा नहीं उसने अपना प्रतिनिधि भारत भेजा है। कृष्ण द्वारिका ही में हैं पर उद्धव को प्रतिनिधि बना कर व्रजवासियों को संतोष देने के लिये व्रज में भेजा है। क्या उस राजप्रतिनिधि के घर जाकर शिवशम्भु होली नहीं खेल सकता ? ओफ़ ! यह विचार वैसा ही बेतुका है जैसे अभी वर्षा में होली गाई जाती थी। पर इसमें गानेवाले का क्या दोष है ? वह तो समय समझ कर ही गा रहा था। यदि बसन्त में वर्षा की झड़ी लगे तो गाने वाले को क्या मलार गाना चाहिये ? सचमुच बड़ी कठिन समस्या है। कृष्ण है उद्धव है पर व्रजवासी उनके निकट भी नहीं फटकने पाते। सूर्य है धूप नहीं। चन्द्र है चाँदनी नहीं। माई लार्ड नगर ही में हैं पर शिवशम्भु उनके द्वार तक नहीं फटक सकता है, उनके घर चल कर होली खेलना तो विचार ही दूसरा है। माई लार्ड के घर तक बात की हवा नहीं पहुँच सकती ? जहांगीर की भांति उसने अपने शयनागार तक ऐसा कोई घंटा नहीं लगाया जिसकी जंज़ीर बाहर से हिलाकर प्रजा अपनी फ़रयाद उन्हें सुना सके। उसका दर्शन दुर्लभ है। द्वितीया के चन्द्र की भांति कभी कभी बहुत देर तक नज़र गड़ाने से उसका चन्द्रानन दिख जाता है तो दिख जाता है। लोग उंगलियों से इशारे करते हैं कि वह हैं। किन्तु दूज के चाँद के उदय का भी एक समय है लोग उसे जान सकते हैं। माई लार्ड के मुखचन्द के उदय के लिए कोई समय भी नियत नहीं।

इन सब विचारों ने इतनी बात तो शिवशम्भु के जी में भी पक्की

करदी कि अब राजा प्रजा के मिल कर होली खेलने का समय गया। तो भी इतना संदेश भंगड़ शिवशम्भु अपने प्रभु तक पहुँचा देना चाहता है कि आपके द्वार पर होली खेलने की आशा वाले एक ब्राह्मण को कुछ नहीं तो कभी कभी पागल समझ कर ही स्मरण कर लेना। वह आपकी गूँगी प्रजा का एक वकील है।

('शिवशम्भु का चिट्ठा' से)

[२]

आशीर्वाद

तीसरे पहर का समय था। दिन जल्दी जल्दी ढल रहा था। और सामने से संध्या फुर्ती के साथ पांव बढ़ाये चली आती थी। शर्मा महाराज बूटी की धुन में लगे हुए थे। सिलबट्टे से भंग रगड़ी जा रही थी। मिर्च मसाला साफ़ हो रहा था, बादाम इलायची के छिलके उतारे जाते थे। नागपुरी नारंगियां छील छील कर रस निकाला जाता था। इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रहीं हैं, तबियत भुरभुरा उठी। इधर भंग उधर घटा, बहार में बहार। इतने में वायु का वेग बढ़ा, चीलैं अदृश्य हुईं। अँधेरा छाया, बूँदें गिरने लगीं, साथ ही तड़ तड़ धड़ होने लगी, देखो ओले गिर रहे हैं। ओले थमें, कुछ वर्षा हुई, बूटी तय्यार हुई, बमभोला कह कर शर्मा जी ने एक लोटा भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लालडिग्गी पर बड़े लाट मिन्टो ने वंगदेश के भूतपूर्व छोटे लाट उडवर्न की मूर्ति खोली। ठीक एकही समय कलकत्ते में यह दो आवश्यक काम हुए। भेद इतना ही था कि शिवशम्भु शर्मा के बरामदे की छत पर बूँदें गिरती थीं। और लार्ड मिन्टो के सिर या छाते पर।

भंग छानकर महाराज जी ने खटिया पर लम्बी तानी कुछ काल सुषुप्ति के आनन्द में निमग्न रहे। अचानक धड़ धड़ तड़ तड़ के शब्द ने कानों में प्रवेश किया। आँखें मलते उठे वायु के झोंकों से किवाड़ पुर्ज़े पुर्ज़े हुआ चाहते थे। बरामदे के टीनों पर तड़ातड़ के साथ ठनाका भी होता था, एक दरवाज़े के किवाड़ खोल कर बाहर की ओर झाँका तो हवा के झोंके ने दस बीस बूँदों और दो चार ओलों से शर्मा जी के श्रीमुख का अभिषेक किया। कमरे के अन्दर भी ओलों की एक बौछाड़ पहुँची। फुर्ती से किवाड़ बन्द किये। तथापि एक शीशा चूर हुआ इतने में ठन ठन करके दस बजे, शर्मा जी फिर चारपाई पर लम्बायमान हुए कान टीन और ओलों के सम्मिलन की टनाटन का मधुर शब्द सुनने लगे, आखें खोले हाथ पाँव सुख में। पर विचार के घोड़े को विश्राम न था। वह ओलों की चोट से बाज़ुओं को बचाता हुआ परिन्दों की तरह इधर उधर उड़ रहा था। गुलाबी नशे में विचारों का तार बँधा कि बड़े लाट फुर्ती से अपनी कोठी में घुस गये होंगे और दूसरे अमीर भी अपने अपने घरों में चले गये होंगे पर वह चील कहाँ गई होगी ?.........हा, शिवशम्भु को इन पक्षियों की चिन्ता है, पर वह यह नहीं जानता कि इस अभ्रस्पर्शी अट्टालिकाओं से परिपूरित महानगर में सहस्रों अभागे रात बिताने को झोपड़ी भी नहीं रखते। इस समय सहस्रों अट्टालिकाएं शून्य पड़ी हैं।

आन की आन में विचार बदला, नशा उड़ा, हृदय पर दुर्बलता आई। भारत ! तेरी वर्तमान दशा में हर्ष को अधिक देर स्थिरता कहाँ ! प्यारी भंग ! तेरी कृपा से कभी कभी कुछ काल के लिए चिन्ता दूर

होजाती है। इसीसे तेरा सहयोग अच्छा समझा है। नहीं तो यह अध-बूढ़ा भंगड़, क्या सुख का भूखा है। घावों से चूर जैसे नींद में पड़ कर अपने कष्ट भूल जाता है अथवा स्वप्न में अपने को स्वस्थ देखता है तुझे पीकर शिवशम्भु भी उसी प्रकार कभी अपने कष्टों को भूल जाता है।

चिन्ता—स्रोत दूसरी ओर फिरा। विचार आया कि काल अनन्त है जो बात इस समय है वह सदा न रहेगी। इससे एक समय अच्छा भी आ सकता है। जो बात आज आठ आठ आँसू रुलाती है वही किसी दिन बड़ा आनन्द उत्पन्न कर सकती है। एक दिन ऐसी ही काली रात थी। इससे भी घोर अँधेरी भादों कृष्णा अष्टमी की अर्द्धरात्रि चारों ओर घोर अन्धकार—वर्षा होती थी बिजली कौंदती थी घन गरजते थे। यमुना उत्ताल तरंगों में बह रही थी। ऐसे समय में एक दृढ़ पुरुष एक सद्यजात शिशु को गोद में लिये मथुरा के कारागार से निकल रहा था······वह और कोई नहीं थे, यदुवंशी महाराज बसुदेव थे और नव जात शिशु कृष्ण वही बालक आगे कृष्ण हुआ, व्रज प्यारा हुआ, मां, बाप की आँखों का तारा हुआ, यदुकुल मुकुट हुआ उस समय की राजनीति का अधिष्ठाता हुआ। जिधर वह हुआ उधर विजय हुई। जिसके विरुद्ध हुआ पराजय हुई। वही हिन्दुओं का सर्वप्रधान अवतार हुआ और शिवशम्भु शर्मा का इष्टदेव। वह कारागार भारतसन्तान के लिये तीर्थ हुआ। वहां की धूल मस्तक पर चढ़ाने योग्य हुई।

" बर ज़मीने कि निशाने कफ़े पाये तो बुवद ।

सालहा सिजदये साहिब नज़रां ख़्वाहद बूद ॥"*

तब तो जेल बुरी जगह नहीं है।

---

*जिस भूमि पर तेरा पद-चिन्ह है दृष्टिवाले सैकड़ों वर्ष तक उस पर अपना मस्तक टेकेंगे।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

——:o:——

द्विवेदो जो ने एक नहीं अनेक प्रकार से आधुनिक हिन्दो-साहित्य की विस्तारवृद्धि को है। उनके हाथ से कई साहित्यिक विभागों का शिलान्यास हुआ है। आजकल हिन्दी गद्य में जो नवोन जोवन स्फुरित होता देख पड़ता है उसका श्रेय अधिकांश में इन्हीं को है। वास्तव में हिन्दी-गद्य का विचित्र स्वरूप द्विवेदी जी की क़लम से ही निकला है। जितने समय तक वे 'सरस्वती' के सम्पादक रहे, लगातार उनके हाथों हिन्दी में एक नये ढंग की गद्य-शैली का आविष्कार तथा प्रचार हुआ।

वैसे तो द्विवेदी जी का अधिकार कई प्रकार की गद्य-शैलियों पर है, और वे समय समय पर विषय के उपयुक्त शैलो का प्रयोग करते हैं। परन्तु वास्तव में उन्होंने उनमें से एक ख़ास तरह की शैली पर अपनी छाप लगाई है, और उसी पर पक्की सिद्धहस्तता प्राप्त की है। प्रत्येक के उदाहरण-स्वरूप अवतरण दिये जावेंगे। परन्तु जिस शैली का प्रचार करने के कारण उनका नाम हिन्दी-गद्य के निर्माताओं में अमर रहेगा, उसका विशेष रूप से यहां पर उल्लेख किया जावेगा।

स्थूलरूप से कहा जा सकता है कि उन्होंने तीन प्रकार की गद्य-शैलियों का प्रयोग किया है।

सबसे प्रथम उन्होंने एक प्रकार के मिश्रित गद्य का आविष्कार किया है, जिसमें हिन्दी, उर्दू, अँगरेज़ी, फ़ारसी, संस्कृत सब कहीं के शब्द तथा वाक्य मिले रहते हैं। यह प्रयत्न नहीं किया जाता कि ढूँढ़ ढूँढ़ कर शुद्ध हिन्दी शब्दों की ही भरमार की जाय। लेखक का ध्येय केवल यह रहता है कि ऐसे ढंग से विचार व्यक्त हों जिससे पढ़ने वाले को अर्थ समझने में कठिनाई न हो और साथ ही साथ बात चुभती हुई भी जान पड़े।

साधारणत: इस रीति से लिखे हुए द्विवेदी जी के लेखों में एक प्रकार का गाम्भीर्य होता है और चुटीली भाषा के होते हुए भी निम्नश्रेणी का व्यंग नहीं होता। परन्तु यही चुहचुहाती हुई भाषा कभी कभी द्विवेदी जी के हाथ में तेज़ भाले का काम करती है। इस शस्त्र का प्रयोग वे तभी करते हैं जब किसी लेखक की उच्छृंखल लेखनी से उनके साहित्यिक सिद्धान्तों को आघात पहुँचता है। ऐसे अवसरों पर वे श्लोकों, शेरों, दोहों, तथा कहावतों के ढेले बुरी तरह से मारते हैं।

'कवि और कविता' शीर्षक अवतरण में द्विवेदी जी के इस मिश्रित गद्य का उत्तम उदाहरण मिलेगा।

उनकी इस प्रौढ़ रीति की विशदता तथा सुबोधता का पता केवल उस लेख के इस वाक्यांश से लग सकेगा कि "कविता

पढ़ने या सुनने वाले को ऐसी साफ़ सुथरी सड़क मिलनी चाहिए जिस पर कंकर, पत्थर, टीले, खंदक, कांटे और झाड़ियों का नाम न हो"..........................

'कवि और कविता' शोर्षक लेख द्विवेदी जी के मिश्रित गद्य का अच्छा नमूना है। जिस निर्भीकता से वे अपना अभिप्राय प्रकट करने के लिए भिन्न भिन्न भाषाओं के मुहावरों का प्रयोग करते हैं, वह आश्चर्यप्रद है। यही नहीं वे समय समय पर संस्कृत के श्लोक तथा फ़ारसी के शेर उद्धृत करके पांडित्य भी ख़ूब दिखाते हैं।

तेरहवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की स्वागतकारिणी सभा के सभापति की हैसियत से द्विवेदी जी ने जो भाषण दिया था, उसकी भाषा भी उसी टक्कर की है जैसी कि उनके लेखों में प्राय: हुआ करती है और जिसके कारण हिन्दी-गद्य उनका आभारी रहेगा। उस वक्तृता से जो 'साहित्य की महत्ता' शीर्षक अवतरण दिया जावेगा उससे उनकी गद्य-शैली की विशेषतायें दिखलाई जा सकती हैं।

यद्यपि उनके भाषण के इस अंश की भाषा अपेक्षाकृत अधिक कसी हुई है और उसमें हिन्दीपन भी काफ़ी है जिसका झुकाव संस्कृत की ओर हो गया है, तथापि उसमें सदा की भाँति प्रसादगुण विद्यमान है। जो कुछ क्लिष्टता आ गई है वह भी प्रस्तुत विषय के सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि 'साहित्य की महत्ता' ऐसे दुरूह विषय पर जब कभी क़लम चलाई जावेगी,

तब लेखक को आवश्यकतावश गम्भीर हो जाना पड़ेगा। वास्तव में अपनी भाषा तथा शैली को विषयानुसार परवर्तित करने की क्षमता प्रकांड लेखकों में ही पाई जाती है। द्विवेदी जी इस का ज्वलन्त उदाहरण हैं।

यहाँ पर हम 'साहित्य की महत्ता' से द्विवेदी जी के गद्य के मुख्य मुख्य गुण दिखा कर अनकी अन्य लेखन-शैलियों पर विचार करेंगे।

इस लेख में तथा अन्यत्र भी उनके वाक्यों में एक प्रकार का सामंजस्य सा रहता है, जो प्रत्येक ओजपूर्ण गद्य का आवश्यक उपादान समझा जाता है। उदाहरणार्थ, "जाति-विशेष का उत्कर्षापकर्ष का, उसके उच्च नीच भावों का, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक संगठन का, उसके ऐतिहासिक घटना-चक्रों और राजनैतिक स्थितियों का प्रतिबिम्ब यदि कहीं देखने को मिल सकता है तो उसके ग्रन्थसाहित्य ही में मिल सकता है।"

इस वाक्य में एक प्रकार का चढ़ाव–उतार है जिसके कारण उसे पढ़ते समय पढ़ने वाले पर तत्काल प्रभाव पड़ता है। इसी तरह उनके गद्य में जगह जगह पर ओज बढ़ाने के लिए प्रतिपक्षता (Antithesis) का भी समावेश है। इस प्रति–पक्षता के अनेक उदाहरण मिलेंगे। द्विवेदी जी के गद्य में एक और बड़ी विशेषता है।

कहा गया है कि भाषामात्र वस्तुतः रूपकों की संहति है।

प्रत्येक शब्द जिस जिस पदार्थ के अर्थ में प्रयुक्त होता है वह बिना उस पूर्ण परिचय के निरर्थक सा जान पड़ता है।

द्विवेदी जी ने इसी सिद्धान्त की पुष्टि में अपने गद्य को सदैव रूपकयुक्त रक्खा है; जो बात उन्हें स्पष्ट करनी होती है उसका दृष्टान्त-द्वारा वे सजीव चित्र सा रख देते हैं। उदाहरणार्थ "यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती तो वह रूपवती भिखारिनी की तरह, कदापि आदरणीय नहीं हो सकती।"

सारांश यह है कि जिस शैली के गद्य को द्विवेदी जी ने अपनाया है उसमें प्रसाद, ओज, सामंजस्य, प्रतिपन्नता, बहु-भाषिता तथा व्यंग के साथ साथ सजीवता, अथवा विशदता भी रहती है।

अब उनकी दूसरी प्रकार की लेखन-प्रणाली पर ध्यान देना है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उनके दूसरे प्रकार के लिखने का ढंग ऊपर वर्णित ढंग से मिलता जुलता है। तात्पर्य यह है कि उनकी उस शैली में जिसका उल्लेख अभी तक हम करते आये हैं, व्यंग की मात्रा न्यूनाधिक परिमाण में सदैव रहती है। यह कह सकते हैं कि बिना व्यंग का कशाघात किये हुए उनकी लेखनी गद्य नहीं लिख सकती। उनके लिखे हुए लेख जो कई वर्ष हुए 'सरस्वतो' के 'देश की कथा' शीर्षक स्तम्भों में निकला करते थे उनमें व्यंग तथा हास्य दोनों प्रचु-रता में मिले रहते थे। इनके सिवाय उसकी भाषा जानबूझ

कर उर्दू-हिन्दी मिश्रित रहती है। इस तरह के लेखों में द्विवेदी जी का यह उद्देश्य रहता है कि चाहे भाषा में फ़ारसी की बू ही क्यों न आने लगे, परन्तु उनके क़ाबू में ऐसे शाब्दिक, अस्त्र-शस्त्र आजाने चाहिए जिनसे वे अचूक निशाना लगा सकें, और जिनसे उनकी हास्य–व्यंग–प्रियता की संतुष्टि हो सके।

अब द्विवेदी जी की तीसरी प्रकार की गद्य–शैली पर विचार करना है। ऊपर संकेत किया जा चुका है कि सुबोध गद्य लिखने वाले द्विवेदी जी समय समय पर वेष बदल देते हैं, और उनकी भाषा काफ़ी क्लिष्ट हो जाती है।

जब वे समझ लेते हैं कि प्रतिपाद्य विषय गूढ़ है या अन्य किसी विचार से गम्भीर बनाने योग्य है, तब स्वयमेव उनकी भाषा अत्यन्त परिष्कृत हो जाती है, और उस पर संस्कृत का आवरण छा जाता है। किन्तु द्विवेदी जी की क्लिष्ट से क्लिष्ट हिन्दी में भी वह दुरूहता नहीं आती जो कोरे संस्कृतज्ञों की भाषा में प्रायः मिलती है। प्रत्युत उनकी भाषा का प्रवाह सदैव नैसर्गिक तथा निर्मल रहता है और उस पर उनकी छाप रहती है।

यह माना कि 'बेकनविचार-रत्नावली' और 'पुरातत्त्व का पूर्वेतिहास' इन दोनों की भाषा में अन्तर है। 'पुरातत्त्व का पूर्वेतिहास' की भाषा अधिक परिपक्व है। 'बेकनविचार' में प्रयुक्त 'विद्याध्ययन से मन मुदित होता है' ऐसे वाक्यों की

रचना अब द्विवेदी जी के लेखों में ढूंढ़ने पर भी न मिलेगी। जिस समय 'बेकनविचार-रत्नावली' लिखी गई थी उस समय द्विवेदी जी अनुवादक की हैसियत से एक विशिष्ट गद्य-शैली की खोज में थे और लेखनकला के उपयुक्त उपकरणों को इकट्ठे कर रहे थे।

इस सम्बन्ध में एक बात और उल्लेख्य है। द्विवेदी जी को चाहे जिस शैली का आविष्कारक अथवा परिपोषक कहा जावे, यह बात कम से कम सर्वमान्य होगी कि वे वस्तुतः लेखनकला के एक विद्वत्तापूर्ण उपासक हैं, साधारण लिक्खाड़ों की भाँति बिना किसी ध्येय से उन्होंने इस क्षेत्र में पग नहीं रक्खा। कई भाषाओं के साहित्यों में पारंगत होकर तथा लिखने का काफ़ी मसाला जमा करके तब लिखने में उन्होंने हाथ डाला है। इसका पता उनके लेखों से स्वयं मिलता है; समयानुकूल कहावतों तथा संस्कृत, उर्दू और फ़ारसी के पद्यों को उपयुक्तता-पूर्वक उद्धृत करके लेखों को हृदयग्राही बनाना उसी का फल है।

इसी विद्वत्ता के विचार से हम द्विवेदी जी को संस्कृतमय गद्य लिखनेवाले लेखकों से परिगणित करते हैं, विचित्र (Romantic) लेखकों में नहीं। वास्तव में उनका ठीक ठीक वर्गीकरण करना असम्भव सा है।

———

(१)

म्यूनोसिपैलिटियों के कारनामे

चाहिए तो यह कि आमदनी से ख़र्च सदा कम ही हो, तथापि वह उससे बढ़ना तो कदापि न चाहिए। परन्तु यह इतनी मोटी बात कितनी ही म्यूनिसिपैलिटियों के ध्यान में नहीं आती। वे लाखों रुपये की क़र्ज़दार हैं। किसी ने सोचा, अपने शहर में नल-द्वारा पानी पहुँचाना चाहिए। पर रुपया पास नहीं। अच्छा, लो क़र्ज़। म्यूनीसिपैलिटी का चाहे बाल बाल बिक जाय, पर कल का पानी ये ज़रूर पिलावेंगे। जैसे अब तक हमारे बाप-दादे वाटर वर्क्स के बिना प्यासे ही मर गये हों। नरोत्तमनगर के म्यूनीसिपैलिटी का एक कल्पित उदाहरण लीजिए:—

इस म्यूनीसिपैलिटी के चेयरमैन (जिसे अब कुछ लोग कुर्सीमैन भी कहने लगे हैं) श्रीमान् बूचाशाह हैं। बाप-दादे की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा है। पढ़े लिखे आप राम का नाम ही हैं। चेयरमैन आप सिर्फ़ इस लिए हुए हैं कि अपनी कारगुज़ारी गवर्नमेंट को दिखा कर आप रायबहादुर हो जायें, और ख़ुशामदियों से आप ८ पहर ६४ घड़ी सदा घिरे रहें। म्यूनीसिपैलिटी का काम चाहे चले, चाहे न चले आपकी बला से। इसके एक मेम्बर हैं, बाबू बख़्शिशराय। आपके साले साहब ने फ़ी रुपये तीन चार पंसेरी का भूसा (म्यूनीसिपैलिटी को) देने का ठेका लिया है। आपका पिछला बिल १० हज़ार रुपये का था। पर कूड़ागाड़ियों के बैलों और भैंसों के बदन पर सिवा हड्डी के मांस नज़र नहीं आता। सफ़ाई के इन्स्पेक्टर हैं लाला सतगुरदास। आपकी इन्स्पेक्टरी के ज़माने में हिसाब से कम तनख़्वाह पाने के कारण,

मेहतर लोग तीन दफ़े हड़ताल कर चुके हैं। नज़ूल ज़मीन के एक टुकड़े का नीलाम था। सेठ सर्वसुख उसके ३ हज़ार देते थे। पर उन्हें वह टुकड़ा न मिला। उसके ६ महीने बाद म्यूनीसिपैलिटी के मेम्बर पण्डित सत्यसर्वस्व के ससुर के साले के हाथ वही ज़मीन १ हज़ार पर बेंच दी गई।

म्यूनीसिपैलिटी के मदर्सों की देख-भाल एक मेम्बर साहब के सिपुर्द है। आपका शुभनाम है – ठाकुर वंशपालसिंह ! एक बार एक बैठे-ठाले ने पता लगाया तो मालूम हुआ कि कुल ३० मुदर्रिसों में से २९ मुदर्रिस ठाकुर साहब के रिश्तेदार निकले — कुछ मातृपक्ष के, कुछ पितृ-पक्ष के।

इस दशा में भी यदि म्यूनीसिपैलिटियों का काम सुचारु रूप से चल जाय तो समझना चाहिए कि सूर्य शीतल हो गया और चन्द्रमा आग उगलने लगा।

(२)

साहित्य की महत्ता

ज्ञान-राशि के सञ्चित कोश ही का नाम साहित्य है। सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखनेवाली और निर्दोष होने पर भी, यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती तो वह, रूप-वती भिखारिनी की तरह कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। उसकी शोभा, उसकी श्रीसम्पन्नता, उसकी मान-मर्यादा उसके साहित्य ही पर अवलम्बित रहती है। जाति-विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके उच्च-नीच भावों का, उसके धार्म्मिक विचारों और सामाजिक सङ्गठन का, उसके

ऐतिहासिक घटनाचक्रों और राजनैतिक स्थितियों का प्रतिविम्ब देखने को यदि कहीं मिल सकता है तो उसके ग्रन्थ-साहित्य ही में मिल सकता है। सामाजिक शक्ति या सजीवता, सामाजिक अशक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता तथा असभ्यता का निर्णायक एकमात्र साहित्य है। जिस जाति-विशेष में साहित्य का अभाव या उसकी न्यूनता आपको देख पड़े, आप यह निःसन्देह निश्चित समझिए कि वह जाति असभ्य किंवा अपूर्णसभ्य है। जिस जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होती है उसका साहित्य भी ठीक वैसा ही होता है। जातियों की क्षमता और सजीवता यदि कहीं प्रत्यक्ष देखने को मिल सकती है तो उनके साहित्य-रूपी आईने ही में मिल सकती है। इस आईने के सामने जाते ही हमें यह तत्काल मालूम हो जाता है कि अमुक जाति की जीवनी-शक्ति इस समय कितनी या कैसी और भूतकाल में कितनी और कैसी थी। आप भोजन करना बन्द कर दीजिए या कम कर दीजिए, आपका शरीर क्षीण हो जायगा और अचिरात् नाशोन्मुख होने लगेगा। इसी तरह आप साहित्य के रसास्वादन से अपने मस्तिष्क को वञ्चित कर दीजिए, वह निष्क्रिय होकर धीरे धीरे किसी काम का न रह जायगा। बात यह है कि शरीर के जिस अङ्ग का जो काम है वह उससे यदि न लिया जाय तो उसकी वह काम करने की शक्ति नष्ट हुए बिना नहीं रहती। शरीर का खाद्य भोजनीय पदार्थ है और मस्तिष्क का खाद्य साहित्य। अतएव यदि हम अपने मस्तिष्क को निष्क्रिय और कालान्तर में निर्जीव सा नहीं कर डालना चाहते तो हमें साहित्य का सतत सेवन करना चाहिए और उसमें नवीनता तथा पौष्टिकता लाने के लिए उसका उत्पादन भी करते

जाना चाहिए पर, याद रखिए, विकृत भोजन से जैसे शरीर रुग्ण होकर बिगड़ जाता है उसी तरह विकृत साहित्य से मस्तिष्क भी विकारग्रस्त होकर रोगी हो जाता है। मस्तिष्क का बलवान् और शक्तिसम्पन्न होना अच्छे ही साहित्य पर अवलम्बित है। अतएव यह बात निर्भ्रान्त है कि मस्तिष्क के यथेष्ट विकास का एक मात्र साधन अच्छा साहित्य है। यदि हमें जीवित रहना है और असभ्यता की दौड़ में अन्य जातियों की बराबरी करना है तो हमें श्रम-पूर्वक, बड़े उत्साह से, सत्साहित्य का उत्पादन और प्राचीन साहित्य की रक्षा करनी चाहिए। और यदि हम अपने मानसिक जीवन की हत्या करके अपनी वर्तमान दयनीय दशा में पड़ा रहना ही अच्छा समझते हों तो आज ही इस साहित्य-सम्मेलन के आडम्बर का विसर्जन कर डालना चाहिए।

आँख उठाकर ज़रा और देशों तथा और जातियों की ओर तो देखिए। आप देखेंगे कि साहित्य ने वहाँ की सामाजिक और राजकीय स्थितियों में से कैसे कैसे परिवर्तन कर डाले हैं। साहित्य ही ने वहाँ समाज की दशा कुछ की कुछ कर दी है; शासन-प्रबन्ध में बड़े बड़े उथल-पुथल कर डाले हैं; यहाँ तक कि अनुदार धार्मिक भावों को भी जड़ से उखाड़ फेंका है। साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती। योरप में हानिकारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उत्पाटन साहित्य ही ने किया है; जातीय स्वातन्त्र्य के बीज उसी ने बोये हैं; व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के भावों को भी उसी ने पाला, पोसा और बढ़ाया है; पतित देशों का पुनरुत्थान भी उसी ने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया है? फ्राँस में प्रजा को

सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है ? पादाक्रान्त इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है ? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने। जिस साहित्य में इतनी शक्ति है, जो साहित्य मुर्दों को भी ज़िन्दा करने वाली सञ्जीवनी औषध का आकर है, जो साहित्य पतितों का उठाने-वाला और उत्थितों के मस्तक को उन्नत करने वाला है उसके उत्पादन और संवर्धन की चेष्टा जो जाति नहीं करती वह अज्ञानान्धकार के गर्त में पड़ी रहकर किसी दिन अपना अस्तित्व ही खो बैठती है। अतएव समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्त्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उससे अनुराग नहीं रखता वह समाजद्रोही है, वह देशद्रोही है, वह जातिद्रोही है किम्बहुना वह आत्मद्रोही और आत्महन्ता भी है।

कभी कभी कोई समृद्ध भाषा अपने ऐश्वर्य्य के बल पर दूसरी भाषाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती है, जैसा जर्मनी, रूस और इटली आदि देशों की भाषाओं पर फ्रेंच भाषा ने बहुत समय तक कर लिया था। स्वयं अँगरेज़ी भाषा भी फ्रेंच और लैटिन भाषाओं के दबाव से नहीं बच सकी। कभी कभी यह दशा राजनैतिक प्रभुत्व के कारण भी उपस्थित हो जाती है और विजित देशों की भाषाओं को जेता जाति की भाषा दबा लेती है। तब उनके साहित्य का उत्पादन यदि बन्द नहीं हो जाता तो उसकी वृद्धि की गति मन्द ज़रूर पड़ जाती है। यह अस्वाभाविक दबाव सदा नहीं बना रहता। इस प्रकार की दबी या अधःपतित भाषायें बोलनेवाले जब होश में आते हैं तब वे इस अनैसर्गिक आच्छादन को दूर फेंक देते हैं। जर्मनी, रूस, इटली और

स्वयं इंग्लैंड चिरकाल तक फ्रेंच और लैटिन भाषाओं के मायाजाल में फँसे थे। पर बहुत समय हुआ, उस जाल को उन्होंने तोड़ डाला। अब वे अपनी ही भाषा के साहित्य की अभिवृद्धि करते हैं; कभी भूल कर भी विदेशी भाषाओं में ग्रन्थ-रचना करने का विचार तक नहीं करते। बात यह है कि अपनी भाषा का साहित्य ही स्वजाति और स्वदेश की उन्नति का साधक है। विदेशी भाषा का चूड़ान्त ज्ञान प्राप्त कर लेने और उसमें महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ-रचना करने पर भी विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकती और अपने देश को विशेष लाभ नहीं पहुँच सकता। अपनी माँ को निःसहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़ कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा-शुश्रूषा में रत होता है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तम्ब ही कर सकता है।

मेरा यह मतलब कदापि नहीं कि विदेशी भाषायें सीखनी ही न चाहिए। नहीं; आवश्यकता, अनुकूलता, अवसर और अवकाश होने पर हमें एक नहीं, अनेक भाषायें सीखकर ज्ञानार्जन करना चाहिए; द्वेष किसी भी भाषा से न करना चाहिए; ज्ञान कहीं भी मिलता हो उसे ग्रहण ही कर लेना चाहिए। परन्तु अपनी ही भाषा और उसीके साहित्य को प्रधानता देनी चाहिए; क्योंकि अपना, अपने देश का, अपनी जाति का उपकार और कल्याण अपनी ही भाषा के साहित्य की उन्नति से हो सकता है। ज्ञान, विज्ञान, धर्म्म और राजनीति की भाषा सदैव लोक-भाषा ही होनी चाहिए। अतएव अपनी भाषा के साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि करना, सभी दृष्टियों से, हमारा परम धर्म्म है।

("कानपुर–साहित्य–सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष के भाषण" से)

(३)

पुरातत्व का पूर्वेतिहास*

प्राणियों में मनुष्य ही सब से श्रेष्ठ है, क्योंकि उसी में सबसे अधिक ज्ञान का विकास पाया जाता है। जिसमें ज्ञान की मात्रा जितनी ही कम है वह मनुष्य उतना ही अधिक पशुत्व की ओर झुका समझा जाता है। इसी तरह, जिसमें उसकी मात्रा अधिक है वह उतना ही अधिक ईश्वरत्व अथवा सर्वज्ञत्व की ओर झुका समझा जाता है। कोई मनुष्य आज तक सर्वज्ञ हुआ है या नहीं, इसका तो पता नहीं, परन्तु, हाँ, ज्ञान के न्यूनाधिकत्व के अनुसार किसी में अल्पज्ञता और किसी में बहुज्ञता ज़रूर ही पाई जाती है।

संसार में आज तक असंख्य ज्ञानवान् मनुष्य उत्पन्न हो चुके हैं। वे सब अपनी अपनी ज्ञानशक्ति के अनुसार ज्ञानमूलक वस्तुओं के रूप में न मालूम कितनी मिलकियत छोड़ गये हैं। उन सब का मिश्रित ज्ञान-भाण्डार इतना है जिसकी थाह नहीं। तथापि, फिर भी कोई मनुष्य यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि जानने योग्य सभी बातें जान ली गई हैं। सच तो यह है कि यह सृष्टि अब तक भी प्रायः अज्ञेय या अज्ञात वस्तुओं से ही अधिकतर भरी पड़ी है। इस जगत् के विषय में प्राचीन ऋषि जैसे कहते थे "को ददर्श प्रथमं जायमानम्" वैसे ही आज-कल के भी इस बीसवीं शताब्दी के भी ज्ञानी पुरुष कहते हैं।

---

*सरस्वती में प्रकाशित "पुरातत्व का पूर्वेतिहास" शीर्षक लेख से संकलित।

श्रम, खोज, विचार, विवेक आदि की सहायता से ज्ञानवृद्धि ज़रूर हो रही है। एक समय वह था जब आकाश में सहसा मेघ मँडराते, आँधी आते और जङ्गलों में आग लग जाते देख वैदिक ऋषियों को आश्चर्य होता था। वे भयभीत हो उठते थे और प्राकृतिक घटनाओं को दैवी कोप समझ कर उनसे परित्राण पाने के लिए इन्द्र, अग्नि, वायु आदि की शरण जाते थे। पर जैसे ही जैसे वे विश्व-रहस्य का ज्ञान प्राप्त करते गये, वैसे ही वैसे यथार्थ बात उनकी समझ में आती गई।

इस तरह का ज्ञान-समूह अनन्त काल से सञ्चित होता चला आ रहा है उसके सञ्चय का कोष ही इतिहास है। इन्द्रियों के द्वारा मनुष्य केवल अपने समय का ज्ञान प्राप्त कर सकता है, भूत-भविष्यत् का नहीं। जो ज्ञान इन्द्रियातीत है उसकी प्राप्ति वह नहीं कर सकता। संसर्ग और अनुभव के अतीत ज्ञान की प्राप्ति उसे यदि हो सकती है तो इतिहास ही की बदौलत हो सकती है। समय समय का ज्ञान यदि इतिहास-बद्ध होता चला गया तो वह सब एकत्र रहता है और आगे की पीढ़ियों के काम आता है। दुःख की बात है कि हमारे पूर्वजों का रचा हुआ सच्चा और विस्तृत इतिहास उपलब्ध नहीं। अपने देश के ज्ञान-समूह का सञ्चय उन्होंने इतिहासमञ्जूषा के भीतर नहीं बन्द किया और यदि किया भी हो तो उसका कहीं भी अस्तित्व नहीं पाया जाता। भोज-प्रबन्ध आदि के ढँग की जो पुस्तकें मिलती हैं, वे इतिहास नहीं। वे तो कल्पित कहानियों की परम्परा-मात्र हैं।

यद्यपि हमारे पूर्वजों का लिखा हुआ यथार्थ इतिहास उपलब्ध नहीं, तथापि उनकी निर्माण की हुई ऐसी अनन्त सामग्री विद्यमान है जिसकी

सहायता से हम प्राचीन समय की घटनाओं का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। और उस समय के इतिहास की रचना भी कर सकते हैं। परन्तु इतिहास के महत्त्व से अनभिज्ञ होने के कारण हम लोगों ने इस सामग्री से भी लाभ नहीं उठाया, अपने आप इतिहास-रचना का सूत्र-पात तक नहीं किया। भारत के प्राचीन इतिहास के निर्माण का पाठ हमें पढ़ाया है सात समुद्र पार रहने वाले पश्चिमी देशों के निवासियों ने।

जिज्ञासा मनुष्य की स्वाभाविक सम्पत्ति है। जो मनुष्य जितना ही अधिक बुद्धिमान होता है उसमें उतनी ही अधिक जिज्ञासा होती है। जब वह किसी अपरिचित देश या अपरिचित मनुष्य-समाज में पहुँच जाता है तब उसकी ज्ञान-प्राप्ति की पिपासा और भी प्रबल हो उठती है। उसके हृदय में उस समय इस तरह के प्रश्न उठते हैं — जिन नये मनुष्यों के बीच में मैं आपड़ा हूँ, उनका धर्म क्या है? उनकी भाषा कैसी है? उनके रीति-रस्म कैसे हैं? इत्यादि। अतएव वह उनकी लिपि, उनकी राजनीति, उनकी समाज-नीति उनकी कला-कुशलता आदि से परिचय प्राप्त करने की चेष्टा करता है। और धीरे धीरे उनके धर्म, समाज, इति-हास आदि विषयों का ज्ञानसम्पादन करने में लग जाता है। अंग्रेज़ों ने इसी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर, इस देश के इतिहास की खोज का उपक्रम किया था।

---

(४)

कवि और कविता

यह बात सिद्ध समझी गई है कि कविता अभ्यास से नहीं आती।

जिसमें कविता करने का स्वाभाविक माद्दा होता है वही कविता कर सकता है। देखा गया है कि जिस विषय पर बड़े बड़े विद्वान् अच्छी कविता नहीं कर सकते उसी पर अपढ़ और कम उम्र के लड़के कभी कभी अच्छी कविता लिख देते हैं। इससे स्पष्ट है कि किसी किसी में कविता लिखने की इस्तेदाद स्वाभाविक होती है, ईश्वरदत्त होती है। जो चीज़ ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी। वह निरर्थक नहीं होसकती। उससे समाज को अवश्य कुछ न कुछ लाभ पहुँचता है।

कविता यदि यथार्थ में कविता है तो सम्भव नहीं कि उसे सुन कर सुनने वाले पर कुछ असर न हो। कविता से दुनिया में आज तक बहुत बड़े बड़े काम हुए हैं। अच्छी कविता सुनकर कविता-गत रस के अनुसार, दुःख, शोक, क्रोध, करुणा, जोश आदि भाव पैदा हुए बिना नहीं रहते। और जैसा भाव मन में पैदा होता है, कार्य के रूप में फल भी वैसा ही होता है। हम लोगों में, पुराने ज़माने में भाट, चारण आदि अपनी कविता ही की बदौलत वीरों में वीरता का सञ्चार कर देते थे। पुराणादि में कारुणिक प्रसङ्गों का वर्णन सुनने और उत्तररामचरित आदि दृश्य-काव्यों का अभिनय देखने से जो अश्रुपात होने लगता है वह क्या है? वह अच्छी कविता ही का प्रभाव है।

रोम, इङ्गलेण्ड, अरब, फ़ारस आदि देशों में इस बात के सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं कि कवियों ने असम्भव बातें सम्भव कर दिखाई हैं। जहाँ पस्तहिम्मती का दौरदौरा था वहाँ ग़दर मचा दिया है। अतएव कविता एक असाधारण चीज़ है। परन्तु बिरले ही को सत्कवि होने का सौभाग्य प्राप्त होता है। जब तक ज्ञानवृद्धि नहीं होती — जब तक सभ्यता

का ज़माना नहीं आता – तभी तक कविता की विशेष उन्नति होती है। क्योंकि सभ्यता और कविता में परस्पर विरोध है। *सभ्यता और विद्या की वृद्धि होने से कविता का असर कम होजाता है। कविता में कुछ न कुछ झूठ का अंश ज़रूर रहता है। असभ्य अथवा अर्द्धसभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत। तुलसीदास की रामायण के ख़ास ख़ास स्थलों का स्त्रियों पर जितना प्रभाव पड़ता है, उतना पढ़े लिखे आदमियों पर नहीं। पुराने काव्यों को पढ़ने से लोगों का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था उतना अब नहीं होता। हज़ारों वर्ष से कविता का क्रम जारी है। जिन प्राकृतिक बातों का वर्णन बहुत कुछ अब तक हो चुका, जो नये कवि होते हैं वे भी उलट फेर से प्रायः उन्हीं बातों का वर्णन करते हैं। इसी से अब कविता कम हृदय-ग्राहिणी होती है।

संसार में जो बात जैसी देख पड़े कवि को उसे वैसीही वर्णन करनी चाहिए। उसके लिए किसी तरह की रोक या पाबन्दी का होना अच्छा नहीं। दबाव से कवि का जोश दब जाता है। उसके मन में जो भाव आपही आप पैदा होते हैं उन्हें जब वह निडर होकर अपनी कविता में प्रकट करता है तभी उसका पूरा पूरा असर लोगों पर पड़ता है। बनावट से कविता बिगड़ जाती है। किसी राजा या किसी व्यक्ति-विशेष के गुण-दोषों को देखकर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हों उन्हें यदि वह बेरोक-टोक प्रकट करदे तो उसकी कविता हृदयद्रावक हुए बिना न

---

*दे० लार्ड मैकाले (Macaulay) की प्रसिद्ध उक्ति "As Civilization advances, Poetry declines." —संपादक

रहे। परन्तु परतन्त्रता या पुरस्कार-प्राप्ति या और किसी तरह की रुकावट पैदा हो जाने से, यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नहीं होता तो कविता का रस ज़रूर कम हो जाता है। इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस, अतएव प्रभावहीन हो जाती है। सामाजिक और राजनैतिक विषयों में कटु होने से सच कहना भी जहाँ मना है, वहाँ इन विषयों पर कविता करने वाले कवियों की उक्तियों का प्रभाव क्षीण हुए बिना नहीं रहता। कवि के लिए कोई रोक न होनी चाहिए। अथवा जिस विषय में रोक हो उस विषय पर कविता ही न लिखनी चाहिए। नदी, तालाब, बन, पर्वत, फूल, पत्ती, गरमी, सर्दी आदि ही के वर्णन से उसे सन्तोष करना उचित है।

ख़ुशामद के ज़माने में कविता की बुरी हालत होती है। जो कवि राजाओं, नवाबों या बादशाहों के आश्रय में रहते हैं, अथवा उनको ख़ुश करने के इरादे से कविता करते हैं, उनको ख़ुशामद करना पड़ती है। वे अपने आश्रयदाताओं की इतनी प्रशंसा करते हैं, इतनी स्तुति करते हैं, कि उनकी उक्तियाँ असलियत से दूर जा पड़ती हैं। इससे कविता को बहुत हानि पहुँचती है। विशेष करके शिक्षित और सभ्य देशों में कवि का काम प्रभावोत्पादक रीति से यथार्थ घटनाओं का वर्णन करना है, आकाश-कुसुमों के गुलदस्ते तैयार करना नहीं। अलङ्कार-शास्त्र के आचार्यों ने अतिशयोक्ति एक अलङ्कार ज़रूर माना है। परन्तु अभावोक्तियाँ भी क्या कोई अलङ्कार हैं? किसी कवि की बेसिर पैर की बातें सुनकर किस समझदार आदमी को आनन्द-प्राप्ति हो सकती है? जिस समाज के लोग अपनी झूठ प्रशंसा सुन कर प्रसन्न होते हैं वह समाज

प्रशंसनीय नहीं समझा जाता।

कारणवश अमीरों की प्रशंसा करने, अथवा किसी एक ही विषय की कविता में कवि-समुदाय के आजन्म लगे रहने से, कविता की सीमा कट-छँट कर बहुत थोड़ी रह जाती है। इस तरह की कविता उर्दू में बहुत अधिक है। यदि यह कहें कि आशिक़ाना (श्रृङ्गारिक) कविता के सिवा और तरह की कविता उर्दू में है ही नहीं, तो बहुत बड़ी अत्युक्ति न होगी। किसी दीवान को उठाइए, आशिक़-माशूक़ों के रङ्गीन रहस्यों से आप उसे आरम्भ से अन्त तक रँगी हुई पाइएगा। इश्क़ भी यदि सच्चा हो तो कविता में कुछ असलियत आ सकती है। पर क्या कोई कह सकता है कि आशिक़ाना शेर कहने वालों का सारा रोना, कराहना, ठण्ढी साँसे लेना, जीते ही अपनी क़ब्रों पर चिराग़ जलाना सब सच है? सब न सही, उनके प्रलापों का क्या थोड़ा सा भी अंश सच है? फिर इस तरह की कविता सैकड़ों वर्ष से होती आरही है। अनेक कवि हो चुके, जिन्होंने इस विषय पर न मालूम क्या क्या लिख डाला है। इस दशा में नये कवि अपनी कविता में नयापन कैसे ला सकते हैं? वही तुक, वही छन्द, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक! इस पर भी लोग पुरानी लकीर को बराबर पीटते जाते हैं। कवित्त, सवैये, घनाक्षरी, दोहे, सोरठे लिखने से बाज़ नहीं आते। नख-सिख, नायिका-भेद, अलङ्कार-शास्त्र पर पुस्तकों पर पुस्तकें लिखते चले जाते हैं। अपनी व्यर्थ, बनावटी बातों से देवी-देवताओं तक को बदनाम करने से नहीं सकुचाते। फल इसका यह हुआ है कि असलियत काफ़ूर हो गई है।

कविता के बिगड़ने और उसकी सीमा परिमित हो जाने से साहित्य

पर भारी आघात होता है। वह बरबाद होजाता है। भाव में दोष आ जाता है। जब कविता की प्रणाली बिगड़ जाती है तब उसका असर सारे ग्रन्थकारों पर पड़ता है। यही क्यों, सर्वसाधारण की बोलचाल तक में कविता के दोष आजाते हैं। जिन शब्दों, जिन भावों, जिन उक्तियों का प्रयोग कवि करते हैं उन्हीं का प्रयोग और लोग भी करने लगते हैं। भाषा और बोलचाल के सम्बन्ध में कवि ही प्रमाण माने जाते हैं। कवियों ही के प्रयुक्त शब्दों और मुहावरों को कोशकार अपने कोशों में रखते हैं। मतलब यह कि भाषा और बोलचाल का बनाना या बिगाड़ना प्रायः कवियों ही के हाथ में रहता है। जिस भाषा के कवि अपनी कविता में बुरे शब्द और बुरे भाव भरते रहते हैं उस भाषा की उन्नति तो होती नहीं, उलटा अवनति होती जाती है।

कविता-प्रणाली के बिगड़ जाने पर यदि कोई नये तरह की स्वाभाविक कविता करने लगता है तो लोग उसकी निन्दा करते हैं। कुछ नासमझ और नादान आदमी कहते हैं यह बड़ी भद्दी कविता है। कुछ कहते हैं यह कविता ही नहीं। कुछ कहते हैं कि यह कविता तो "छन्दः प्रभाकर" में दिये गये लक्षणों से च्युत है, अतएव यह निर्दोष नहीं। बात यह है कि वे जिसे अब तक कविता कहते आये हैं वही उनकी समझ में कविता है और सब कोरी काँव काँव ! इसी तरह की नुक़्ताचीनी से तङ्ग आकर अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने अपनी कविता को सम्बोधन करके उसकी सान्त्वना की है। वह कहता है—"कविते ? यह बेक़दरी का ज़माना है। लोगों के चित्त का तेरी तरफ़ खिँचना तो दूर रहा, उल्टा सब कहीं तेरी निन्दा होती है। तेरी बदौलत सभा-समाजों और जलसों

में मुझे लज्जित होना पड़ता है। पर जब मैं अकेला होता हूँ तब तुझ पर मैं घमण्ड करता हूँ। याद रख, तेरी उत्पत्ति स्वाभाविक है जो लोग अपने प्राकृतिक बल पर भरोसा रखते हैं वे निर्धन होकर भी आनन्द से रह सकते हैं। पर अप्राकृतिक बल पर किया गया गर्व कुछ दिन बाद ज़रूर चूर्ण होजाता है।" गोल्डस्मिथ ने इस विषय पर बहुत कुछ कहा है। इससे प्रकट है कि नई कविता-प्रणाली पर भृकुटी टेढ़ी करने वाले कवि-प्रकाण्डों के कहने की कुछ भी परवा न करके अपने स्वीकृत पथ से ज़रा भी इधर उधर होना उचित नहीं।

आजकल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज़ समझ रक्खा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य में वही भेद है जो 'पोयटरी' (Poetry) और 'वर्स' (Verse) में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरञ्जक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है, और नियमानुसार तुली हुई सतरों का पद्य है। जिस पद्य के पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता वह कविता नहीं। वह नपी तुली शब्द-स्थापना मात्र है। गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है। तुकबन्दी और अनुप्रास कविता के लिए अपरिहार्य नहीं, संस्कृत का प्रायः सारा पद्य-समूह बिना तुकबन्दी का है। और संस्कृत से बढ़ कर कविता शायद ही किसी भाषा में हो। अरब में भी सैकड़ों अच्छे अच्छे कवि हो गये हैं। वहाँ भी शुरू शुरू में तुकबन्दी का बिल्कुल ख़याल नहीं था। अँगरेज़ी में भी अनुप्रासहीन बेतुकी कविता होती है। हाँ, एक बात ज़रूर है कि वज़न और क़ाफ़िये

से कविता अधिक चित्ताकर्षक होजाती है।* पर कविता के लिए ऐसी ये बातें हैं जैसे कि शरीर के लिए वस्त्राभरण। यदि कविता का प्रधान धर्म मनोरञ्जकता और प्रभावोत्पादकता उसमें न हो तो इनका होना निष्फल समझना चाहिए। पद्य के लिए क़ाफ़िये वग़ैरह की ज़रूरत है, कविता के लिए नहीं। कविता के लिए तो ये बातें एक प्रकार से उलटा हानिकारक हैं। तुले हुए शब्दों में कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि ढूँढने से कवियों के विचार-स्वातन्त्र्य में बड़ी बाधा आती है। पद्य के नियम कवि के लिए एक प्रकार की बेड़ियाँ हैं। उनसे जकड़ जाने से कवियों को अपने स्वाभाविक उड्डान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कवि का काम है कि वह अपने मनोभावों को स्वाधीनता-पूर्वक प्रकट करे। पर क़ाफ़िया और वज़न उसकी स्वाधीनता में विघ्न डालते हैं। उसे अपने भावों को वे स्वतन्त्रता से नहीं प्रकट होने देते। क़ाफ़िये और वज़न को पहले ढूँढ़ कर कवि को अपने मनोभाव तदनुकूल गढ़ने पड़ते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि प्रधान बात अप्रधानता को प्राप्त हो जाती है। और एक बहुत ही गौण बात प्रधानता के आसन पर जा बैठती है। फल यह होता है कि कवि की कविता का असर कम हो जाता है।

जो बात एक असाधारण और निराले ढँग से शब्दों के द्वारा इस तरह प्रकट की जाय, कि सुनने वालों पर उसका कुछ न कुछ असर ज़रूर पड़े, उसका नाम कविता है। आज कल हिन्दी के पद्य-रचयिताओं में कुछ ऐसे भी हैं जो अपने पद्यों को कालिदास, होमर और बाइरन की

---

*Oscar Wilde तुकबंदी को 'A Spiritual element of thought and passion' कहता है। —सम्पादक

कविता से भी बढ़कर समझते हैं। कोई सम्पादक के ख़िलाफ़ नाटक प्रहसन और व्यङ्गपूर्ण लेख प्रकाशित करके अपने जी की जलन शान्त करते हैं।

कवि का सबसे बड़ा गुण नई नई बातों का सूझना है। उसके लिए इमैजिनेशन (imagination) की बड़ी ज़रूरत है। जिसमें जितनी ही अधिक यह शक्ति होगी वह उतनी ही अच्छी कविता कर सकेगा। कविता के लिए उपज चाहिए। नये नये भावों की उपज जिसके हृदय में नहीं होती वह कभी अच्छी कविता नहीं कर सकता। ये बातें प्रतिभा की बदौलत होती हैं, इस लिए संस्कृत वालों ने प्रतिभा को प्रधानता दी है। प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है, अभ्यास से वह नहीं प्राप्त होती। इस शक्ति को कवि माँ के पेट से ले कर पैदा होता है। उसी की बदौलत वह भूत और भविष्यत् को हस्तामलकवत् देखता है। वर्तमान की तो कोई बात ही नहीं। इसी की कृपा से वह सांसारिक बातों को एक अजीब निराले ढँग से बयान करता है, जिसे सुनकर सुनने वाले के हृदयोदधि में नाना प्रकार के सुख, दुःख, आश्चर्य आदि विकारों की लहरें उठने लगती हैं। कवि कभी कभी ऐसी अद्भुत बातें कह देते हैं कि जो कवि नहीं हैं उनकी पहुँच वहाँ तक कभी हो ही नहीं सकती।

कवि का काम है कि वह प्रकृति-विकास को ख़ूब ध्यान से देखे। प्रकृति की लीला का कोई ओर-छोर नहीं। वह अनन्त है। प्रकृति अद्भुत अद्भुत खेल खेला करती है। एक छोटे से फूल में वह अजीब अजीब कौशल दिखलाती है। वे साधारण आदमियों के ध्यान में नहीं आते। वे उनको समझ नहीं सकते, पर कवि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से प्रकृति के

कौशल अच्छी तरह से देख लेता है, उनका वर्णन भी वह करता है, उनसे नाना प्रकार की शिक्षा भी ग्रहण करता है और अपनी कविता के द्वारा संसार को लाभ पहुँचाता है। जिस कवि में प्राकृतिक दृश्य और प्रकृति के कौशल देखने और समझने का जितना ही अधिक ज्ञान होता है वह उतना ही बड़ा कवि भी होता है। प्रकृति-पर्यालोचना के सिवा कवि को मानव-स्वभाव की आलोचना का भी अभ्यास करना चाहिए। मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार के सुख दुःख आदि का अनुभव करता है। उसकी दशा कभी एक सी नहीं रहती। अनेक प्रकार के विकार-तरंग उसके मनमें उठा ही करते हैं। इन विकारों की जाँच, ज्ञान और अनुभव करना सबका काम नहीं। केवल कवि ही इनके अनुभव कराने में समर्थ होता है। जिसे कभी पुत्र-शोक नहीं हुआ उसे उस शोक का यथार्थ ज्ञान होना सम्भव नहीं। पर यदि वह कवि है तो वह पुत्र-शोकाकुल पिता या माता की आत्मा में प्रवेश सा करके उसका अनुभव कर लेता है। उस अनुभव का वह इस तरह वर्णन करता है कि सुनने वाला तन्मनस्क होकर उस दुःख से अभिभूत होजाता है। उसे ऐसा मालूम होने लगता है कि स्वयं उसी पर वह दुःख पड़ रहा है। जिस कवि को मनोविकारों और प्राकृतिक बातों का यथेष्ट ज्ञान नहीं होता वह कदापि अच्छा कवि नहीं हो सकता।

कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उचित शब्दस्थापना की भी बड़ी ज़रूरत है। किसी मनोविकार या दृश्य के वर्णन में ढूँढ़ ढूँढ़ कर ऐसे शब्द रखने चाहिए जो सुनने वालों की आँखों के सामने वर्ण्यविषय का एक चित्र सा खींच दें। मनोभाव चाहे कैसा ही अच्छा

क्यों न हो, यदि वह तदनुकूल शब्दों में न प्रकट किया गया, तो उसका असर यदि जाता नहीं रहता तो कम ज़रूर हो जाता है। इसी लिए कवि को चुन चुन कर ऐसे शब्द रखना चाहिए, और इस क्रम से रखना चाहिए, जिससे उसके मन का भाव पूरे तौर पर व्यक्त हो जाय। उसमें कसर न पड़े। मनोभाव शब्दों ही द्वारा व्यक्त होता है। अतएव सयुक्तिक शब्दस्थापना के बिना कवि की कविता तादृश हृदयहारिणी नहीं हो सकती। जो कवि अच्छी शब्दस्थापना करना नहीं जानता, अथवा यों कहिए कि जिसके पास काफ़ी शब्द समूह नहीं है, उसे कविता करने का परिश्रम ही न करना चाहिए। जो सुकवि हैं उन्हें एक एक शब्द की योग्यता ज्ञात रहती है। वे ख़ूब जानते हैं कि किस शब्द में क्या प्रभाव है। अतएव जिस शब्द में उनका भाव प्रकट करने की एक बाल भर भी कमी होती है उसका वे कभी प्रयोग नहीं करते।

अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कविता के तीन गुण वर्णन किये हैं। उनकी राय है कि कविता सादी हो, जोश से भरी हो, और असलियत से गिरी हुई न हो। *सादगी से यह मतलब नहीं कि सिर्फ़ शब्द-समूह ही सादा हो, किन्तु विचार-परम्परा भी सादी हो। भाव और विचार ऐसे सूक्ष्म और छिपे हुए न हों कि उनका मतलब समझ में न आवे, या देर से समझ में आवे। यदि कविता में कोई ध्वनि हो तो इतनी दूर की न हो जो उसे समझने में गहरे विचार की ज़रूरत हो। कविता पढ़ने या सुनने वाले को ऐसी साफ़ सुथरी सड़क मिलनी चाहिए

* "Poetry should be simple, sensuous and impassioned."

जिस पर कंकर, पत्थर, टीले, ख़न्दक काँटे और झाड़ियों का नाम न हो। वह ख़ूब साफ़ और हमवार हो जिससे उस पर चलने वाला आराम से चला जाय। जिस तरह सड़क ज़रा भी ऊँची नीची होने से पैरगाड़ी के सवार को हचके लगते हैं उसी तरह कविता की सड़क यदि थोड़ी सी नाहमवार हुई तो पढ़ने वाले के हृदय पर धक्का लगे बिना नहीं रहता। कवितारूपी सड़क के इधर उधर स्वच्छ पानी के नदी नाले बहते हों; दोनों तरफ़ फलों फूलों से लदे हुए पेड़ हों; जगह जगह पर विश्राम करने योग्य स्थान बने हों; प्राकृतिक दृश्यों की नई नई झाँकियाँ आँखों को लुभाती हों। दुनिया में आज तक जितने अच्छे अच्छे कवि हुए हैं उनकी कविता ऐसी ही देखी गई है। अटपटे भाव और अटपटे शब्द प्रयोग करने वाले कवियों की कभी क़द्र नहीं हुई। यदि कभी किसी की कुछ हुई भी है तो थोड़े ही दिन तक। ऐसे कवि विस्मृति के अन्धकार में ऐसे छिप गये हैं कि इस समय उनका कोई नाम तक नहीं जानता। एक मात्र सूखा शब्दझङ्कार ही जिन कवियों की करामात है उन्हें चाहिए कि वे एकदम ही बोलना बन्द करदें।*

---

*इस प्रकार के कवियों के लिए अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध लेखक कारलाइल (Carlyle) की शिक्षा ध्यान देने योग्य है:—"Why sing your bits of thought, if you can contrive to speak them? By your thought, not by your mode of delivering it, you must live or die." तथा, 'भाव अनूठे चाहिए, भाषा कैसिउ होय।' (भिखारीदास)

—सम्पादक

भाव चाहे कैसा ही ऊँचा क्यों न हो, पेचीदा न होना चाहिए। वह ऐसे शब्दों के द्वारा प्रकट किया जाना चाहिए जिनसे सब लोग परिचित हों। क्योंकि कविता की भाषा बोलचाल से जितनी ही अधिक दूर जा पड़ती है उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोलचाल से मतलब उस भाषा से है जिसे ख़ास और आम सब बोलते हैं, विद्वान् और अविद्वान् दोनों जिसे काम में लाते हैं। इसी तरह कवि को मुहावरे का भी ख़्याल रखना चाहिए। जो मुहावरा सर्वसम्मत है वही प्रयोग करना चाहिए। हिन्दी और उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गये हैं। वे यदि बोलचाल के हैं तो उनका प्रयोग सदोष नहीं माना जा सकता। उन्हें त्याज्य नहीं समझना चाहिए। कोई कोई ऐसे शब्दों को मूलरूप में लिखना ही सही समझते हैं। पर यह उनकी भूल है।

असलियत से यह मतलब नहीं कि कविता एक प्रकार का इतिहास समझा जाय और हर बात में सचाई का ख़्याल रक्खा जाय। यह नहीं कि सचाई की कसौटी पर कसने पर यदि कुछ भी कसर मालूम हो तो कविता का कवितापन जाता रहे। असलियत से सिर्फ़ इतना ही मतलब है कि कविता बेबुनियाद न हो। उसमें जो उक्ति हो वह मानवी मनोविकारों और और प्राकृतिक नियमों के आधार पर कही गई हो। स्वाभाविकता से उसका लगाव न छूटा हो। कवि यदि अपनी या और किसी की तारीफ़ करने लगे और यदि वह उसे सचमुच ही सच समझे, अर्थात् यदि उसकी भावना वैसी ही हो, तो वह भी असलियत से ख़ाली नहीं, फिर चाहे और लोग उसे उसका उलटा ही क्यों न समझते हों।

परन्तु इन बातों में भी स्वाभाविकता से दूर न जाना चाहिए।

क्योंकि स्वाभाविक अर्थात् नेचुरल (Natural) उक्तियाँ ही सुननेवाले के हृदय पर असर कर सकतीं हैं। अस्वाभाविक नहीं। असलियत को लिये हुए कवि स्वतंत्रतापूर्वक जो चाहे कह सकता है। असल बात को एक नये साँचे में ढालकर कुछ दूर तक इधर उधर की उड़ान भी कर सकता है, पर असलियत के लगाव को वह नहीं छोड़ता। असलियत को हाथ से जाने देना मानो कविता को प्रायः निर्जीव कर डालना है। शब्द और अर्थ दोनों ही के सम्बन्ध में उसे स्वाभाविकता का अनुधावन करना चाहिए। जिस बात के कहने में लोग स्वाभाविक रीति पर जैसे और जिस क्रम से शब्द प्रयोग करते हैं वैसे ही कवि को भी करना चाहिए। कविता में उसे कोई बात ऐसी न कहनी चाहिए जो दुनिया में न होती हो। जो बातें हमेशा हुआ करती हैं अथवा जिन बातों का होना सम्भव है, वही स्वाभाविक हैं। अर्थ की स्वाभाविकता से मतलब ऐसी ही बातों से है। जोश से यह मतलब है कि कवि जो कुछ कहे इस तरह कहे मानो उसके प्रयुक्त शब्द आप ही आप उसके मुँह से निकल गये हैं। उनसे बनावट न ज़ाहिर हो। यह न मालूम हो कि कवि ने कोशिश करके यह बातें कही हैं किन्तु यह मालूम हो कि उसके हृद्गत भावों ने कविता के रूप में अपने प्रकट कराने के लिए उसे विवश किया है। जो कवि है उसमें जोश स्वाभाविक होता है। वर्ण्यवस्तु को देख कर, किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से; वह उस पर कविता करने के लिए विवश सा हो जाता है। उसमें एक अलौकिक शक्ति पैदा होजाती है। इसी शक्ति के बल से वह सजीव ही नहीं, निर्जीव चीज़ों तक का वर्णन ऐसे प्रभावोत्पादक ढँग से करता है कि यदि उन चीज़ों में बोलने की शक्ति

होती तो .खुद वे भी उनसे अच्छा वर्णन न कर सकतीं । जोश से यह भी मतलब नहीं कि कविता के शब्द .खूब ज़ोरदार और जोशीले हों। सम्भव है शब्द ज़ोरदार न हों पर जोश उनमें छिपा हुआ हो। धीमे शब्दों में भी जोश रह सकता है और पढ़ने या सुनने वाले के हृदय पर चोट कर सकता है। परन्तु ऐसे शब्दों का कहना ऐसे वैसे कवि का काम नहीं। जो लोग मीठी छुरी से तलवार का काम लेना जानते हैं वही धीमे शब्दों में जोश भर सकते हैं।

सादगी, असलियत और जोश, यदि यह तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या है। परन्तु बहुधा अच्छी कविता में भी इनमें से एक आध गुण की कमी पाई जाती है। कभी कभी देखा जाता है कि कविता में केवल जोश रहता है सादगी और असलियत नहीं। परन्तु बिना असलियत के जोश का होना बहुत कठिन है। अतएव कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए।

अच्छी कविता की सबसे बड़ी परीक्षा यह है कि उसे सुनते ही लोग बोल उठें कि सच कहा है। वही कवि सच्चे कवि हैं जिनकी कविता सुन कर लोगों के मुँह से सहसा यह उक्ति निकलती है। ऐसे कवि धन्य हैं। और जिस देश में ऐसे कवि पैदा होते हैं वह देश भी धन्य है। ऐसे ही कवियों की कविता चिरकाल तक जीवित रहती है।

पं० अम्बिकादत्त व्यास

[१८५८–१६००]

—:०:—

पं० अम्बिकादत्त व्यास का गद्य बड़े घरेलू ढँग का है। संस्कृत के विद्वान् होते हुए हिन्दी लिखते समय अपनी विद्वत्ता को छिपा लेना वे ख़ूब जानते थे। सबब इसका यह हो सकता है कि व्यास जी अपने ज़माने के धार्मिक विवादों के भाव से अच्छी तरह व्याप्त थे। स्वयं विश्वास से वे सनातनधर्म के कट्टर पक्षपाती थे और उसके सिद्धान्तों की पुष्टि में कितनी ही वक्तृतायें भी हुई थीं। अतः एक प्रचारक की हैसियत से उन्हें आवश्यकतानुसार अपने मत के समर्थन में जनता के सम्मुख व्याख्यान देते समय तथा पैम्फ़लेटों के रूप में लिखने में कई भाषाओं के शब्द तथा मुहावरे काम में लाने पड़ते थे। अतएव अपनी बातों को प्रभावपूर्ण रीति से चुभीली भाषा में व्यक्त करने के लिए उपदेशक की भाँति उन्हें निरी संस्कृत का प्रयोग करना ठीक न था। इसी से व्यास जी की भाषा बड़ी सीधी-सादी होती थी। पर, उसमें सामयिक लोकोक्तियों तथा पद्य–पंक्तियों की ख़ूब छटा रहती थी।

उनके गद्य में तर्क भी बहुत रहता है। किसी बात की

मीमांसा करने में अथवा उस पर प्रमाण देकर बहस करने में वे बड़े प्रवीण थे। इसका पता उनकी उस वक्तृता में मिलता है जो उन्होंने 'मूर्तिपूजा' पर दी थी, और जिसका कुछ अंश आगे संकलित किया गया है।

यह स्मरण रखने योग्य है कि उनकी तार्किक बातें कभी शुष्क नहीं प्रतीत होतीं। इसका कारण यह है कि व्यास जी का अधिकार बड़ी रोचक शैली पर था, जो 'मूर्तिपूजा' से गहन विषयों पर विवाद करते समय भी उनकी युक्तियुक्त बातों को मनोरञ्जक बनाये रहती है।

फिर भी व्यासजी के गद्य में वाग्विस्तर बहुत है। पर यह गुण या अवगुण उस समय के अधिकांश लेखकों में मौजूद था। वह और कुछ नहीं है, केवल तत्कालीन धार्मिक उपदेशकों की वावदूकता का प्रतिविम्ब है।

व्यास जी ने कई एक स्फुट निबन्ध भी लिखे हैं, जैसे- 'नगर और ग्राम'। उनकी भाषा में तो सादगी की हद होगई है। पर तब भी उसमें स्वाभाविकता और विशदता है।

अन्त में, पं० अम्बिकादत्त व्यास को उस तरह के लेखकों की कक्षा में रखना चाहिए जिन्होंने यह साबित कर दिया है कि सीधी-सादी भाषा में बिना ऊँची उड़ान लेने का प्रयत्न किये भी बड़ा विशद और रोचक गद्य लिखा जा सकता है।

ज्ञान और भक्ति का सम्बन्ध

नास्तिकों को भक्ति का उपदेश नहीं हो सकता इस लिए पहिले उनको आस्तिक बनाना आवश्यक है सो इसी महाव्यापार में शङ्कराचार्य जी का प्रधान समय गया। परन्तु ऐसे भारी वेदान्ती होकर भी वे आप कैसे भक्त पुरुष थे कि जिस मोक्ष के पाने के लिए भयानक ज्ञान में टक्कर खाना बड़ी दाँत खटाखट से सिद्ध कर गये; आप उसी मोक्ष का अस्वीकार कर भक्ति माँगने लगे। यह उन्हीं का किया स्तव है "न मोक्षस्याकांक्षा ....जननं यातु मम वै भवानी रुद्राणी शिव शिव मृडानीति जपतः।" वे कहते हैं कि हमें मोक्षादि कोई सुख नहीं चाहिए, हमतो जब तक जियें बस शिव शिव भवानी भवानी कहते रहैं। और देखिये वे अपनी षट्पदी में क्या कहते हैं "दामोदर गुणमन्दिर सुन्दर वदनारविन्द गोविन्द। भवजलधिमथनमन्दिर परम दरमपनय त्वं मे।" कहते हैं कि "हे दामोदर, (यह पद उलूखलबन्ध सम्बन्धी है) हे गुण के मन्दिर (अर्थात् सब गुण सहित) हे सुन्दर मुख कमल वाले, हे गोविन्द, (यह पद गोवर्द्धनोद्धार की कथा सूचक है) हे संसार समुद्र के मथन करने को मन्दराचल सदृश, मेरा महाभय मिटाइये।" देखिये स्वयं शङ्कराचार्य ने इतना निर्गुण निरूपण किया और "नेह नानास्ति" कह कह जगत् को मिथ्या सिद्ध कर केवल ब्रह्मानन्द की तरंगों से जगत् को तरंगित और प्लावित किया पर उन का अपना भय इस किसी जंजाल से भी न गया और दामोदर के आगे हाथ जोड़ के रोना ही पड़ा और कहना ही पड़ा कि "परमेश्वर प्रतिपाल्यो भवता भवतापभीतोऽहम्।" कौन कहता है कि श्रीशङ्कराचार्य सगुणोपासक न थे, और परम भक्त पुरुष

न थे किन्तु केवल शुष्कज्ञानी थे ? उनके सौन्दर्यलहरी, आनन्दमञ्जरी षट्पदी, चर्पटी आदि ग्रन्थ देखने से भक्ति और सगुणोपासना टपकती सी देख पड़ती है । अब हम इस पर बल नहीं देना चाहते कि वे अपने घर में शालग्राम अथवा नर्मदेश्वर रखते थे कि नहीं हमारे श्रोता स्वयं समझ लेंगे कि जब वे ऐसे साकार सगुण कृष्ण, काली, शिव, भवानी के सेवक थे तो वे मूर्तिपूजा को अपने अनुकूल समझते होंगे कि प्रतिकूल ?

यदि कोई बड़े ही अवितर्कित शक्ति वाले प्रबल महात्मा हों और वे ऐसा सामर्थ्य रखते हों कि एक दम ब्रह्मानन्द ही में डूब जाँय और निमग्न हो जाँय तो बाबा ऐसे कोई कोई माई के लाल होंगे उनकी वे जानें !! पर सच पूछिए तो चित्त स्थिर होके परमात्मा में लीन हो जाय और जगत् के जाल को भूल जाय तो उसी में मोक्ष है । जब यही सिद्धान्त है फिर चित्त का स्थिर करना, जगत् को भूलना, और आत्मा में डूबना काम रखता है । यह केवल बकने से नहीं होता इसका करना कठिन है जन्म जन्मान्तर से जिस जगत् के विषय जाल में डूबे हैं क्या उसे निर्गुनिया लोगों के कहने ही से झट भूल जायँ ! अच्छा एक बात इसी समय न देख लीजिये आप लोग कृपाकर सोचिये कि एक बड़ा भारी तालाब है—और उस के चारों ओर पक्का घाट बँधा है उसी के ठीक मध्य में एक वटवृक्ष है उस वृक्ष की पल्लवित घनी शाखायें ऐसी फैली हैं कि चारों ओर की सीढ़ियों पर कुञ्ज भवन की सी शोभा हो रही है—इसको एक मिनट में सब कोई चित्त में जमा लीजिए—अच्छा अब मेरा निवेदन यही है कि इसे सब कोई भूल जाइये—यह अवश्य मिथ्या है आप ही लोगों का मान लिया हुआ है । भूल जाइयो—क्या साहब "जगत् मिथ्या

है" यह अभ्यास कर यदि जगत् को भूल जाना भी सम्भव है तो फिर क्या हुआ यह तालाब मिथ्या है यह वट मिथ्या है यों अभ्यास कर इसे भूल जाइये—अच्छा कुछ दिन की छुट्टी ले लीजिए प्रतिदिन एक घण्टे यही रगड़न्त करते रहिए और जब भूल जाइए तो हमें सूचित कीजिएगा। देखिए मान भी लिया जाय कि सचमुच जगत् मिथ्या है तो यह अभ्यास सहज में जा सकता है!

कभी कभी लोगों को दिग्भ्रम हो जाता है तो लोग समझते हैं कि दक्खिन को सूर्योदय हो रहा है तब एक बेर तो चकमकाते हैं कि यह क्या हो गया हम जिसे दक्खिन समझते हैं उधर सूर्य का चक्का कहाँ से आ गया, फिर निश्चय करते हैं कि सूर्य तो क्या पूर्व छोड़ दक्खिन जायगा यह हमारे ही नेत्र कमलों की महिमा है कि हम पूर्व को दक्खिन समझते हैं। यह सर्वथा हमारा भ्रम है। परन्तु देखिए तो कैसी आश्चर्य की बात है कि यह निश्चय होने पर भी ऊपर ऊपर से तो लोग समझ लेते हैं कि यही पूर्व है पर भीतर से धड़का नहीं जाता।

कहिए तो इसका क्या कारण है? भ्रम हुए बड़ी देर नहीं हुई इस भ्रम के स्थिर रहने की कोई प्रबल सामग्री नहीं है! इस भ्रम की हटाने की सामग्री में सूर्य नारायण ही चमचमाती किरणों के जाल से अन्धकार हटाते सामने विद्यमान हैं। सहस्रों इष्टमित्र ताली दे हँसते हैं कि "हो हो हो पूर्व को दक्खिन कहते हैं!" स्वयं भी जानते हैं कि "यस्यामुदेति सविता किल सैव पूर्वा" यह भी निश्चय किये बैठे हैं निःसन्देह हमारा ही भ्रम है! पर तो भी वह खटका जी के बाहर नहीं होता!! यह क्षण मात्र का भ्रम भूत सा सिर पर चढ़ गया कि कितने ही छन्द बन्ध

कीजिए पर उससे छुटकारा नहीं ! अब सन्धयापूजा आदि के समय बड़े सोच विचार से पूर्व मुख बैठते हैं पर न जानें कौन तो कान में सनसनाता है पर यह पूर्व तो नहीं जान पड़ता !! – कहिए तो यह भ्रम की वासना हृदय से क्यों नहीं निकल जाती । अब आप ही लोग सोचिये तो, जब इस छोटे से भ्रम को हम लोग देखते हैं कि कितना उपाय करने से भी उम्र भर साथ जाता है तो जो अनादि वासना से बन्ध हो रहा है, जिस भ्रम का आरम्भ समय जानना परम कठिन है जिस भ्रम के विद्यमान रखने की कोटि कोटि दुर्वासनायें प्रत्यक्ष देख पड़ती हैं, और जन्म जन्मान्तर से जिस का अभ्यास चला आता है उसका समूल घात नाश चट पट ही कैसे हो जायगा ? अब कहिए तो यदि कोई "भ्रम दूर होगा ब्रह्मज्ञान हो जायगा और मोक्ष पद मिलैगा" इस मन के मङ्गल ही पर जो सगुणोपासना भी छोड़ छाड़ "घर के न घाट के" हो जाते हैं वे कौन बड़ी बुद्धिमानी प्रगट करते हैं ?

अब देखिये वही वेदान्तियों के सिद्धान्त मूर्ति पूजा द्वारा कैसे सुखपूर्वक सिद्ध होते हैं । जगत् का सम्पर्क छोड़ परमात्मा में एक दम लीन हो जाना बात तो इतनी भी है और इसी के साधने में अहन्ता ममतादि का त्याग है तो जगन्मिथ्या जगन्मिथ्या कहते कहते तो आप लोगों को बतलाया ही जा चुका है कि "पदांगुष्ठशिरोषाग्निः कदा मौलिमवाप्स्यति" और बावा किसी अधिकारी को उसी ढँग से शीघ्र जगत् से असम्पर्क हो और आत्मानुभव हो तो हम उसके लिए कुछ मना भी नहीं करते वह ब्रह्मानन्द में डूबै, पर देखिए तो भक्तों का एक कैसा अद्भुत रस्ता है । जैसे कोई रोगी औषध खाना ही न चाहै और बिना कुपथ्य घी

खाये रहो न सकै तो वैद्य लोग उसी घी को एक स्वतन्त्ररूप बना के उसी में औषध मिला के उसे देते हैं वैसे जब यह जन्म जन्मान्तर का विषयासक्त जीव भव रोग के महौषध स्वरूप परमात्मा में डूबता ही नहीं और परम कुपथ्य ही विषयों को छोड़ता ही नहीं तो क्या युक्ति रक्खी गई है कि कुपथ्य ही में औषध मिला दिया। देखिये जिस जगत् के जाल से जन्मजन्मांतर से फँसा हुआ यह जीव दुःख समुद्र में पड़ रहा है वही जगत् अमृत हो गया। आपके कानों में यदि संगीत ऐसा समा गया है कि सोये सोये भी आप मृदंग की परनैं सुना करते हैं तो हम आपको संगीत से छुड़ाना नहीं चाहते। आप वही संगीत भगवन्मन्दिर में बैठ भगवत्सम्बन्धी भजनों से कीजिए तो आप स्वयं देखैंगे कि चित्त कैसा एकाग्र हो भगवान् में डूब गया है। यह संगीत ही का महात्म्य है कि जिस मन को योगी लोग शरीर के बन्ध बन्ध तोड़ भी शीघ्र वश नहीं कर सकते हैं उसी चंचल मन को संगीत क्षण मात्र में वश करता है। यह संगीत ही का काम है कि सुर ताल में डूबा हुआ बिना अर्थ का "तननतूं" भी जहाँ किसी ने आरम्भ किया कि सुनने वाले काठ होगये और उनी तानों की गमकों के साथ कलेजा हिलने लगा और कहाँ बैठे हैं क्या करते हैं कौन देखता है क्या समय है यह कुछ स्मरण न रहा। अब उसी संगीत में यदि कुछ अर्थ हो तो मन उसी अर्थ में परिपूर्ण डूब जायगा इससे भी कुछ सन्देह नहीं है। यदि इस अर्थ को आपने बुरा रक्खा तो वही अर्थ नरक में वोड़ने वाला हुआ (जैसे तुच्छ ग़ज़लें) और यदि यही अर्थ ज्ञान वैराग्य भक्ति से भरा हुआ भया तो फिर क्या बात है उसी क्षण जगत् को भूल जाइये और उस

परमात्मा के आनन्द में डूबिए। इसका अनुभव दुराग्रह से जटिल नास्तिकाधम को कभी न होगा पर हाँ जो महात्माओं के संग में पड़े हैं और भजनानन्द में डूब चुके हैं वही जानते हैं कि क्या समाधि का भी आनन्द है कि जहाँ किसी ने "मैं प्रभु पतित पावन सुनें, मैं पतित तुम पतित पावन दोऊ बानक बने", "जाऊँ कहां तजि चरन तिहारे", "जाके प्रिय न राम बैदेही" इत्यादि भजन छेड़े कि चित्त एक दम अपना अभिमान छोड़ भगवान् के शरण आता जाता है और अपने दुराचारों का स्मरण कर एक बेर रुलाई सी आ जाती है। अब इस स्वर कलाप में डूब नाद के तन्तु में लटकता हुआ चित्त संसार को तो भूल जाता है और परमात्मा को उसी के अर्थ में पाता है और उसी में रमता है, फिर जिस सगुण मूर्ति को भजन में पाता है उसी को आँख खोल मन्दिर में देखता है, उसी को कथाओं में पाता है, उसी का नाम ले औरों को भी उछलता नाचता देखता है, उसी के नाम रामनामें छपे हैं, उसी की छाप तिलकों में लगी है, उसी की सूचना करने वाली तसवीरें लटक रही हैं, उसी के वर्णन के स्तोत्रों का पाठ हो रहा है, उसी में डुबाने वाले काव्य पढ़े जा रहे हैं, उसी को दीनबन्धुता शरणागत वत्सलता और पतितपावनता रोम रोम में समा रही है, अब ऐसे समय चित्त एकाएकी जगत् से अलग हो उसी प्रेमपीयूष के समुद्र में डूब जाता है। सावन आया तो उसी का उत्सव, भादों में उसी का उत्सव, गर्मी में उसी के मन्दिर में फुहारों की बहार, होली में उसी के उछाह से गुलाल उड़ती है, कातिक में उसी का दिवाली अन्नकूट होता है और माघ में उसी का वसन्तोत्सव होता है। यों मूर्तिपूजा के रंग में मस्त लोगों को सारा बरस उसी परमात्मा के स्मरण

और आनन्द में डूबे बीतता है और सब दिन भी इसी आनन्द में जाता है क्योंकि सबेरे उठते ही तो "प्रातः स्मरामि रघुनाथमुखारविन्दम्" कहते हुए मंगल आरती के दर्शन किये; आहा ! इसका आनन्द उसी को आता है जिसने मथुरा वृन्दाबन आदि स्थानों में मंगल आरती के दर्शन किये हैं। आहा ! इस समय भी स्मरण करने से ऐसा जान पड़ता है कि मानो रात्रि का अन्धकार क्रम से पीछे हट चला है, पूर्व की ओर कुछ कुछ सपेदी आगई है, चिड़ियों ने धीमे धीमे कोमल सुर से कुछ कुछ चकचकाहट आरम्भ की है और ठण्डी ठण्डी हवा चल रही है। और इसी समय नींद खुली है और आँख खोलते ही चट नारायण का नाम ले कुछ आवश्यक कृत्य से निमट जै जै करते मन्दिर की ओर दौड़ पड़े हैं और वहाँ भीड़ की भीड़ जय ध्वनि कर रही है और श्रृंगारित प्रभु की मूर्ति का दर्शन हो रहा है, हम दर्शन तो एक बित्ते भर की मूर्ति का करते हैं पर न जाने क्यों उस समय सर्वव्यापक का साक्षात्कार होता है, हम साधारण वैभव में इन की झाँकी करते हैं पर न जाने क्यों हमारी आँखों के आगे वह वैभव झलक जाता है कि मानों हम उन पुरुषोत्तम में डूबे हैं जिस के एक रोम पर कोटि ब्रह्माण्ड हैं यह कहैं तो थोड़ा हो। हम सैकड़ों खिलौने देखा करते हैं कहने को तो एक वैसी ही मूर्ति हमारे सामने है पर इस मूर्ति ने न जाने क्या जादू और टोना कर दिया है कि ज्यों ज्यों झुक झुक के दर्शन करते हैं त्यों त्यों हृदय उमँगता जाता है और उस परमात्मा के आनन्द के आंसू चले आते हैं। ऐसे ही थोड़ी थोड़ी देर में सिंगार के दर्शन, राजभोग के दर्शन, सन्ध्या आरती, शयन आरती आदि एक पर एक आमोद लगे रहते हैं और सब दिन उसी में बीतता है। और दिन क्या समूचा जीवन उसी आनन्द में बीतता है।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय

[१८६५-   ]

——:०:——

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उपाध्याय जी का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण रहेगा। वर्तमान हिन्दी-कविता की धारा को चिरप्रचलित व्रजभाषा की ओर से हटाकर खड़ी बोली की ओर प्रेरित करने में उपाध्याय जी ने उसी प्रकार का परिवर्तन उपस्थित कर दिया है जिस प्रकार प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ ने अँगरेज़ी कविता में उत्पन्न करने का प्रयत्न किया था। उनके 'लिरिकल् बैलेड्स' (Lyrical ballads) ने एक नये ढँग की कवितायें जनता के सम्मुख रक्खी थीं, जिनकी भाषा में अभूतपूर्व सारल्य था और जो सबके लिए समान-रूप में सुबोध थीं।

उपाध्याय जी ने 'प्रियप्रवास' नामक भिन्नतुकान्त महा-काव्य उसी खड़ी बोली के परिष्कृत रूप में लिखकर हिन्दी-कविता में एक असाधारण उथल-पुथल मचा दी थी। इसके सिवाय 'तिनका', 'आँसू' ऐसे साधारण विषयों पर भाव-पूर्ण कविता बनाकर उन्होंने इस बात का निराकरण कर दिया है कि किसी समय की बोल-चाल की भाषा में उच्चकोटि के

काव्य-साहित्य का निर्माण नहीं किया जा सकता।

इससे अधिक यहाँ पर उपाध्याय जी के कविता-विषयक कार्य पर कहना अप्रासंगिक होगा। अब उनके गद्य के सम्बन्ध में विचार करना है। अयोध्यासिंह जी ने हिन्दी-गद्य के उन्नयन में यद्यपि उतना युगपरिवर्तनकारी काम नहीं किया जितना कि कविता के लिए किया है, तथापि उनकी गणना अपने समय के थोड़े से मननशील गद्य-लेखकों में रहेगी। गद्य पर उन्होंने केवल कोरा विचार हो नहीं किया है, किन्तु उत्पन्न हुई तत्कालीन कई तरंगों का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करके उन्होंने अपने विचारों का निदर्शन 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' तथा 'अधखिला फूल' आदि पुस्तकों के द्वारा किया है।

१९वीं शताब्दी के पूर्व काल में जब उर्दू और हिन्दी दोनों के आधुनिक गद्य-साहित्य की नींव रक्खी जा रही थी, तब तक उन दोनों के शब्द-कोशों पर फ़ारसी और संस्कृत का प्रबल आक्रमण होना शुरू नहीं हुआ था। यही नहीं, हिन्दी और उर्दू का पारस्परिक साम्य बहुत अंश में अक्षुण्ण बना था। हाँ, यह बात ही और थी कि फ़ारसी-लिपि का अधिक प्रचार होने लगा था। यहाँ तक कि उस समय की बहुत सी हिन्दी पोथियाँ, जैसे मुंशी सदासुखलाल-कृत 'सुखसागर', फ़ारसी-लिपि में ही लिखी जाने लगी थीं।

बाद को राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिंह और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के उद्योग से देवनागरी अक्षरों का पुनरुज्जीवन

हुआ, परन्तु हिन्दी में फिर भी उर्दू की पूरी छाया थी। राजा शिवप्रसाद से कुछ उर्दू प्रेमियों ने जान-बूझ कर वह उर्दू का प्रभाव हिन्दी में रख छोड़ा।

कालान्तर में आर्यसमाज के प्रोत्साहन से संस्कृत की ख़ासी धूम मची। धार्मिक खंडन-मंडन के जोश में आकर असंख्य पंडितों ने सनातनधर्म अथवा आर्यसमाज के सिद्धान्तों का सर्वसाधारण में प्रचार करने की दृष्टि से तथा अपने अपने दल की ओर उनकी सहानुभूति उत्पन्न करने के लिए हिन्दी में काफ़ी पर्चे निकाले। इस प्रकार संस्कृत-पंडितों ने हिन्दी को धीरे धीरे अदृश्यरूप से संस्कृतमय बना डाला। अन्त में देखा देखी संस्कृत-शैली के अनुयायी बहुत से हिन्दी-लेखक पैदा हो गये।

हिन्दी-गद्य की इस संस्कृतमयता का नियमन भारतेन्दु की व्रजभाषा तथा पं० प्रतापनारायण मिश्र की ग्रामीण शब्दावली के द्वारा हुआ। भारतेन्दु ने

"अरे, आज किस बैरी की छाती ठंडी भई ? अरे, बड़े बड़े जोतसी गुनी लोग तो कहते थे कि तुम्हारा बेटा बड़ा प्रतापी होगा।"

इस प्रकार के व्रजभाषा के शब्दों को अपने गद्य में स्थान देकर संस्कृत की उमड़ती हुई बाढ़ को हिन्दी में आने से रोकने का प्रयत्न किया। इसी तरह पं० प्रतापनारायण ने "राम राम क्या मनहूसी की बात निकाल बैठे ? सियारों के

मुँह कहीं मंगल निकलते हैं ? न सूझै न बूझै मुँह में आया सो बके सिद्ध" इस प्रकार की गँवारू बोल-चाल की भाषा का व्यवहार करके अपने समय के साहित्य को संस्कृत के फन्दे में फँसने से बचाया।

इसी स्थान पर पं० अयोध्यासिंह जी उपाध्याय का नाम भी उल्लेख्य है। उन्होंने संस्कृत की प्रबल बाढ़ से हिन्दी की रक्षा एक विशेष युक्ति से की। उन्होंने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' ये दो उपन्यास बिलकुल बोल-चाल की भाषा में लिख कर तैयार किये। जहाँ तक सम्भव था उन्होंने संस्कृत शब्दों के शुद्ध रूपों के बदले में उनके तद्रूप अपभ्रंश शब्दों का ही प्रयोग किया। इसके सिवाय देहाती मुहावरों का पूरा समावेश किया। यही बात है कि जिससे उन दोनों 'ठेठ हिन्दी' में लिखी हुई पुस्तकों का गद्य बड़ा सुन्दर है, और अन्तर्गत जो वर्णन-स्थल हैं वे भी अत्यन्त हृदयग्राही हैं।

उस ठेठ भाषा के विषय में एक बात यह है कि यद्यपि यह बोल-चाल से ली गई है, तथापि उसमें निरी ग्रामीणता का कहीं भी लेश-मात्र नहीं है। पं० प्रतापनारायण मिश्र जिस प्रकार की गँवारू भाषा प्रायः अपने लेखों में लिखा करते थे, वह न तो 'ठेठ' में और न 'अधखिला फूल' में ही मिलेगी। जैसा कि उपाध्याय जी भूमिका में स्वयं 'कहानी ठेठ हिन्दी' के लेखक के शब्द उद्धृत करते हैं; "ठेठ-भाषा वह है जो शिक्षित लोग आपस में बोलते चालते हैं। भाषा वैसी

हो हो, गँवारी न होने पावै।"

'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' दोनों की भाषा उपर्युक्त कसौटी पर बहुत कुछ ठीक उतरती है।

इतना ज़रूर है कि उस प्रकार की ठेठ भाषा में अपभ्रंश संस्कृत–शब्दों के साथ साथ यत्र-तत्र ब्रजभाषा तथा प्रान्तीय बोलियों के भी शब्द आ गये हैं। वैसे तो 'अधलिखा फूल' की भूमिका में उपाध्याय जी कह चुके हैं कि संस्कृत के अत्यधिक आश्रय से बचने के लिए ब्रजभाषा तथा बोल–चाल दोनों से बेरोक-टोक हमें शब्द लेने पड़ेंगे। अन्यथा, उर्दू से ऋण लेने पर विवश होना पड़ेगा। अस्तु। 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' से जो अवतरण संग्रह में दिया गया है उसकी शब्दावली में कुछ बातें उल्लेख्य हैं। साधारण प्रतिदिन के जीवन के भावों को व्यक्त करने के लिए जिन शब्दों तथा मुहावरों का प्रयोग किया गया है उन्हें अनपढ़ के अनपढ़ श्रोता भी बिना किसी मानसिक श्रम के सहज में समझ सकता है, परन्तु इससे यह समझ लेना कि उस प्रकार की 'ठेठ भाषा' में लिखी हुई पुस्तक का गद्य सर्वांश में आडम्बररहित है, सर्वथा भ्रमपूर्ण है। प्रत्युत 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' की भाषा कई स्थानों पर ऊँची उड़ानें लेती है। उदाहरणार्थ तेरहवें 'ठाठ' के प्रारम्भ में जिससे प्रस्तुत संकलन किया गया है, प्रकृति के ताटस्थ्य के वर्णन करने के ढँग में बड़ी सजीवता दिखाई गई है जो साधारण बोल–चाल में नहीं रहती।

अस्तु 'ठाठ' की भाषा में शाब्दिक सारल्य के साथ साथ प्रभावोत्पादिनी शक्ति भी कहीं कहीं काफ़ी है ।

पर कुछ जगहों पर घरेलूपन भी है, जैसे :—

"पीछे किरिया करम का झमेला हुआ, दूसरे काम-काज का झंझट हुई ।"

वास्तव में ठेठ भाषा में दो अपने ढंग के उत्तम उपन्यासों को निश्चित उद्देश्य से लिखकर उपाध्याय जी ने यह सिद्ध कर दिया हैं कि बिना खरे संस्कृत शब्दों अथवा उत्कृष्ट उर्दू की पदावली का सहारा लिये ही बोल-चाल की भाषा में सजीव से सजीव गद्य लिखा जा सकता है । तात्पर्य यह है, कि उन्होंने सदा के लिए हिन्दी-गद्य को बोल-चाल की ओर प्रेरित किया ।

इस विषय में वे कह भी चुके हैं कि 'किसी भाषा के लिखने की चेष्टा करने पर यथासाध्य उसको उन्हीं शब्दों में लिखना चाहिए जिनमें कि वह बोली जाती होवे — अन्यथा वह उन्नत कदापि न होगी ।'

एवं वाग्धारा और साहित्यिक भाषा के बीच में घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अयोध्यासिंह जी को हिन्दी-गद्य को 'ठेठ भाषा' में ढालने की परीक्षा करनी पड़ी । सम्भव है कि उनके इस प्रयत्न का कुछ न कुछ प्रभाव इधर के लेखकों पर पड़ा हो ।

अब उनकी ठेठ गद्य-शैली को छोड़ कर उनकी वास्तविक

शैली का विवेचन करना है। क्योंकि 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' इन दोनों की भाषा एक ध्येय विशेष से उन्होंने यत्नतः गढ़ ली थी; उससे उनकी स्वाभाविक लेखन-कला का अंदाज़ा नहीं लगता।

गद्य-भाषा के सम्बन्ध में वे अपने विचार स्पष्टरूप में यों व्यक्त कर चुके हैं:—

"शुद्ध संस्कृत-शब्दों के स्थान पर व्यवहृत अपभ्रंश संस्कृत-शब्दों का प्रयोग मैं उससे उत्तम समझता हूँ। 'आँख', 'नाक', 'कान', 'मुँह', 'दूध', 'दही', के स्थान पर लिखने के समय हम इनका शुद्ध रूप 'अक्ष', 'नासिका', 'कर्ण', 'मुख', 'दुग्ध', 'दधि' इत्यादि व्यवहार कर सकते हैं, किन्तु भाषा इससे कर्कश हो जावेगी, जनसाधारण को बोधगम्य न होगी, साथ ही उसका हिन्दीपन लोप हो जावेगा।"

अर्थात् कम से कम सिद्धान्ततः उपाध्याय जी संस्कृत-शब्दों को तभी स्वीकार करेंगे, जब उनके स्थान में बोल-चाल के उपयुक्त अपभ्रंश शब्द न मिलें। उनका मत है, जैसी कि आजकल बहुत लोगों की धारणा हो चली है, यदि हिन्दी का अस्तित्व अलग स्थिर रखना है तो उसे यथासाध्य संस्कृत के व्याकरण और शब्दावली से शुद्ध रखना चाहिए और उसे निर्जीवता से बचाने के लिए बोल-चाल की ओर ही प्रवृत्त करना चाहिए। यदि कोई प्रश्न करे कि क्या सुबोधता के पीछे गम्भीर विषयों के प्रतिपादन करने के लिए जो लेख लिखे

जावें, वे भी उसी प्रकार की 'ठेठ भाषा' में हों ?

उपाध्याय जी का उत्तर यह है कि :—

"यदि कोई वादग्रस्त विषय लिखना होवे, किम्वा कोई गूढ़ मीमांसा करना हो, अथवा मनोभावव्यंजक कोई उपयुक्त शब्द भाषा में न प्राप्त होता होवे तो हम संस्कृत शब्दों से हिन्दी लिखने के समय अवश्य काम ले सकते हैं।"

उनके कथन का सारांश यह है कि यदि किसी लेखक में विषयानुसार शैली को परिवर्तित करने की क्षमता नहीं तो वह लेखक ही कैसा ? जहाँ भाव जटिल हों और उन्हें व्यक्त करने के लिए साधारण शब्द असमर्थ हों, वहाँ संस्कृत का सहारा अवश्य लेना पड़ता है। बस प्रत्येक विचारशील लेखक का केवल यह कर्त्तव्य है कि वह सुगम से सुगम विषय पर भी लिखते समय अच्छे से अच्छे बोल–चाल के शब्दों को छोड़ कर व्यर्थ में संस्कृत के अधीन न हो जाय।

पं० अयोध्यासिंह जी स्वयं प्राय: संस्कृतमय गद्य लिखते हैं। कभी कभी वे बड़े असाधारण क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करते हैं। परन्तु तब भी उनके वाक्यों में वह दुरूहता नहीं होती जो कि पं० श्रीधर पाठक तथा पं० गोविन्दनारायण मिश्र की भाषा में पाई जाती है। उनका वाक्य–विन्यास भी सरल होता है।

क्योंकि वे एक सरसहृदय पुरुष तथा उच्चकोटि के कवि हैं। इसी लिए उन्हें सरस भाषा से प्रेम है। यही कारण है

कि उनके वास्तविक गद्य में संस्कृत–पदावली की अच्छी छटा रहती है। सच्चे कवि की भाँति गद्य लिखते समय भी उनकी भावुकता उन्हें झंकारपूर्ण कोमलकान्त शब्दों का प्रयोग करने के लिए प्रेरित करती है।

कहा जाता कि कवियों का लिखा हुआ गद्य भी अच्छा होता है। इसका कारण शायद यह हो सकता है कि कविता लिखते लिखते तथा पिंगल आदि के विषयों का पालन करते करते कवियों की मानसिक उच्छृंखलता उनके बन्धनों से न्यूनातिन्यून होती जाती है। इसी से वे जब गद्य लिखते हैं तब कविता का सिखाया हुआ संयम उन्हें वहाँ भी वाक्य–रचना के नियमों का उल्लंघन करने से बचाता है।

अस्तु, उपाध्याय जी की संस्कृत गद्य–शैली में जो सौष्टव तथा जो विशदता है उसका श्रेय उनके काव्य-कौशल को है। क्योंकि वे कवि पहले हैं और गद्य–लेखक उसके बाद; तभी उनकी भाषा में शैथिल्य नहीं है।

एक बात और है। 'ठेठ' वाली भाषा को एक विशेष प्रकार के सोद्देश्य गद्य का उदाहरण मान कर अलग रखिए और उनके साधारण प्रकार के गद्य पर विचार कीजिए तो ज्ञात होगा कि उसमें गम्भीरता है, हास्य और व्यंग उनकी प्रकृति के विरुद्ध हैं। इसी दृष्टि से पं० अयोध्यासिंह जी को संस्कृतमय श्रेणी के गद्य–लेखकों को रखना चाहिए।

देवबाला की मृत्यु

सूरज वैसा चमकता है, बयार वैसी ही चलती है, धूप वैसी ही उजली है, रूख वैसे ही अपनी ठौरों खड़े हैं, उनकी हरियाली वैसी ही है, बयार लगने पर उनके पत्ते वैसे ही धीरे धीरे हिलते हैं, चिड़ियां वैसी ही बोल रही हैं, रात में चाँद वैसा ही निकला, धरती पर चाँदनी वैसी ही छिटकी, तारे वैसे ही निकले, सब कुछ वैसा ही है। जान पड़ता है देवबाला मरी नहीं। धरती सब वैसी ही है पर देवबाला मर गई। धरती के लिये देवबाला का मरना जीना दोनों एक सा है। धरती क्या, गांव में चहल पहल वैसी ही है। हँसना, बोलना, गाना, बजाना, उठना, बैठना, खाना, पीना, आना, जाना सब वैसा ही है। देवबाला के मरने से कुछ घड़ी के लिए दो एक जन का कलेजा कुछ दुखा था, पर अब उनको देवबाला की सूरत तक नहीं है। वह भी देवबाला को भूल गये। हां! अब तक एक कलेजे में दुःख की आग जल रही है। अबतक एक जन की आँखों में आँसू बहता है, वह देवबाला के लिये बावला बन रहा है। वह दूसरा कोई नहीं रमानाथ है। पीछे किरिया करम का झमेला हुआ, दूसरे काम काज की झंझट हुई। रमानाथ को ही यह सब सम्हालना पड़ा। धीरे धीरे उसका दुख भी घटने लगा, धीरे धीरे वह भी देवबाला को भूल रहा है। एक एक करके दिन जाने लगे देवबाला को मरे कई दिन हो गये, पर देवनन्दन अब तक नहीं भूले हैं। अब तक वह लड़कपन की हँसती खेलती देवबाला, अब तक वह ब्याह के पहले की बिना घबराहट की लजीली देवबाला, अब तक वह दुखिया रोती कलपती देवबाला, उन की आँखों में, कलेजे में, रोयें रोयें में, घूम रही है।

सो उठते, बैठते, खाते, पीते, देवबाला ही की सूरत उनको बनी रहती है। वह सोचते हैं। क्यों ? देवबाला की कोई ऐसी कमाई तो नहीं थी, जिससे उसको इतना दुख मिले, फिर किस लिए उसका ब्याह ऐसे निठल्लू, निकम्मे अनपढ़ बुरे के साथ हुआ जिससे उसको कलप कलप कर दिन बिताना पड़ा, क्यों उसके माँ बाप ने उसको ऐसे घर में ब्याहा जहाँ वह एक मूठी नाज के लिए तरसती रही। क्यों ब्याह के छही महीने पीछे ससुर मर गया। बरस भर पीछे सास भी मर गई। माँ बाप जगन्नाथ जी गये, फिर न लौटे। रमानाथ कहते थे, वह दोनों एक दिन कलकत्ते में मर गये। क्यों एक के पीछे एक यह सब कलेजा कँपाने वाली बातें हो गईं। और क्यों जब उसके दिन फिर फिरने को हुए तो वह आपही चल बसी ? क्या जो इस पृथ्वी पर डर कर चलता है वही मुँह के बल गिरता है ? क्या धरम से रहने वाले ही को सब कुछ भुगतनी होती है। राम जाने यह क्या बात है। पर जो ऐसा न होता, देवबाला को इतना दुख न भोगना पड़ता। सास ससुर सब दिन जीते नहीं रहते। माँ, बाप, सास, ससुर के मरने से कभी देवबाला को इतना दुख न भुगतना होता, जो रमानाथ भला होता। रमानाथ के बुरे और निकम्मे होने ही से देवबाला की यह सब दशा हुई। इससे मैं समझता हूं देश की बुरी रीति जो रामकान्त के जी को डाँवाडोल नहीं कर सकती, अनसमझी से जो वह हाड़ ही को सब बातों से बढ़ कर समझते, झूठे घमण्डों के बस उतर कर ब्याह करके लोगों से हँसे जाने का जो उनको दुख न होता, तो वह हठ न करते और जो वह हठ न करते तो रमानाथ जैसे कूर के साथ देवबाला का ब्याह न होता, और जो रमानाथ

के साथ देवबाला का ब्याह न होता, तो कभी देवबाला जैसी भली तिरिया की यह दशा न होती। देश की बुरी रीतियों, झूठे घमण्डों से कितने फूल जो ऐसे ही बिना बेले कुम्हिला जाते हैं, कितनी लहलही बेलियां जो नुच कर सूख कर धूल में मिल जाती हैं नहीं कहा जा सकता। राम ! क्या यही चाहते हो, यह देश बुरी रीतियों से ऐसे ही दिन दिन मिट्टी में मिलता रहे। इतना कह कर देवनन्दन फिर सोचने लगा, जब मैंने जग से नाता तोड़ लिया, जी के उचाट से घर दुआर छोड़ कर साधू हो गया। अपना ब्याह तक नहीं किया, एक कौड़ी भी अपने पास नहीं रखता। काम लगने पर दूसरे का दुख छुड़ाने के लिए दो चार सौ अपने भाई से लेता था। अब वह भी नहीं लेता। उसी को समझा दिया, मेरे बाँट के रुपये से दीन दुखियों का भला करते रहना। जब इस भांति में झमेलों से दूर हूं तूबा और लँगोटी ही से काम करता हूं।

तो फिर एक तिरिया की घड़ी घड़ी सुरत किया करना, उसके दुखों को सोच सोच कर मन मारे रहना, देस की बुरी रीति के लिये कलेजा पकड़ना, आँसू बहाना, मुझे न चाहिए। अब इन बखेड़ों से मुझको कौन काम है। धरती का ढंग ऐसा है, सब दिन सब का एक सा नहीं बीतता। उलट फेर इस जग में हुआ ही करता है, इसको कौन रोकने वाला है। फिर उसने सोचा भभूत लगाने से क्या होगा, गेरुआ पहनने से क्या होगा, घर दुआर छोड़ने से क्या होगा, लँगोटी किस काम आवेगी, तूँबा क्या करेगा, साधू होने ही से क्या, जो दूसरे का दुःख मैं न दूर करूं, दुखिया को सहायता न दूं, जिस काम के करने से दस का भला हो

उसमें जी न लगाऊँ। देस की बुरी बात के दूर होने के लिए जतन करना, लोगों के झूठे घमंड को समझा बुझाकर छुड़ाना, जिससे एक को कौन कहे लाखों का भला होगा, क्या मेरा काम नहीं है, क्या मेरे साधू होने का सब से बड़ा फल यह नहीं है ? देवबाला भूल जावे, उसको अब भूल जाना ही अच्छा है। पर साँस रहते मैं दूसरों की भलाई के कामों को कैसे भूल सकता हूं! पर क्या कभी मेरे मन की बात पूरी होगी ? क्या कभी यहाँ वाले अपने देश की बुरी चालों को दूर करना सीखेंगे।

क्या दूसरों की भलाई का रंग यहां वालों पर चढ़ सकता है ? क्या हठ छोड़ कर इस देश के लोग भली भाँति बातों के करने में जी लगा सकते हैं ? क्या जतन करने से कुछ होगा ? इसी बेले देवनन्दन ने सुना जैसे किसी ने कहा "हाँ होगा"। उन्होंने आँख उठा कर देखा आकाश से एक जोत सामने उतरती चली आती है और उसी में बैठा जैसे कोई कह रहा है "हाँ होगा"। देवनन्दन थिर होकर उसको देखने लगे। उसी में फिर यह बात सुन पड़ी, क्यों मुझको तुम जानते हो ? मेरा नाम आता है, मेरे बिना धरती का कोई काम नहीं चल सकता, मैं तुमको बतलाती हूँ। जतन करो, जतन करने से सब कुछ होगा। देवनन्दन ने बहुत बिनती के साथ कहा, कब तक होगा, माँ ? फिर यह बात सुनने में आई कि जतन करने वाले का कब तक की बात मुँह पर न लानी चाहिए। जब तक उसका काम न हो तब तक उसे जतन करते रहना चाहिए। देवनन्दन ने देखा इतनी बातों के कहने पीछे वह जोत फिर आँखों से ओझल गई। देवनन्दन कब तक जीते रहेंगे और किस किस ढंग से उन्होंने देश की बुरी चालों को दूर करने के लिए जतन किया, कैसे

कैसे खोटी छुटा कर अपने देश भाइयों का भला करना चाहा, इन सब बातों को यहाँ उठाने का काम नहीं है पर जब तक वह जीते रहे, उनका यह काम था, कुछ दिनों रमानाथ भी उसका साथी हो गया था।

बहुत दिन तक लोगों ने देवनन्दन को दूसरों की भलाई के लिए घूमते देखा था, पर पीछे उनको भी धरती छोड़नी पड़ी। जिस दिन उन्होंने धरती छोड़ी, उस दिन चारों ओर से लोगों को यह बात सुन पड़ी थी "क्या फिर कोई देवनन्दन जैसा माई का लाल न जन्मेगा ?"

['ठेठ हिन्दी का ठाठ' से]

बाबू श्यामसुन्दर दास

[१८७५-]

——:०:——

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से आजतक हिन्दी की जो आश्चर्यमय साहित्यिक अभिवृद्धि तथा प्रचार हुआ है उसका श्रेय जिन महापुरुषों को है उनमें से बाबू श्यामसुन्दरदास जी का बड़ा ऊँचा स्थान है। काशी जो सनातनकाल से आर्य-संस्कृति का विश्वप्रख्यात केन्द्र रहा है; जहाँ के पंडितों की अगाध विद्वत्ता का परिचय एतद्देशीय तथा विदेशी विद्वानों को सदा से मिलता रहा है; वहीं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने परम्परागत आई हुई साहित्यिक श्रृंखला को अपने जीवन-काल में फिर से पुष्ट करने का प्रयत्न किया था। उन्होंने अपने समय की उठती हुई देश-भक्ति की लहर के वेग में हिन्दी को एक नया साहित्यिक स्वरूप दिलाया।

भारतेन्दु के अस्त होने पर काशी में साहित्यिक चर्चा का सिलसिला चलता ही रहा। पर उसे केन्द्रीभूत करने का श्रेय कुछ नवयुवकों को है। उनमें से बाबू श्यामसुन्दरदास जी प्रधान थे, क्योंकि उन्हीं के उद्योग से नागरीप्रचारिणी सभा खुली और उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई।

एवं, आजकल हिन्दी को अन्य देशी भाषाओं के सामने गौरवपूर्ण स्थान दिलाने में बाबू साहब अपनी नागरीप्रचारिणी सभा के द्वारा जितने सफल हुए हैं उसे देखकर यह स्वयंसिद्ध है कि वे सदैव स्मरणीय रहेंगे।

यही नहीं, उन्होंने स्वयं कई ऐसी साहित्यिक रचनायें की हैं जो अपने ढँग की अद्वितीय हैं। प्रतिपादित विषयों के महत्व को देखते हुए 'साहित्यालोचन', 'भाषा-विज्ञान' तथा 'हिन्दी भाषा और साहित्य' बिलकुल अपूर्व हैं, क्योंकि पहले ऐसे ग्रन्थों का हिन्दी में अभाव था।

भाषा के विषय में भी श्यामसुन्दरदास जी के अपने अलग सिद्धान्त हैं जैसा कि प्रत्येक साहित्यसेवी में मिलते हैं। अन्य सिद्धान्तों में से उनका प्रधान सिद्धान्त यह है कि हिन्दी समयानुकूल आवश्यकताओं को देखते हुए चाहे जितने परिवर्तन क्यों न स्वीकार कर ले, किन्तु उसके वैयक्तिक शील तथा रूप पर किसी विदेशी भाषा का अनुचित आधिपत्य न जमने देना चाहिए। इस लिए उनका यह मत है कि आजकल संसार-व्यापी भाषा होने के कारण तथा भारत में उसका विशेष प्रचार होने से अँगरेज़ी यद्यपि हिन्दी को बहुत-कुछ प्रभावित कर रही है और कुछ सीमा तक उसका प्रभाव हिन्दी को उन्नति अथवा प्रगतिशील बनाने में सहायक भी हो रहा है पर मननशील लेखकों का यह कर्त्तव्य है कि वे उसे संस्कृत से विच्छिन्न न होने दें। क्योंकि, बड़े वेग से बढ़ते हुए हिन्दी

के प्रचार के समय में यह ख़तरा है कि कहीं वह अपना निज का स्वरूप न खो बैठे।

शायद इसी विचार से उनकी लिखन-शैली शुद्ध संस्कृत-मय होती है और उसमें आजकल के साधारण बोलचाल में काम आने वाले अन्य भाषा के शब्दों तथा मुहावरों का अभाव होता है। इसके सिवाय उनके लेख के विषय भी गूढ़ होते हैं। इन्हीं कारणों से कहीं कहीं उनके गद्य की भाषा कुछ दुरूह हो जाती है। पर यह दुरूहता विशेष खटकनेवाली नहीं है। हाँ, अलबत्ता उनके गद्य का उपयोग परिमित हो जाता है। अन्य लेखकों की भाषा की समीक्षा करते समय श्यामसुन्दरदास जी की गद्य-शैली आलोचनात्मक शैली के नाम से पुकारी जा सकती है। हिन्दी–गद्य के इतिहास में एक ओर वे लल्लूलाल तथा राजा लक्ष्मणसिंह के संप्रदाय के हैं, और दूसरी ओर पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी से विदग्ध-साहित्य निर्माण करनेवालों की श्रेणी में वे सम्मिलित हैं। राजा लक्ष्मणसिंह से उनका सम्बन्ध यों है कि उनकी तरह वे भी गद्य की भाषा को बोलचाल की भाषा से अलग रखने के पक्ष में हैं। साहित्यिक भाषा और बोलचाल की भाषा में काफ़ी अन्तर रखना उनका प्रधान सिद्धान्त है।

इस प्रकार तीन तरह से श्यामसुन्दरदास जी के कार्य का महत्व है। सबसे अधिक प्रशंसा के योग्य जो काम उन्होंने किया है वह यह है कि उनके अविरल परिश्रम से

हिन्दी–साहित्य को बड़ी उत्तेजना मिली है और उसकी भावी उन्नति का द्वार खुल गया है। इसके सिवाय उन्होंने कई बहु-मूल्य रचनायें करके हिन्दी की साहित्यिक अभिवृद्धि की है। अन्त में, उन्होंने हिन्दी भाषा का कलेवर परिष्कृत बनाने में द्विवेदी जी के समान पूरा योग दिया है।

समाज और साहित्य

ईश्वर की सृष्टि विचित्रताओं से भरी हुई है। जितना ही इसे देखते जाइए, इसका अन्वेषण करते जाइए, इसकी छानबीन करते जाइए, उतनी ही नई नई शृंखलायें विचित्रता की मिलती जायँगी। कहाँ एक छोटा सा बीज और कहाँ उससे उत्पन्न एक विशाल वृक्ष। दोनों में कितना अंतर और फिर दोनों का कितना घनिष्ठ संबंध, तनिक सोचिए तो सही। एक छोटे से बीज के गर्भ में क्या क्या भरा हुआ है। उस नाममात्र के पदार्थ में एक बड़े से बड़े वृक्ष को उत्पन्न करने की शक्ति है जो समय पाकर पत्र, पुष्प, फल से संपन्न हो वैसे ही अगणित बीज उत्पन्न करने में समर्थ होता है जैसे बीज से उसको स्वयं उत्पत्ति हुई थी। सब बातें विचित्र, आश्चर्य-जनक और कौतूहलवर्द्धक होने पर भी किसी शासक द्वारा निर्धारित नियमा-वली से बद्ध हैं। सब अपने अपने नियमानुसार उत्पन्न होते, बढ़ते, पुष्ट होते और अंत में उस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जिसे हम मृत्यु कहते हैं; पर वहीं उनकी समाप्ति नहीं है, वहीं उनका अंत नहीं है। वे सृष्टि के कार्य-साधन में निरंतर तत्पर हैं। मर कर भी वे सृष्टि–निर्माण में योग देते हैं। योंही वे जीते मरते चले जाते हैं। इन्हीं सब बातों

की जाँच विकासवाद का विषय है। यह शास्त्र हमको इस बात की छानबीन में प्रवृत्ति करता है और बतलाता है कि कैसे संसार की सब बातों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से अभिव्यक्ति हुई, कैसे क्रम क्रम से उनकी उन्नति हुई और किस प्रकार उनकी संकुलता बढ़ती गई। जैसे संसार की भूतात्मक अथवा जीवात्मक उत्पत्ति के संबंध में विकासवाद के निश्चित नियम पूर्ण रूप से घटते हैं वैसे ही वे मनुष्य के सामाजिक जीवन के उन्नति, क्रम आदि को भी अपने अधीन रखते हैं। यदि हम सामाजिक जीवन के इतिहास पर ध्यान देते हैं तो हमें विदित होता है कि पहले मनुष्य असभ्य व जंगली अवस्था में थे। सृष्टि के आदि में सब आरंभिक जीव समान ही थे, पर सबने एक सी उन्नति न की। प्राकृतिक स्थिति के अनुकूल जिसकी जिस विषय की ओर विशेष प्रवृत्ति रही उस पर उसी की उत्तेजना का अधिक प्रभाव पड़ा। अंत में प्रकृति-देवी ने जैसा कार्य देखा वैसा ही फल भी दिया। जिसने जिस अवयव से कार्य लिया उसके उसी अवयव की पुष्टि और वृद्धि हुई। सारांश यह है कि आवश्यकतानुसार उनके रहन-सहन, भाव-विचार सब में परिवर्तन हो चला। जो सामाजिक जीवन पहले था वह अब न रहा। अब उसका रूप ही बदल गया। अब नये विधान आ उपस्थित हुए। नई आवश्यकताओं ने नई चीज़ों के बनाने के उपाय निकाले। जब किसी चीज़ की आवश्यकता आ उपस्थित होती है तब मस्तिष्क को उस कठिनता को हल करने के लिए कष्ट देना पड़ता है। इस प्रकार सामाजिक जीवन में परिवर्तन के साथ ही साथ मस्तिष्क-शक्ति का विकास होने लगा। सामाजिक जीवन के परिवर्तन का दूसरा

नाम असभ्यावस्था से सभ्यावस्था को प्राप्त होना है। अर्थात् ज्यों ज्यों सामाजिक जीवन का विकास विस्तार और उसकी संकुलता गई त्यों त्यों सभ्यतादेवी का साम्राज्य स्थापित होता गया। सभ्यावस्था सामाजिक जीवन में उस स्थिति का नाम है जब मनुष्य को अपने सुख और चैन के साथ साथ दूसरे के स्वत्वों और अधिकारों का भी ज्ञान हो जाता है। यह भाव जिस जाति में जितना ही अधिक पाया जाता है उतना ही अधिक वह जाति सभ्य समझी जाती है। इस अवस्था की प्राप्ति बिना मस्तिष्क के विकास के नहीं हो सकती, अथवा यह कहना चाहिए कि सभ्यता की उन्नति साथ ही साथ होती है। एक दूसरे का अन्योन्याश्रय-संबंध है। एक का दूसरे के बिना आगे बढ़ जाना या पीछे पड़ जाना असंभव है। मस्तिष्क के विकास से साहित्य का स्थान बड़े महत्व का है।

जैसी भौतिक शरीर की उन्नति वाह्य पंचभूतों के कार्यरूप प्रकाश, वायु, जलादि की उपयुक्तता पर निर्भर है, वैसे ही समाज के मस्तिष्क का बनना बिगड़ना साहित्य की अनुकूलता पर अवलंबित है, अर्थात् मस्तिष्क के विकास और वृद्धि का मुख्य साधन साहित्य है।

सामाजिक मस्तिष्क अपने पोषण के लिये जो भाव–सामग्री निकाल कर समाज को सौंपता है उसके संचित भांडार का नाम साहित्य है। अतः किसी जाति के साहित्य को हम उस जाति की सामाजिक शक्ति या सभ्यता–निर्देशक कह सकते हैं। वह उसका प्रतिरूप प्रतिच्छाया या प्रतिबिंब कहला सकता है। जैसी उसकी सामाजिक अवस्था होगी वैसा ही उसका साहित्य होगा। किसी जाति के साहित्य को देख कर हम यह स्पष्ट बता सकते हैं कि उसकी सामाजिक अवस्था कैसी है? वह सभ्यता

की सीढ़ी के किस डंडे तक चढ़ सकी है? साहित्य का मुख्य उद्देश्य विचारों के विधान तथा घटनाओं की स्मृति को संरक्षित रखना है। पहले पहल अद्‌भुत बातों के देखने से जो मनोविकार उत्पन्न होते हैं उन्हें वाणी द्वारा प्रदर्शित करने की स्फूर्ति होती है। धीरे धीरे युद्धों के वर्णन अद्‌भुत घटनाओं के उल्लेख और कर्मकांड के विधानों तथा नियमों के निर्धारण में वाणी का विशेष स्थायी रूप में उपयोग होने लगता है। इस प्रकार वह सामाजिक जीवन का एक प्रधान् अंग हो जाती है। एक विचार को सुन या पढ़ कर दूसरे विचार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार विचारों की एक श्रृंखला हो जाती है जिससे साहित्य के विशेष विशेष अंगों की सृष्टि होती है। मस्तिष्क को क्रियमाण रखने तथा उसके विकास और वृद्धि में सहायता पहुँचाने के लिए साहित्यरूपी भोजन की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार यह भोजन होगा वैसी ही मस्तिष्क की स्थिति होगी। जैसे शरीर की स्थिति और वृद्धि के अनुकूल आहार की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार मस्तिष्क के विकास के लिये साहित्य का प्रयोजन होता है। मनुष्य के विचारों में प्राकृतिक अवस्था का बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। शीत–प्रधान देशों में अपने को जीवित रखने के लिये निरंतर परिश्रम करने की आवश्यकता रहती है। ऐसे देशों में रहने वाले मनुष्यों का सारा समय अपनी रक्षा के उपायों के सोचने और उन्हीं का अवलंबन करने में बीत जाता है। अतएव क्रम क्रम से उन्हें सांसारिक बातों से अधिक ममता हो जाती है, और वे अपने जीवन का उद्देश्य सांसारिक वैभव प्राप्त करना ही मानने लगते हैं। जहाँ इसके प्रतिकूल अवस्था है वहाँ आलस्य का प्राबल्य होता है। जब प्रकृति ने

खाने, पीने, पहिनने, ओढ़ने का सब सामान प्रस्तुत कर दिया तब फिर उसको चिंता ही कहाँ रह जाती है। भारतभूमि की प्रकृति-देवी का प्रिय और प्रकांड क्रीड़ाक्षेत्र समझना चाहिये। यहाँ सब ऋतुओं का आवागमन होता रहता है। जल की यहाँ प्रचुरता है। भूमि भी इतनी उर्वरा है कि सब कुछ खाद्य पदार्थ यहाँ उत्पन्न हो सकते हैं। फिर इनकी चिंता यहाँ के निवासी कैसे कर सकते हैं? इस अवस्था में या तो सांसारिक बातों से जीव जीवात्मा और परमात्मा की ओर लग जाता है, अथवा विलासप्रियता में फँस कर इंद्रियों का शिकार बन बैठता है। यही मुख्य कारण है कि यहाँ का साहित्य धार्मिक विचारों या शृंगाररस के काव्यों से भरा हुआ है। अस्तु-इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनुष्य की सामाजिक स्थिति के विकास में साहित्य का प्रधान योग रहता है।

यदि संसार के इतिहास की ओर हम ध्यान देते हैं तो हमें यह भली भाँति विदित होता है कि साहित्य ने मनुष्यों की सामाजिक स्थिति में कैसा परिवर्तन कर दिया है। पाश्चात्य देशों में एक समय धर्म-संबंधी शक्ति पोप के हाथ में आगई थी। माध्यमिक काल में इस शक्ति का बड़ा दुरुपयोग होने लगा। अतएव जब पुनरुत्थान ने वर्तमान-काल का सूत्रपात किया, यूरोपीय मस्तिष्क स्वतंत्रता-देवी की आराधना में रत हुआ, तब पहला काम जो उसने किया वह धर्म के विरुद्ध विद्रोह खड़ा करना था। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोपीय कार्य-क्षेत्र से धर्म का प्रभाव हटा और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की लालसा बढ़ी। यह कौन नहीं जानता कि फ्रांस की राज्य-क्रांति का सूत्रपात रूसो और वालटेयर के लेखों ने किया और इटली के पुनरुत्थान का बीज मेज़िनी के लेखों ने

बोया। भारतवर्ष में भी साहित्य का प्रभाव इसकी अवस्था पर कम नहीं पड़ा। यहाँ की प्राकृतिक अवस्था के कारण सांसारिक चिंता ने लोगों को अधिक न ग्रसा। उनका विशेष ज्ञान धर्म की ओर रहा। जब जब उसमें अव्यवस्था और अनीति की वृद्धि हुई, नये विचारों, नई संस्थाओं की सृष्टि हुई। बौद्ध धर्म और आर्यसमाज का प्रावल्य और प्रचार ऐसी ही स्थिति के बीच हुआ। इसलाम और हिन्दू-धर्म जब परस्पर पड़ोसी हुए तब दोनों में से कूप-मंडूकता का भाव निकालने के लिए कबीर, नानक आदि का प्रादुर्भाव हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि मानव जीवन की सामाजिक मति में साहित्य का स्थान बड़े गौरव का है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जिस साहित्य के प्रभाव से संसार में इतने उलट-फेर हुए हैं, जिसने यूरोप के गौरव को बढ़ाया, जो मनुष्य-समाज का हित विधायक मित्र है वह क्या हमें राष्ट्र-निर्माण में सहायता नहीं दे सकता? क्या हमारे देश की उन्नति करने में हमारा पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकता? हो अवश्य सकता है यदि हम लोग जीवन के व्यवहार में उसे अपने साथ साथ लेते चलें, उसे पीछे न छूटने दें। यदि हमारे जीवन का प्रवाह दूसरी ओर है तब हमारा प्रकृति-संयोग ही नहीं हो सकता।

अब तक वह जो हमारा सहायक नहीं हो सका है इसके दो मुख्य कारण हैं। एक तो इस संस्कृत देश की स्थिति एकांत रही है और दूसरे इसके प्राकृतिक विभव का वारापार नहीं है। इन्हीं कारणों से इसमें संघशक्ति का संचार जैसा चाहिए वैसा नहीं हो सकता है और यह अब तक आलसी और सुख-लोलुप बना हुआ है। परन्तु अब इन अवस्थाओं

में परिवर्तन हो चला है। इसके विस्तार की दुर्गमता और स्थिति की एकांतता को आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों ने एक प्रकार से निर्मल कर दिया है और प्राकृतिक वैभव का लोभालाभ बहुत कुछ तीव्र जीवन-संग्राम की सामर्थ्य पर निर्भर है। यह जीवन-संग्राम दो भिन्न सभ्यताओं के संघर्षण से और भी तीव्र और दुःखमय प्रतीत होने लगा है। इस अवस्था के अनुकूल ही जब साहित्य उत्पन्न होकर समाज के मस्तिष्क को प्रोत्साहित, प्रतिक्रियमाण करेगा तभी वास्तविक उन्नति के लक्षण देख पड़ेंगे और उसका कल्याणकारी फल देश को आधुनिक काल का गौरव प्रदान करेगा।

अब विचारणीय बात है कि वह साहित्य किस प्रकार का होना चाहिये जिससे कथित उद्देश्य की सिद्धि हो सके? मेरे विचार के अनुसार इस समय हमें विशेष कर ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो मनोवेगों का परिष्कार करने वाला, संजीवनी शक्ति का संचार करने वाला, चरित्र को सुन्दर साँचे में ढालने वाला तथा बुद्धि को तीव्रता प्रदान करने वाला हो। साथ ही इस बात की भी आवश्यकता है कि यह साहित्य परिमार्जित, सरस और ओजस्विनी भाषा में तैयार किया जाय। इसको लोग स्वीकार करेंगे कि ऐसे साहित्य का हमारी हिन्दी-भाषा में अभी तक बड़ा अभाव है। पर शुभ लक्षण चारों ओर देखने में आ रहे हैं। यह दृढ़ आशा होती है कि थोड़े ही दिनों में उसका उदय दिखाई पड़ेगा जिससे जन-समुदाय की आँखें खुलेंगी, और भारतीय जीवन का प्रत्येक विभाग ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठेगा।

मैं थोड़ी देर के लिये आपका ध्यान हिन्दी के गद्य और पद्य की ओर

दिलाना चाहता हूँ । यद्यपि भाषा के दोनों अंगों की पुष्टि का प्रयत्न हो रहा है पर दोनों की गति समान रूप से व्यवस्थित नहीं दिखाई देती । गद्य का रूप अब एक प्रकार से स्थिर हो चुका है । उसमें जो कुछ व्यतिक्रम या व्याघात दिखाई पड़ जाता है वह अधिकांश अवस्थाओं में मतभेद के कारण नहीं बल्कि अनभिज्ञता के कारण होता है । ये व्याघात वा व्यतिक्रम प्रांतिक शब्दों के प्रयोग, व्याकरण के नियमों के उल्लंघन आदि के रूप में ही अधिकतर दिखाई पड़ते हैं । इनके लिये कोई मत-संबंधी बिवाद नहीं उठ सकता । इनके निवारण के लिये केवल समालोचकों की तत्परता और सहयोगिता की आवश्यकता है । इस कार्य में केवल व्यक्तिगत कारणों से समालोचकों को दो पक्षों में नहीं बाँटना चाहिये ।

गद्य के विषय में इतना कह चुकने पर उसके आदर्श पर थोड़ा विचार कर लेना भी आवश्यक जान पड़ता है । इसमें कोई मत-भेद नहीं कि जो हिन्दी गद्य के लिये ग्रहण की गई है वह दिल्ली और मेरठ प्रांत की है ।

यद्यपि हमारे गद्य की भाषा मेरठ और दिल्ली के प्रांत की है पर साहित्य की भाषा हो जाने के कारण उसका विस्तार और प्रांतों में भी हो गया है । अतः वह उन प्रांतों के शब्दों का भी अभाव-पूर्ति के निमित्त अपने में समावेश करेगी । यदि उसके जन्मस्थान में किसी वस्तु का भाव व्यंजित करने के लिये कोई शब्द नहीं है तो वह दूसरे प्रांत से, जहाँ उसका शिष्ट समाज साहित्य में प्रवेश है, शब्द ले सकती है । पर यह बात ध्यान रखने की है कि यह केवल अन्य स्थानों के शब्द-मात्र अपने में मिला सकती है, प्रत्यय आदि नहीं ग्रहण कर सकती ।

अब पद्य की शैली पर भी कुछ ध्यान देना चाहिये। भाषा का उद्देश्य यह है कि एक का भाव दूसरा ग्रहण करके अपने अन्तःकरण में भावों की अनेकरूपता का विकास करे।

ये भाव साधारण भी होते हैं और जटिल भी। अतः जो लेख साधारण भावों को प्रकट करता है, वह साधारण ही कहलावेगा, चाहे उस में सारे संस्कृत कोशों को ढूँढ़ ढूँढ़ शब्द रखे गये हों और चार चार अंगुल के समास बिछाये गये हों, पर जो लेख ऐसे जटिल भावों को प्रकट करेंगे जो अपरिचित होने के कारण अंतःकरण में जल्दी न धसेंगे वे उच्च कहलावेंगे, चाहे उनमें बोलचाल के साधारण शब्द ही क्यों न भरे हों। ऐसे ही लेखों के बीच जो नये नये भावों का विकाश करने में समर्थ हो, जो इनके जीवन क्रम को उलटने पलटने की क्षमता रखता हो वही सच्चा साहित्य है। अतः लेखकों को अब इस युग में बाण और दंडी होने की आकांक्षा उतनी न करनी चाहिये जितनी वाल्मीकि और व्यास होने की, बर्क, कारलाइल और रस्किन होने की।

कविता का प्रवाह आजकल दो मुख्य धाराओं में विभक्त हो गया है। खड़ी बोली की कविता का आरंभ थोड़े ही दिनों से हुआ है। अतः अभी उसमें उतनी शक्ति और सरसता नहीं आई है पर आशा है कि उचित पथ के अवलंबन द्वारा वह धीरे धीरे आ जायगी। खड़ी बोली में जो अधिकांश कवितायें और पुस्तकें लिखी जाती हैं वे इस बात का ध्यान रख कर नहीं लिखी जातीं कि कविता की भाषा और गद्य की भाषा में भेद होता है। कविता की शब्दावली कुछ विशेष ढंग की होती है। उसके वाक्यों का रूप-रंग कुछ निराला है। किसी साधारण गद्य को नाना

छंदों में ढाल देने से ही उसे काव्य का रूप नहीं प्राप्त हो जायगा। अतः कविता की जो सरस और मधुर शब्दावली व्रजभाषा में चली आ रही है उसका बहुत कुछ अंश खड़ी बोली में रखना पड़ेगा। भाववैलक्षण्य के संबंध में जो बातें गद्य के प्रसंग में कही जा चुकी हैं वे कविता के विषय में ठीक घटती हैं। बिना भाव की कविता ही क्या ? खड़ी बोली की कविता के प्रचार के साथ काव्यक्षेत्र में जो अनधिकार प्रवेश की प्रवृत्ति अधिक हो रही है वह ठीक नहीं। कविता का अभ्यास आरंभ करने के पहले अपनी भाषा के बहुत से नये पुराने काव्यों की शैली का मनन करना, रीति-ग्रंथों का देखना, रस अलंकार आदि से परिचित होना आवश्यक है।

———

पं० रामचन्द्र शुक्ल

——:०:——

भाव और भाषा दोनों के विचार से पं० रामचन्द्र जी शुक्ल की गद्य–शैली वस्तुत: संस्कृत (Classical) है। क्या कविता, क्या गद्य–लेख दोनों गम्भीर से गम्भीर, दुरूह से दुरूह विषयों पर वे बहुधा लिखते हैं। उनकी भाषा भी अधिकतर शुद्ध होती है, क्योंकि गम्भीर विषयों का प्रतिपादन ग्रामीणतापूर्ण अथवा मिश्रित पदावली से नहीं हो सकता। छोटी मोटी नित्य की घटनाओं पर हलके, हास्य-पूर्ण निबन्ध लिखना पं० प्रताप-नारायण, बाबू बालमुकन्द आदि लेखकों को ही शोभा दे सकता है क्योंकि उन लोगों की जीवनाभिरुचि बड़ी तीव्र थी और उनका अवतार ही इसी उद्देश्य के सम्पादन के अर्थ हुआ था कि वे अपनी साहित्यिक शक्ति को संसार की अत्यधिक गम्भीरता को सह्य बनाने में तथा लोगों में तल्लीनता या मस्ती का संचार करने में लगावें। परन्तु रामचन्द्र जी शुक्ल ऐसे गम्भीर-प्रकृति पुरुष के मस्तिष्क से विचारपूर्ण साहित्यिक द्रव्य का आविर्भाव होना ही सवर्था उपयुक्त है। उनके लेखों में मननशीलता रहती है। उनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि लेखक स्वयं जीवन को बड़ा काठिन्यपूर्ण तथा गाम्भीर्यमय समझता है।

इस प्रकार की गम्भीरता के कारण शुक्ल जी का गद्य दो उपयोगों के लिए परम उपयुक्त है। एक तो उसके द्वारा विदग्ध साहित्य-सम्बन्धी कोई भी सामग्री सुचारुरूप से तैयार की जा सकती है, जिस काम के लिए प्रतापनारायण मिश्र की ग्रामीणता तथा हास्यरस से भरी हुई भाषा अप्रयोज्य सिद्ध हो जावेगी। इसके सिवाय शुक्ल जी का गद्य दार्शनिक अथवा अन्य प्रकार के गहन भावों को व्यक्त करने के लिए भी अत्यन्त उपयोगी हो सकता है। 'क्रोध', 'श्रद्धा', 'भय' ऐसे गूढ़ विषयों पर लिखे हुए उनके निबन्ध तथा 'कविता क्या है' आदि साहित्यक विषयों पर तार्किक संवाद उपर्युक्त बात के परिपोषक हैं। रामचन्द्र जी शुक्ल के गद्य-लेखों की भाषा, जैसा अभी संकेत कर चुके हैं, अत्यन्त शुद्ध है। उसमें उर्दूपन अथवा ठेठपन न्यूनातिन्यून है। जो कुछ प्रभावपूर्णता अथवा शक्ति उनकी भाषा में है उसका श्रेय संस्कृत-शब्दावली को ही है। परन्तु उसमें कहीं कहीं जो दुरूहता आ गई है वह संस्कृत से लिये हुये शब्दों के मत्थे नहीं मढ़ी जा सकती, न यही कि उसे उनकी वाक्य-रचना की विषमता का फल कहें। इस दुरूहता का एक मात्र कारण लेखक की विचार-पूर्णता और गम्भीरता है जिससे उसके लेखों में एक प्रकार की क्लिष्टता का सा आभास होने लगता है।

शुक्ल जी के निबन्ध क्या हैं, स्वगत-भाषण से (Soliloquies) हैं। पढ़ते समय ध्यान देने से जान पड़ता है कि मानों कोई

एकान्त में बैठे हुए अपने मन के विचार अपने ही आप चुपके से प्रकट कर रहा हो, और उसे इस बात का बिलकुल भी परिज्ञान न हो कि मेरे आसपास कोई श्रोता भी है या नहीं। तभी तो उनके लेखों की भाषा में कहावतों और मुहावरों का अभाव सा है। बात यह है कि जिस लेखक की यह नियत होती है कि जितने ही अधिक संख्या में लोग मेरी कृति को पढ़ें तथा मुझे साधुवाद दें उतना ही मेरा परिश्रम सफल होगा। वही लिखते समय जन-साधारण की रुचि के संतोषार्थ भाँति भाँति की मनोरंजक उक्तियाँ और शब्द लाकर जुटाते हैं। शुक्ल जी तो उद्देश्यरहित होकर साहित्य-सेवा करते हैं, और इसी से विषय की अपेक्षा भाषा को गौण तथा कम महत्वपूर्ण मानते हैं। इसी से उनके लेखों में कोरे शाब्दिक जमाख़र्च के लिए स्थान नहीं रहता। इंग्लैंड के प्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय फ़्रेडरिक हैरिसन कहा करते थे कि:—

"साहित्य का क्षेत्र बड़ा विकट है। जिस किसी की इच्छा उसमें प्रवेश करने की हो उसे प्रथम आत्मनिरीक्षण से यह देख लेना चाहिए कि क्या सचमुच मेरे मस्तिष्क में विचारों की ऐसी गर्मी है जो बिना लिखे मुझे शान्ति नहीं लेने दे सकती"। पं० रामचन्द्रजी शुक्ल वास्तव में उसी तरह के साहित्यसेवी हैं जो उपर्युक्त सिद्धान्त को दृष्टिगत करके क़लम हाथ में लेते हैं। केवल क्षणिक साहित्य की रचना करने के आवेश में आकर अथवा ग्रन्थकार की पदवी पाने की लभक

में उन्होंने लेखक-वृत्ति नहीं स्वीकार की है। केवल आन्तरिक प्रेरणा से प्रेरित होकर ही उन्होंने यह कार्य करना आरम्भ किया है।

काव्य में प्राकृतिक दृश्य

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से हमारी भाषा नये मार्ग पर आ खड़ी हुई, पर दृश्य वर्णन में कोई संस्कार नहीं हुआ। वाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों की प्रणाली का अध्ययन करके सुधार का यत्न नहीं किया गया। भारतेन्दु जी का जीवन एकदम नागरिक था। मानवी प्रकृति में ही उनकी तल्लीनता अधिक पाई जाती है; बाह्य प्रकृति के साथ उनके हृदय का वैसा सामंजस्य नहीं पाया जाता। 'सत्य-हरिश्चन्द्र' में गंगा का और 'चन्द्रावली' में यमुना का वर्णन अच्छा कहा जाता है। पर यह दोनों वर्णन भी पिछले खेवे के कवियों की परम्परा के अनुसार ही हैं। इतने में भी एक साथ कई वस्तुओं और व्यापारों की सूक्ष्म सम्बन्ध-योजना नहीं है, केवल वस्तुओं और व्यापारों के पृथक्-पृथक् कथन के साथ उत्प्रेक्षा आदि का प्राचुर्य है। उनमें से एक नीचे दिया जाता है—

नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच-बिच छहरति बूँद मध्य मुक्तामनि पोहति।
लोल लहर लहि पवन एक पैं इक इमि आवत;
जिमि नरगन मन विविध मनोरथ करत मिटावत।
कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरवर सम सोहत;

कहुँ छतरी कहुँ मढ़ी बढ़ी मन मोहत जोहत ।
धवल छाय चहुँ ओर फरहरत धुजा पताका ;
घहरति घंटा-धुनि धमकत धौंसा करि साका ।
कहुँ सुन्दरी नहात नीर कर जुगुल उछारत ;
जुग अम्बुज मिलि मुक्त-गुच्छ मनु सुच्छ निकारत ।
धोवति सुन्दरि बदन करन अतिही छवि पावत ;
वारिधि नाते ससि-कलंक मनु कमल मिटावत ।

मैं समझता हूँ अब यह दिखाने के लिए और अधिक प्रयास की आवश्यकता नहीं है कि वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि प्राकृतिक दृश्य हमारे राग या रति-भाव के स्वतंत्र आलंबन हैं; उनमें सहस्रों के लिए सहज आकर्षण वर्तमान है। इन दृश्यों के अन्तर्गत जो वस्तुयें और व्यापार होंगे उनमें जीवन के मूल-स्वरूप और मूल परिस्थिति का आभास पाकर हमारी वृत्तियां तल्लीन होती हैं। जो व्यापार केवल मनुष्य के अधिक समुन्नत बुद्धि के परिणाम होंगे, जो उसके आदिम जीवन के बहुत इधर के होंगे उनमें प्राकृतिक या पुरातन व्यापारों की सी तल्लीन करने की शक्ति न होगी। जैसे "सीतल गुलाब-जल भरि चहबच्चन में" बैठे हुए कवि जी की अपेक्षा तलैया के कीचड़ में बैठ कर जीभ निकाल निकाल हाँफते हुए कुत्ते का अधिक प्राकृतिक व्यापार कहा जायगा इसी प्रकार शिशिर में दुशाला ओढ़े "गुलगुली गिलमें गलीचा" बिछाकर बैठे स्वाँग से धूप में खपरैल पर बैठी बदन चाटती हुई बिल्ली में अधिक प्राकृतिक भाव है। पुतलीघर में एंजन चलाते हुए देसी साहब की अपेक्षा खेत में हल चलाते हुए किसान में अधिक स्वाभाविक आकर्षण है।

विश्वास न हो तो भवभूति और कालिदास से पूछ लीजिए।

जब कि प्राकृतिक दृश्य हमारे भावों के आलंबन हैं, तब इस शंका के लिए कोई स्थान ही नहीं रहा कि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कौन सा रस है। जो जो पदार्थ हमारे किसी न किसी भाव के विषय हो सकते हैं, उन सबका वर्णन रस के अन्तर्गत है क्योंकि भाव का ग्रहण भी रस के समान ही होता है। यदि रति–भाव के रस–दशा तक पहुँचने की योग्यता 'दांपत्य–रति' में ही मानिए तो पूर्ण भाव के रूप में भी दृश्यों का वर्णन कवियों की रचनाओं में बराबर मिलता है। जैसे काव्य के किसी पात्र का यह कहना है "जब मैं इस पुराने आम के पेड़ को देखता हूँ तब इस बात का स्मरण हो आता है कि यह वही है जिसके नीचे मैं लड़कपन में बैठा करता था और सारा शरीर पुलकित हो जाता है, मन एक अपूर्व भाव में मग्न हो जाता है" विभाव, अनुभाव और संचारी से पुष्ट भाव–व्यंजना का उदाहरण होगा।

पहले कहा जा चुका है कि जो वस्तु मनुष्य के भावों का विषय या आलंबन होती है उसका शब्द–चित्र यदि किसी कवि ने खींच दिया तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका। उसके लिए यह अनिवार्य नहीं कि वह 'आश्रय' की भी कल्पना करके उसे उस भाव का अनुभव करता हुआ या विवाद से रोता हुआ दिखावे। मैं आलंबन मात्र के विशद वर्णन को श्रोताओं में रसानुभव उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ। यह बात नहीं है कि जब तक कोई दूसरा किसी भाव का अनुभव करता हुआ और उसे शब्द और चेष्टा द्वारा प्रकाशित करता हुआ न दिखाया जाय तब तक रसानुभव हो ही नहीं सकता। यदि ऐसा होता तो हिन्दी

में नायिका-भेद और नख-शिख के जो सैकड़ों ग्रंथ बने हैं उन्हें कोई पढ़ता ही नहीं। नायिका-भेद में केवल श्रृंगार-रस के आलंबन का वर्णन होता है और नखशिख के किसी पद्य में उस आलंबन के भी किसी एक अंग मात्र का। पर ऐसे वर्णनों से रसिक लोग बराबर आनंद प्राप्त करते देखे जाते हैं। इसी प्रकार प्राकृतिक दृश्य-वर्णन मात्र को चाहे कवि उसमें अपने हर्ष आदि का कुछ भी वर्णन न करे हम काव्य कह सकते हैं। हिमालय वर्णन को यदि हम कुमारसम्भव से निकाल कर अलग करलें तो भी वह एक उत्तम काव्य कहला सकता है। मेघदूत में—विशेष कर पूर्व मेघ में—प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन तो प्रधान है। यक्ष की कथा निकाल देने पर भी उसका काव्यत्व नष्ट नहीं हो सकता।

ऊपर नखशिख की बात आ गई है, इस लिए मनुष्य के रूप-वर्णन के संबंध में भी दो चार बातें कह देना अप्रासंगिक न होगा। कारण दृश्य-चित्रग के अंतर्गत वह सभी आता है। पर उसमें भी रूप-चित्रण का कोई प्रयास हम नहीं पाते, केवल विलक्षण उत्प्रेक्षाओं और उपमानों की भरमार पाते हैं। इन उपमानों के योग द्वारा अंगों की सौन्दर्य-भावना से उत्पन्न सुखानुभूति में अवश्य वृद्धि होती है, पर रूप नहीं निर्दिष्ट होता। काव्य में मुख, नेत्र और अधर आदि के साथ चंद्र, कमल और विद्रुम आदि के लाने का मुख्य उद्देश्य वर्ण, आकृति आदि का ज्ञान कराना नहीं बल्कि कल्पना में साथ साथ इन्हें भी रख कर सौन्दर्यगत आनंद के अनुभव को तीव्र करना है। काव्य की उपमा का उद्देश्य भावानुभूति को तीव्र करना है, नैयायिकों के 'गोसदृशी गवयः' के समान ज्ञान उत्पन्न कराना नहीं। इस दृश्य से विचार करने पर कई

एक प्रचलित उपमान बहुत खटकते हैं—जैसे नायिका की कटि की सूक्ष्मता दिखाने के लिए सिंहनी को सामने लाना, जाँघों की उपमा के लिए हाथी की सूँड़ की ओर इशारा करना। ख़ैर, इसका विवेचन उपमा आदि अलंकारों पर विचार करते समय कभी किया जायगा। अब प्रस्तुत विषय की ओर आता हूँ। मनुष्य की आकृति और मुद्रा के चित्रण के लिए भी काव्य-क्षेत्र में पूरा मैदान पड़ा है। आकृति—चित्रण का अत्यंत उत्कर्ष वहाँ समझना चाहिए जहाँ दो व्यक्तियों के अलग अलग चित्रों में हम भेद कर सकें।

जैसे दो सुंदरियों की आँख, कान, नाक, भौं, कपोल, अधर, चिबुक इत्यादि सब अंगों को लेकर हमने वर्णन द्वारा दो अलग अलग चित्र खींचे। फिर दोनों वर्णनों को किसी और के हाथ में देकर हमने उन दोनों स्त्रियों को उसके सामने बुलाया। यदि वे बतला दें कि यह उसका वर्णन है और यह उसका, तो समझिए कि पूर्ण सफलता हुई। योरूप के उपन्यासों में इस ओर बहुत कुछ प्रयत्न दिखाई पड़ता है। मुद्रा-चित्रण करने में गोस्वामी तुलसीदास जी अत्यंत कुशल दिखाई पड़ते हैं। मृग पर चलाने के लिए तीर खींचे हुए रामचंद्र जी को देखिए—

"जटा—मुकुट सिर सारस—नयननि गौहें तकत सुभौंह सिकोरे"

पूर्वजों की दीर्घ परम्परा द्वारा चली आती हुई जन्मगत वासना के अतिरिक्त जीवन में भी बहुत से संस्कार प्राप्त किये जाते हैं, जिनके कारण कुछ वस्तुओं के प्रति विशेष भाव अंतःकरण में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। बचपन में अपने घर में या बाहर जिन दृश्यों को बराबर देखते आये उनके प्रति एक प्रकार का सुहृदय भाव मनमें घर कर लेता है। हिंदुओं

के बालकों के हृदय में रामकृष्ण के चरितों से संबंध रखने वाले स्थानों को देखने की उत्कंठा बनी रहती है। गोस्वामीजी के इन शब्दों में यही उत्कंठा भरी है—

"अब चित चेत चित्रकूटहि चलु;
भूमि बिलोकु राम–पद–अंकित बन बिलोकु रघुवर–बिहार–थलु"

ऐसे स्थानों के प्रति संबंध की योजना के कारण हृदय में विशेष रूप से भावों का उदय होता है। कोई रामभक्त जब चित्रकूट पहुँचता है, तब वह वहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य पर ही मुग्ध नहीं होता, अपने इष्टदेव की मधुर भावना के योग से एक विशेष प्रकार के अनिर्वचनीय माधुर्य का भी अनुभव करता है। ऊबड़–खाबड़ पहाड़ी रास्तों में जब झाड़ियों के काँटे उसके शरीर में चुभते हैं तब उसके मन में सान्निध्य का यह मधुर भाव बिना उठे नहीं रह सकता कि ये झाड़ उन्हीं प्राचीन झाड़ों के वंशज हैं जो राम, लक्ष्मण और सीता के कभी चुभे होंगे। इस भाव-योजना के कारण उन झाड़ों को वह और ही दृष्टि से देखने लगता है। यह दृष्टि औरों को नहीं प्राप्त हो सकती। ऐसे संस्कार जीवन में हम बराबर प्राप्त करते जाते हैं। जो पढ़े लिखे नहीं हैं वे भी आल्हा आदि सुन कर कन्नौज, कालिंजर, महोबा, नयनागढ़ (चुनारगढ़) इत्यादि के प्रति एक विशेष भाव संचित कर सकते हैं। पढ़े लिखे लोग अनेक प्रकार के इतिहास, पुराण, जीवनचरित्र आदि पढ़कर उनमें वर्णित घटनाओं से संबंध रखने वाले स्थानों के दर्शन की उत्कंठा प्राप्त करते हैं। इतिहासप्रसिद्ध स्थान उनके लिए तीर्थ से हो जाते हैं। प्राचीन इतिहास पढ़ते समय कल्पना का योग पूरा पूरा रहता है। जिन छोटे छोटे ब्योरों

का वर्णन इतिहास नहीं भी करता उनका आरोप अज्ञात रूप से कल्पना करती चलती है। यदि इस प्रकार का थोड़ा-बहुत चित्रण कल्पना अपनी ओर से न करती चले तो इतिहास आदि पढ़ने में जी ही न लगे। सिकंदर और पौरव का युद्ध पढ़ते समय पढ़ने वाले के मन में सिकंदर और उनके साथियों का यवन-वेष तथा पौरव के उष्णीष और किरीट-कुंडल मन में आवेंगे। मतलब यह कि परिस्थिति आदि का कोई चित्र कल्पना में थोड़ा बहुत अवश्य रहेगा। जो भावुक होंगे उनमें अधिक रहेगा। प्राचीन समय का समाज-चित्र हम मेघदूत मालविकाग्निमित्र आदि में ढूँढ़ते हैं और उसकी थोड़ी बहुत झलक पाकर अपने को और अपने समय को भूल कर तल्लीन हो जाते हैं। एक दिन रात में सारनाथ से लौटता हुआ मैं काशी की कुंज-गली में जा निकला। प्राचीन काल में पहुँची हुई कल्पना को लिये हुए उस सकरी गली में जाकर मैं क्या देखता हूँ कि पीतल के सुंदर दीवटों पर दीपक जल रहे हैं। दूकानों पर केवल धोती पहने और उत्तरीय डाले व्यापारी बैठे हुए हैं। दीवारों पर सिंदूर से कुछ देवताओं के नाम लिखे हुए हैं। पुरानी चाल के चौखटे, द्वार और खिड़कियाँ हैं। मुझे ऐसा भान हुआ कि मैं प्राचीन उज्जयिनी की किसी बीथिका में आ निकला हूँ। इतने ही में थोड़ी दूर चल कर म्यूनिसिपेलटी की लालटेन दिखाई दी। बस सारी भावना हवा होगई।

इतिहास के अध्ययन से, प्राचीन आख्यानों के श्रवण से भूतकाल का जो दृश्य इस प्रकार कल्पना में बस जाता है वह वर्तमान दृश्यों को खंडित प्रतीत होने से बचाता है। वह उन्हें दीर्घ काल-क्षेत्र के बीच चले

आये हुए अतीत दृश्यों में मेल दिखाता है और हमारे भावों को काल-बद्ध न रख कर अधिक व्यापकत्व प्रदान करता है। हम केवल उन्हीं से राग-द्वेष नहीं रखते जिनसे हम घिरे हुए हैं बल्कि उनसे भी जो अब इस संसार में नहीं हैं, पहले कभी हो चुके हैं। पशुत्व और मनुष्यत्व में यही एक बड़ा भारी भेद है। मनुष्य उस कोटि की पहुँची हुई सत्ता है जो उस अल्प क्षण में ही आत्मप्रसार को बद्ध रख कर संतुष्ट नहीं रख सकती जिसे वर्तमान कहते हैं। वह अतीत के दीर्घ पटल को भेद कर अपनी अन्वीक्षण बुद्धि को ही नहीं रागात्मिका वृत्ति को भी ले जाती है। हमारे भावों के लिए भूतकाल का क्षेत्र अत्यंत पवित्र क्षेत्र है। वहाँ वे शरीर-यात्रा के स्थूल स्वार्थ से संशिलिष्ट होकर कलुषित नहीं होते, अपने विशुद्ध रूप में दिखाई पड़ते हैं। उक्त क्षेत्र में जिनके भावों का व्यायाम के लिए संचरण होता रहता है, उनके भावों का वर्तमान विषयो के साथ उचित और उपयुक्त संबंध स्थापित हो जाता है। उनके घृणा, क्रोध आदि भाव भी बहुत कम अवसरों पर ऐसे होंगे कि कोई उन्हें बुरा कह सके।

मनुष्य अपने रति, कोध आदि भावों को या तो सर्वथा मार डाले अथवा साधना के लिए उन्हें कभी कभी ऐसे क्षेत्र से ले जाया करे जहाँ स्वार्थ की पहुँच हो, तब जाकर सच्ची आत्माभिव्यक्ति होगी। नये अर्थ-वादी पुराने गीतों को छोड़ने को लाख कहा करें पर जो विशालहृदय हैं वह भूत को विना आत्मभूत किये नहीं रह सकते। अतीत काल में वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति जो हमारा रागात्मक भाव होता है वह प्राप्त काल की वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति हमारे भावों को तीव्र भी

करता है और उनका ठीक ठीक अवस्थान भी करता है। वर्षा के आरंभ में जब हम बाहर मैदान में निकल पड़ते हैं जहाँ जुते हुए खेतों की सोंधी महँक आती है और किसानों की स्त्रियाँ टोकरी लिए इधर उधर दिखाई पड़ती हैं, उस समय कालिदास की लेखनी से अंकित इस दृश्य के प्रभाव से :—

त्वय्यायत्तं कृषि फलमितिभ्रूबिलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्र मारुह्यमालं
किंचित्पश्चाद्व्रजलघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥

हमारा भाव और भी तीव्र हो जाता है—हमें वह दृश्य और भी मनोहर लगने लगता है।

जिन वस्तुओं और व्यापारों के प्रति हमारे प्राचीन पूर्वज अपने भाव अंकित कर गये हैं उनके सामने अपने को पाकर मानो हम उन पूर्वजों के निकट जा पहुँचते हैं और उसी प्रकार भावों को अनुभव कर उनके हृदय से अपना हृदय मिलाते हुए उनके सगे बन जाते हैं। वर्तमान सभ्यता ने जहाँ अपना दखल नहीं जमाया है, उन जंगलों, पहाड़ों, गाँवों और मैदानों में हम अपने वाल्मीकि, कालिदास या भवभूति के समय में खड़ा कल्पित कर सकते हैं। कोई बाधक दृश्य सामने नहीं आता। पर्वतों की दरी–कंदराओं में प्रभात के प्रफुल्ल पद्मजाल में छिटकी चाँदनी में, खिली कुमुदिनी में हमारी आँखें कालिदास, भवभूति आदि की आँखों में जा मिलती हैं। पलास, ऐंगुदी, अंकोट बनों में अब भी खड़े हैं, सरोवर के कमल अब भी खिलते हैं, तालाबों में कुमुदिनी अब

भी चाँदनी के साथ हँसती है, वानीर शाखायें अब भी झुक झुक कर तीर का नीर चूमती हैं पर हमारी दृष्टि उनकी ओर भूल कर भी नहीं जाती। हमारे हृदय से मानों उनका कोई लगाव ही नहीं रह गया। अग्निमित्र, विक्रमादित्य आदि को हम नहीं देख सकते हैं। उनकी आकृति वहन करने वाला आलोक, भगवान् जाने किस लोक में पहुँचा होगा। पर ऐसी वस्तुयें अब भी देख सकते हैं जिन्हें उन्होंने भी देखा होगा। सिप्रा के किनारे दूर तक फैले हुए प्राचीन उज्जयिनी के ढूहों पर सूर्यास्त के समय खड़े हो जाइए, इधर उधर उठी हुई पहाड़ियाँ कह रही हैं कि महाकाल के दर्शन को जाते हुए कालिदास जी हमें देर तक देखा करते थे। उस समय सिप्रा-वात उनके उत्तरीय को फहराता था। काली शिलाओं पर बहती हुई वेत्रवती की स्वच्छ धारा के तट पर विदिशा के खँडहरों के ईंट-पत्थर अब भी पड़े हुए हैं जिन पर अंगराग-लिप्त शरीर और सुगन्ध-धूम से बसे केश-कलाप वाली रमणियों के हाथ पड़े होंगे।

विजली से जगमगाते हुए नये अँगरेज़ी ढंग के शहरों में धुवां उगलती हुई मिलों और ह्वाइट-वे-लेडला की दूकान के सामने हम कालिदास आदि से अपने को बहुत दूर पाते हैं, पर प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में हमारा उनका भेद-भाव मिट जाता है। महासामान्य परिस्थिति के साक्षात्कार द्वारा चिरकालशुद्ध मनुष्यत्व का अनुभव करते हैं, किसी विशेषकालबद्ध मनुष्यत्व का नहीं।

यहाँ पर कहा जा सकता है कि विशेषकालबद्ध मनुष्यत्व न सही पर देशबद्ध मनुष्यत्व तो अवश्य है। हाँ है। इसी देशबद्ध मनुष्यत्व के अनुभव से सच्ची देशभक्ति या देशप्रेम की स्थापना होती है। जो हृदय

संसार की जातियों के बीच अपनी जाति की स्वतंत्र सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता है वह हृदय ही नहीं है। इस स्वतंत्र सत्ता से अभिप्राय स्वरूप की स्वतंत्र सत्ता से है; केवल अन्न धन संचित करने और अधिकार भोगने की स्वतंत्रता से नहीं। अपने स्वरूप को भूल कर यदि भारतवासियों ने संसार में सुख-वृद्धि प्राप्ति की तो क्या? क्योंकि उन्होंने उदात्त वृत्तियों को उत्तेजित करने वाली बँधी बँधाई परंपरा से अपना संबंध तोड़ लिया, नई उभरी हुई इतिहास की अन्य जातियों में अपना नाम लिखाया। फ़िलीपाइन द्वीप-वासियों से उनकी मर्यादा कुछ अधिक नहीं रह गई।

देश-प्रेम है क्या, प्रेम ही तो है। इस प्रेम का आलंबन क्या है? सारा देश अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, नदी-नाले, वन पर्वत सहित सारी भूमि का यह प्रेम किस प्रकार का है। जिनके बीच में हम रहते हैं, जिन्हें बराबर आँखों से देखते हैं, जिनकी बातें बराबर सुनते रहते हैं, जिनका हमारा हर घड़ी साथ रहता है-सारांश यह कि जिनके सान्निध्य का हमें अभ्यास पड़ जाता है उनके प्रति लोभ या राग हो जाता है। देश-प्रेम यदि वास्तव में अन्तःकरण का कोई भाव है तो यही हो सकता है। यदि यह नहीं है तो वह कोरी बकवाद या किसी और भाव के संकेत के लिए गढ़ा हुआ शब्द है। यदि किसी को अपने देश से सचमुच प्रेम है तो उसे अपने देश, मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि सब से प्रेम होगा। वह सबको चाह भरी दृष्टि से देखेगा, वह सबकी सुध करके विदेश में आँसू बहावेगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं

सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो यह भी आँख भर नहीं देखते कि आम प्रणय-सौरभ-पूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोपड़ों के अंदर क्या हो रहा है—वे यदि दस बने ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बता कर देशप्रेम का दावा करें तो उनसे पूछना चाहिए कि भाइयो! बिना रूप-परिचय का यह प्रेम कैसा? जिनके दुःख-सुख के कभी साथी नहीं हुए उन्हें तुम सुखी देखा चाहते हो यह कैसे समझें? उनसे कोसों दूर बैठे बैठे पड़े पड़े या खड़े खड़े विलायती बोली में अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो। प्रेम हिसाब-किताब की बात नहीं है। हिसाब-किताब करने वाले प्रेमी नहीं। हिसाब-किताब से देश-दशा का ज्ञानमात्र हो सकता है। हितचिंतन और हित-साधन की प्रवृत्ति कोरे ज्ञान से भिन्न है। वह मन के वेग या भाव पर अवलंबित है, उसका संबंध लाभ या प्रेम से है, जिसके बिना अन्य पक्ष में आवश्यक त्याग का उत्साह हो नहीं सकता। जिसे ब्रज की भूमि से प्रेम होगा वह इस प्रकार कहेगा:—

"नैनन से रसखान जबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं;
केतिक वै कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं।"

रसखान तो किसी की 'लकुटी अरु कामरिया' पर तीनों पुरों का राज-सिंहासन तक त्यागने को तैयार थे, पर देश-प्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने किसी थके-माँदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों पर रीझ कर या कम से कम न खीझ कर, बिना मन मैला किये कमरे का फ़र्श मैला होने देंगे? मोटे आदमियो, तुम ज़रा सा दुबले हो जाते—

अपने अँदेशे ही में–तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता !

पशु और बालक भी जिनके साथ अधिक रहते हैं उनसे परच जाते हैं। यह परचना परिचय ही है। परिचय प्रेम का प्रवर्तक है। बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता। यदि प्रेम के लिये हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्थ हो जाइए। बाहर निकलिए तो आँख खोल कर देखिए कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले झाड़ियों के बीच कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से बनस्थली कैसी लाल हो रही है, कछारों में चौपायों के झुंड इधर उधर चरते हैं, चरवाहे तान लड़ा रहे हैं, अमराइयों के बीच गाँव झाँक रहे हैं। उनमें घुसिए, देखिए तो क्या हो रहा है। जो मिले उनसे दो दो बातें कीजिए। उनके साथ किसी पेड़ की छाया के नीचे घड़ी आध घड़ी बैठ जाइए और समझिए कि यह सब हमारे देश के हैं। इस प्रकार जब देश का रूप आपकी आँखों में समा जायगा, आप उनके अंग–प्रत्यंग से परिचित हो जायँगे तब आप के अन्तःकरण में इस इच्छा का सचमुच उदय होगा कि वह हमसे कभी न छूटे। वह सदा हरा भरा और फूला फला रहे, उसके धन–धान्य की वृद्धि हो, उसके सब प्राणी सुखी रहें। यह आज-कल इस प्रकार का परिचय बाबुओं की लज्जा का एक विषय हो रहा है। वे देश के स्वरूप से अनजान रहने या बनने में अपनी बड़ी शान समझते हैं। मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत सुन्दर छोटी सी पहाड़ी के ऊपर है। नीचे छोटा मोटा जंगल है, जिसमें महुवे के पेड़ भी बहुत से हैं। संयोग से उन दिनों वहाँ पुरातत्व–विभाग का कैम्प पड़ा हुआ था। रात हो जाने

से उस दिन हम लोग स्तूप नहीं देख सके। सवेरे देखने का विचार करके नीचे उतर रहे थे। बसंत का समय था। महुवे चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला — महुओं की कैसी महक आरही है! इस पर लखनवी महाशय ने चट मुझे रोक कर कहा—यहाँ महुवे सहुवे का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे। मैं समझ गया, चुप हो रहा कि महुवे का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है। पीछे ध्यान आया कि यह वही लखनऊ है जहाँ कभी यह पूछने वाले भी थे कि गेहूँ का पेड़ आम के पेड़ से छोटा होता है या बड़ा!

हिंदूपन की अंतिम झलक दिखाने वाले थानेश्वर, कन्नौज, दिल्ली, पानीपत आदि स्थान उनके गंभीर भावों के आलंबन हैं जिनमें ऐतिहासिक भावुकता है, जो देश के पुराने स्वरूप से परिचित हैं उनके लिए इन स्थानों के नाम ही उद्दीपन–स्वरूप हैं। उन्हें सुनते ही उनके हृदय में कैसे कैसे भाव जाग्रत होते हैं नहीं कह सकते। भारतेंदु का इतना ही कहना उनके लिये बहुत है कि—

हाय पंचनद! हा पानीपत!
अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत।
हाय चितौर निलज तू भारी,
अँजहुँ खरो भारतहिं मँझारी॥

पानीपत, चित्तौर, कन्नौज आदि नाम सुनते ही भारत का प्राचीन हिंदू हृदय आँखों के सामने फिर जाता है। उनके साथ गंभीर भावों का संबंध लगा हुआ है। ऐसे एक एक नाम हमारे लिए काव्य के टुकड़े हैं। यह रसात्मक वाक्य नहीं, तो रसात्मक शब्द अवश्य हैं। अब तक

जो कुछ कहा गया उससे यह बात स्पष्ट होगई होगी कि काव्य में 'आलंबन' ही मुख्य है। यदि कवि ने ऐसी वस्तुओं और व्यापारों को अपने शब्द-चित्र द्वारा सामने उपस्थित कर दिया जिनसे श्रोता या पाठक के भाव जाग्रत होते हैं तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका। संसार की प्रत्येक भाषा में इस प्रकार के काव्य वर्तमान हैं जिनमें भावों को प्रदर्शित करने वाले पात्र अर्थात् 'आश्रय' की योजना नहीं की गई है—केवल ऐसी वस्तुयें और व्यापार सामने रख दिये हैं जिनसे श्रोता या पाठक ही भाव का अनुभव करते हैं। यदि किसी कवि ने किसी दृश्य का पूर्ण चित्रण करके रख दिया तो क्या वह इस लिए काव्य न कहलावेगा कि उसके वर्णन के भीतर कोई पात्र उस दृश्य से प्राप्त आनन्द या शोक को अपने शब्द और चेष्टा द्वारा प्रकट करने वाला नहीं है? कुमारसंभव के आरंभ के उतने श्लोकों को जिनमें हिमालय का वर्णन है क्या काव्य से ख़ारिज समझें? मेघदूत में जो आम्रकूट, विंध्य, रेवा आदि के वर्णन हैं उन सब में क्या यक्ष की विरह-व्यथा ही व्यंग्य है? विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी की गिनती गिना कर किसी प्रकार इसकी शर्त पूरी करना ही जब से कविजन अपना परम पुरुषार्थ मानने लगे तबसे वह बात कुछ भूल भी चली कि कवियों का मुख्य कार्य्य ऐसे विषयों को सामने रखना है जो श्रोता के विविध भावों के आलंबन हो सकें। सच पूछिए तो काव्य में अंकित दृश्य श्रोता के भिन्न भावों के स्वरूप होते हैं। किसी पात्र को रति, हास, शोक, क्रोध आदि प्रकट करता हुआ दिखाने में ही रस-परिपाक मानना और यह समझना कि श्रोता को पूरी रसानुभूति होगई ठीक नहीं। श्रोता वा पाठक के भी

हृदय होता है। वह जो किसी काव्य को पढ़ता या सुनता है सो केवल दूसरों का हँसना रोना, क्रोध करना आदि देखने के लिए ही नही बल्कि ऐसे विषयों को सामने पाने के लिए जो स्वयं उसे हँसाने, रुलाने, क्रुद्ध करने, आकृष्ट करने, लीन करने का गुण रखते हों। राजा हरिश्चंद्र को श्मशान में रानी शैव्या से क़फ़न माँगते हुए, राम-जानकी को बन-गमन के लिये निकलते हुए पढ़कर ही लोग क्या करुणार्द्र नहीं हो जाते ? उनकी करुणा क्या इस बात की अपेक्षा करती है कि कोई पात्र दृश्यों पर शोक या दुःख शब्दों और चेष्टा द्वारा प्रकट करे ? तुलसीदास जी के इस सवैये में—

"कागर कीर ज्यों भूषन चीर शरीर लस्यो तजि नीर ज्यों काई;
मातु पिता प्रिय लोग सबै सनमानि सुभाव सनेह लगाई।
संग सुभामिनि भाइ चले दिन द्वै जनु औध हुते पहुनाई;
राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाई ॥"

पाठक को करुण-रस में मग्न करने की पूरी सामग्री मौजूद है। परिस्थिति के सहित राम हमारी करुणा के आलंबन हैं, चाहे किसी पात्र की करुणा के आलंबन हों या न हों।

———

पं० मन्नन द्विवेदी

[१८८६–१६२१]

—:०:—

पं० मन्नन द्विवेदी हिन्दी के कतिपय होनहार लेखकों में से थे जिनको अपने सूक्ष्म जीवन–काल में अपनी साहित्यिक प्रतिभा की परिपक्वावस्था तथा अपनी लेखन–शक्ति की पूरी स्फूर्ति देखने का सौभाग्य न मिल सका। पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' तथा पं० मन्नन द्विवेदी इस प्रकार के मुख्य लेखक हैं।

मन्नन द्विवेदी को अधिकांश हिन्दी-ज्ञाता लोग केवल उनके 'रामलाल' नामक उपन्यास, 'मुसलमानी राज्य का इतिहास' तथा थोड़ी सी कविताओं के सम्बन्ध में स्मरण करते हैं।

सच तो यह है कि मन्नन द्विवेदी व्रजभाषा के होनहार कवि थे ही, किन्तु साथ ही साथ वे मिश्रित गद्य के एक बड़े उच्चकोटि के लेखक थे। रोचक एवं सजीव गद्य–शैली पर उनका पूरा अधिकार था। 'मुसलमानी राज्य का इतिहास' में उनके उत्कृष्ट गद्य के सर्वोत्तम उदाहरण मिल सकते हैं।

कहना न होगा कि यदि अधिक संख्या में गद्य–ग्रन्थ लिखने का अवकाश उन्हें मिला होता तो निस्सन्देह उनकी

गिनती हिन्दी-गद्य के धुरन्धर लेखकों में हुई होती।

उनके गद्य का सम्बन्ध बहुत कुछ राजा शिवप्रसाद से है अर्थात् राजा साहब की तरह वे भी संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी सब भाषाओं के शब्द और मुहावरों का व्यवहार जी खोलकर करते हैं। परन्तु शिवप्रसाद की भाषा की कृत्रिमता मन्नन द्विवेदी के गद्य में बिल्कुल नहीं है, प्रत्युत, उनके प्रत्येक शब्द से उनकी प्राकृतिक रसपूर्णता तथा सहृदयता टपकती है। यही नहीं मन्नन द्विवेदी की गद्य-शैली में एक प्रकार की अपरिमेय नैसर्गिकता है जिसके कारण पढ़ने वाले को उनके लेख बड़े रमणीक प्रतीत होते हैं।

उनकी भाषा के तल में मार्दवपूर्ण शक्ति गुप्त रीति से विद्यमान रहती है। ऐसे अवसरों पर, जिनपर कि किसी देश-प्रेम को उत्तेजित करने वाले या सांसारिक असारता से सम्बन्ध रखने वाले विषय का वर्णन करना आवश्यक होता है, वह मानसिक शक्ति एकदम से दबी हुई अग्नि-शिखा की भाँति उद्दीप्त हो उठती है। 'मुसलमानी राज्य का इतिहास' में इस का पूरा परिचय मिलता है।

साधारणतः 'इतिहास' में उनकी भाषा उर्दू की ओर अत्यधिक रुख़ लिये हुए है और सीधी-सादी है। परन्तु जब 'राजपूतों के स्वातंत्र्य प्रेम' का या 'औरंगज़ेब की असहिष्णुता' के सम्बन्ध में सूफ़ी-धर्म के सिद्धान्तों को वर्णन करने लगे हैं, तब उनकी भाषा में ख़ास तरह का ओज आ गया है। ऐसे

गम्भीर स्थलों पर मन्नन द्विवेदी की भाषा का प्रवाह अबाध्य हो जाता है और न जाने कहाँ कहाँ की उपयुक्त उक्तियाँ उन्हें स्मरण हो आती हैं। उदाहरण के लिए उनके इतिहास से बुँदेलखंड के राजा चम्पतराय के स्वतंत्रता–संग्राम के वर्णन को देखिए जो औरंगज़ेब के साथ उसने छेड़ा था :—

"माता स्वतंत्रता ने वीर चंपत को अपनी झाँकी दिखला दी थी। अस्तु वह बुँदेला वीर फिर भूखे शेर की तरह भटकने लगा। कहाँ तो वीर अपनी जान पर खेल कर अपना सर्वस्व अर्पण करने के लिए बन बन भटकता था, कहाँ माता के दूसरे पुत्र माता के पैर बेड़ियों से जकड़ने के लिए तैयार हो गये। हिन्दू जाति के लिए यह कोई बात नहीं है। राक्षसों की लंका में सिर्फ़ एक विभीषण पैदा हुआ था। एक ही विभीषण की बदौलत अनहोनी बातें होगईं। सोने की लंका भस्म होगई; पत्थर पानी पर तैरने लगे।"

तथा, "हिंदुओं में जब तक संगठन न होगा तब तक देशहित के गीत से भला होने का नहीं। हममें बड़ा भारी ऐब यह है कि हमारी उदारता और संकीर्णता दोनों हद को पहुँची हुई हैं। जो पत्थरों तक में परमात्मा का दर्शन करते हैं, मंदिरों की सजावट में लाखों ख़र्च कर देते हैं वे अपने भूख से कलपते हिंदू बच्चे को मूठी भर चने देने के रवादार नहीं हैं। जो गाँव के भीटों पर मीलों घूम घूम कर चीटियों के बिलों में आटा छींटते रहने हैं, वे भाई की गर्दन पर छुरा फेरने के लिए सब

से पहले तैयार रहते हैं। अगर अपने को पशु की श्रेणी में गिरा-कर अपने देश का अहित करके आपने अपना स्वार्थ-साधन कर लिया तो क्या ! याद रखिए कि आपका यह स्वार्थ मृगतृष्णा है क्योंकि आप उस विशाल चंदन–वृक्ष (हिंदू-जाति) की एक मुरझाई टँघनी है। आप हरे भरे तभी तक रहेंगे जब तक पेड़ हरा-भरा रहेगा। काट कर आपकी पत्तियाँ अलग सूख जायँगी। भक्त लोग खुरखुरे पत्थर पर आप को ख़ूब रगड़ेंगे। रगड़ रगड़ कर आपको घिस डालेंगे। आपका शरीर घिस कर सुगंध पैदा करेगा और आपके काटने वाले के ललाट की शोभा बढ़ावेगा, लेकिन आप के लिये क्या ? कहाँ वह हवा के ठंढे झोंके, कहाँ वह वन की एकांत भूमि, पर्वत का वह सुरम्य पड़ोस, गंगा की यह हरहराती धारा, पास में हरित मलय–पादप, उसकी गोद में लहराती और मँचलाती शाखा।"

इस काफ़ी बड़े अवतरण से मन्नन द्विवेदी के गद्य की कई बातों का पता लगता है। एक तो, जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, उनकी प्रकृति आवेशमय सी थी जो स्व-तंत्रता, देश–प्रेम, धर्म तथा अन्यान्य इसी प्रकार के उद्दीपक विषयों के नाम–मात्र से फड़क उठती थी। ऐसी बातों पर लिखते उनकी भाषा बड़ी ओज–पूर्ण तथा हृदयग्राही हो उठती है। ऐसे अवसरों पर उन्हें न मालूम कहाँ कहाँ से उपमायें तथा दृष्टान्त सूझ जाते हैं। ऊपर के अवतरण में 'चीटी चुगाने

वाली' बात का उल्लेख करते हुए हिन्दुओं के जीवन ताटस्थ्य का जो विशद वर्णन किया गया है वह बड़ा हृदयग्राही है। इसी प्रकार हिन्दू-ऐक्य की उपमा चन्दन-वृक्ष से जो दी गई है और उसके ऊपर जो लंबा रूपक बाँधा गया है, वे द्विवेदी जी के गद्य की सजीवता के द्योतक हैं।

वास्तव में मन्नन द्विवेदी के गद्य की वर्णन-शक्ति बड़ी प्रबल है। इस बात में उनकी तुलना राजा शिवप्रसाद को छोड़ कर कम लेखकों से हो सकती है।

राजा शिवप्रसाद की वर्णन-दक्षता का ज्ञान उनके इतिहास-तिमिरनाशक में कई स्थानों पर होता है। परन्तु अन्त में यही मानना पड़ता है कि मन्नन द्विवेदी और उनके वर्णनोपयुक्त उपमाओं को लेने के लिए उसका क्षेत्र बड़ा ही संकुचित था। एवं, औरंगज़ेब के विलासी सैनिकों के अल्हड़पन को इस प्रकार हास्य-व्यंग-पूर्ण ढंग से व्यक्त करने में ही उनको आनन्द आ सकता था कि तलवार रह जाय लेकिन चिलम न जलने पावे। तात्पर्य यह हुआ कि उनके वर्णनों में कृत्रिम दृश्यों का अधिक ध्यान रक्खा जाता है। सेना का वर्णन करते समय वे वेष-भूषा को अधिक महत्वपूर्ण समझते थे, क्योंकि शहर के अप्रकृत समाज का टीमटाम उन्हें विशेष आकर्षक प्रतीत होता था। इस प्रसंग में 'औरंगज़ेब की फ़ौज का वर्णन' द्रष्टव्य है।

इसके प्रतिकूल मन्नन द्विवेदी की वर्णन-शक्ति आन्तरिक

मानसिक अवस्था के चित्रण में प्रधानत: तीव्र है। इसके सिवाय जो दृष्टान्त–सम्पन्नता या तो उपमाओं के रूप में अथवा उक्तियों के रूप में मन्नन द्विवेदी के गद्य में है वह राजा शिवप्रसाद में है ही नहीं।

उर्दू पन अवश्य द्विवेदी जी की भाषा में काफ़ी है जो राजा शिवप्रसाद और उनके गद्य के बीच में एक बड़ी संयोजक शृंखला है। अभी ऊपर "वे अपने भूख से कलपते हिन्दू बच्चे को मूठी भर चना देने के रवादार नहीं हैं" वाला जो वाक्य उद्धृत हो चुका है उसमें 'रवादार' शब्द का अचानक प्रयोग मन्नन द्विवेदी के गद्य के मिश्रित स्वरूप का अच्छा प्रमाण है।

उनके गद्य में और कई विशेषतायें हैं। वाक्य–रचना के विचार से वह बड़ा ही सुबोध तथा सुकर है, उसके वाक्य भीमकाय बहुत कम होते हैं, और किसी बात को व्यर्थ में घुमा फिरा कर कहना वे नहीं जानते। हाँ, यह बात दूसरी है कि उसे चुभीली रीति से व्यक्त करने के अभिप्राय से वे प्राय: दृष्टान्तों की झड़ी बाँध देते हैं। अतएव, शैली की रोचकता को बढ़ाने के लिए वे वाग्विस्तर को भी पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाँति कुछ बुरा नहीं समझते।

यह कह सकते हैं कि मन्नन द्विवेदी उस प्रकार के लेखक थे जो भावों की अपेक्षा भाषा को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। उनका यह हौसला सा रहा करता था कि मेरी लिखी हुई

भाषा में ऐसी सजीवता रहे जिससे वह बाचकों के दिलों में घर बनावे और उसे वे समय समय पर कोट (quote) भी कर सकें। तभी तो अपने गद्य के प्रत्येक वाक्य में वे सदैव व्यंजना के गुण को विचारत: लाने की कोशिश करते थे, और इसी लिए उनके लेख गद्य–पंक्तियों तथा भावपूर्ण शब्दों से युक्त होते हैं। इस बात का उत्तम उदाहरण ऊपर उद्धृत किये हुए अवतरण के उस अंश में मिलता है जो इस प्रकार है :—

"कहाँ वह हवा के ठंढे झोंके............गंगा की वह हरहराती धारा।"

इस वाक्य में लेखक ने केवल बाचकों के चित्त पर गहरा प्रभाव डालने के उद्देश्य से सुन्दर शब्दों के द्वारा एक मनोरम प्राकृतिक दृश्य का चित्र खींचा है। साधारण लेखक उसी बात को थोड़े से शब्दों में सीधी तरह से व्यक्त कर सकता था।

अस्तु, मन्नन द्विवेदी का गद्य आवेशपूर्णता, सजीवता तथा व्यंजकशक्ति के कारण सदैव साहित्यिक दृष्टि से रोचक रहेगा। संस्कृतज्ञों के शुद्धवाद तथा मिश्रित भाषा के परिपोषकों के मिश्रणवाद दोनों अनौचित्यों से उनकी गद्य–शैली सर्वथा मुक्त है। मुहावरों और अवतरित वाक्यों (quotations) के प्राचुर्य से उनकी भाषा का एक अद्वितीय स्थान रहेगा।

औरंगज़ेब की धार्मिक असहिष्णुता

भारतवर्ष वही था, जहां हमने शताब्दियों तक राज्य किया था,

हमारे शरीर में रक्त भी उन्हीं जगद्विजयी पूर्वजों का था, हमारे हाथ पैर और बाहरी टीमटाम भी वैसे ही थे। श्रावणी में हम रक्षाबन्धन बाँधते थे लेकिन उस राखी में हिन्दू-जाति को एक में गूँथ देने की शक्ति बाक़ी नहीं रह गई थी। रामलीला हम बदस्तूर मानते थे, लेकिन हमारे रामबाण में इतना बल कहाँ कि अत्याचारी रावण के दस सिर बेधन कर फिर वापस आ जाते। दिवाली हम करते थे लेकिन हमारे दीपकों में वह प्रकाश नहीं था जो संसार की आँखों को चकाचौंध कर देता था। होली भी हम रो पीट कर करते ही थे लेकिन हमारा गुलाल आर्य-जाति को राष्ट्रीयता के रंग में रँगने में समर्थ नहीं था। जन्माष्टमी में भगवान् का जन्मोत्सव मनाते थे लेकिन वह प्रचंड ज्योति कहाँ जिसके देखते देखते परतंत्रता की बेड़ियाँ टूट कर गिर जायँ! वे चरण कहाँ जिनके चरण छूने से हमारे संकट की सरिता सूख जाय! वह मोहन की मुरली कहाँ जिसकी तान हमको देश-ममता के मद में मस्त कर देती! हिन्दू-जाति निष्प्राण हो गई थी, केवल बाहरी ढाँचा रह गया था। भला उससे मुग़ल लोग या कोई भी कैसे डरने लगे? इस लिए हम पर आघात पर आघात हुए। अत्याचार के सिल पर और बेईमानी के बट्टे से नवधाभक्ति में मग्न हिन्दू पीसे गये। इनको रगड़ कर नौरतन की चटनी बनाई गई।

कितने मुसलमान भी औरंगज़ेब के तअस्सुब के शिकार हो गये। इस कट्टर मुसलमान बादशाह की नज़रों में सिर्फ़ ख़ुदारसूल और कलाम मजीद का मान लेना काफ़ी नहीं था। मुसलमानी मज़हब की हर एक बात की जब उसी तरकीब से माने जैसा बादशाह आलमगीर

मानता था, तब आदमी पक्का मुसलमान समझा जाता था। इतने पर भी अगर उस पर किसी तरह का पोलिटिकल शुबहा हुआ, फ़ौरन कोई मज़हबी कचाई भी निकल आती थी। ऐसे लोगों में वे फ़कीर और महात्मा लोग थे जिनको दारा मानता और जानता था। शाह मुहम्मद नामक एक अच्छा संत था। वह बदख़शाँ का रहने वाला और लाहौर के मशहूर साधू मियाँ मीर का चेला था। काश्मीर में उसने अपनी कुटी बनाई। उसके मुँह से ज्ञान, वैराग्य और वेदान्त की अमूल्य शिक्षायें और मनोहर पद्य निकलते रहते थे। दूर दूर के लोग उसके दर्शन के लिए आते थे। सूफ़ी मज़हब के नाम से हमारे पाठक अपरिचित न होंगे। वह मुसलमानी लिबास में अद्वैत वेदान्त का दूसरा स्वरूप है। वेदान्त के "अहं ब्रह्मास्मि" "शिवोहं" इत्यादि वाक्यों के भाव को लेकर सूफ़ी महात्माओं ने कितने अच्छे अच्छे ग्रंथ और पद बना डाले हैं! शंकर भगवान्, महात्मा रामकृष्ण, स्वामी विवेकानंद और स्वामी रामतीर्थ महाराज ने वेदान्त-शिक्षा को ख़ूब अच्छी तरह दर्शाया है लेकिन इन सबसे पहले ख़ुद योगीराज कृष्ण ने कुरुक्षेत्र के रणस्थल में वेदान्त के तत्त्व को गीता-रूप में संसार को भेंट किया है। जीव अमर, अजर है। न वह जन्म धारण करता है, न वह बालक, युवा और न वृद्ध है। सुख दुःख का भोगने वाला, बंधनों में भटकने वाला वह कोई बंदी नहीं है, वह स्वयं परब्रह्म चिदानंद, शान्तिस्वरूप अनाम, अनीह, अनंत, अपार, और अच्युत है। पांचभौतिक तत्वों से बने हुए शरीर का उपयोग करते हुए भी वह इससे परे है। स्थूल और सूक्ष्मादि अनेक देह उसके मोटे पतले भिन्न भिन्न प्रकार के वस्त्र मात्र हैं। माता, पिता, भाई, बन्धु, स्त्री

और पुत्र कोई किसी का कुछ नहीं है। इसका पता भी तो नहीं है कि कौन कितने दफ़े किसका पिता और कितने बार किसका पुत्र हो चुका है। इस लिये महात्मा लोग संसार में रहकर भी संसार के नहीं होते हैं। कमल का पत्ता जल में रह कर भी नहीं भीगता है। जब संसार के नाते-रिश्ते थोड़ी देर के तमाशे हैं और जब जीव मरता नहीं, केवल पुराने कपड़े उतार कर नये धारण कर लेता है, फिर शोक किस बात का, किसी के मरने पर ग़म क्यों मनाया जाय? तुच्छ शरीर से निकल कर संसार के विराट-रूप में प्रवेश करने की ख़ुदाई को जुदाई क्यों माना जाय? इस लिए संत लोग परिवार में रहते हुए भी सदा उसको त्यागने के लिए सन्नद्ध रहते हैं। वियोग होने पर वे अपने योग के पंखों पर ज्ञान-गगन में मँडराने लगते हैं। चिड़िया टहनी पर बैठती ज़रूर है लेकिन टहनी कट जाने से वह उसके साथ ज़मीन पर नहीं गिरती है, ऊपर आकाश-मंडल में उड़ने लगती है। साधू लोग धन-दौलत की भी परवा नहीं करते हैं। जब दुनिया ही फ़ानी है तो उसके माल-टाल का क्या ठिकाना है? फिर जो जगत् भर के लोगों को अपना स्वरूप मानता है वह संसार के सर्वस्व को अपना मानते हुए अपनी शान में मस्त है। बादशाह होने की वजह से आप ज़रूर बड़े कहे जायँगे लेकिन आपसे कहीं बढ़ कर वह है जिसने आपकी तरह असंख्य बादशाहों की सल्तनत दुनिया को माफ़ी बख़्श दी है। अमेरिका के प्रेसीडेन्ट ने महात्मा रामतीर्थ महाराज से कुछ माँगने के लिए कहा। राम शहंशाह ने हँसते हुए कहा—

"बादशाह दुनिया के हैं मोहरे मेरे शतरंज के।

दिल्लगी की चाल है सब शर्त सुलहो जंग के ॥"

ऐसे देवताओं के लिए मौत भी एक मज़ाक़ का सामान है। भीष्म-पितामह ने शरशय्या पर धर्मोपदेश दिये। हज़रत मसीह ने सूली पर भी अपने प्रतिवादियों के लिए प्रार्थना की, महर्षि सुकरात ने आनंद से विष का प्याला मुँह में लगाया। रामतीर्थ जी महाराज ने सच्चे हिन्दू की तरह भक्ति से अपना शरीर गंगा मैया को भेंट कर दिया।

"गंगा मैं तेरी बलि जाऊँ।
हाड़मास तुझे अर्पण करदूँ यही फूल बताशा लाऊँ
रमण करूँ मैं शतधारा में न तो नाम न राम कहाऊँ"

जैसा कहा जा चुका है कि वेदान्ती और सूफ़ी में महज़ नाम और रूप का फ़र्क़ है। सूफ़ी ख़ुदा की याद में मस्त रहता है। बाग़ में, गुल में, बुलबुल और सरो में, कामिनी के चाँद से मुखड़े में, मस्तानी तानों से जहाँ कहीं देखता है यार की सूरत, मोहन की माधुरी मूरत नज़र आती है। जब तक मंज़िले-मक़सूद नहीं पहुँचे हज़ार झगड़े हैं। रास्ते की दिक़्क़तें और लाख उधेड़-बुन हैं लेकिन जब जो जिसका था उससे मिल कर एक हो गया फिर चिंता किस बात की। योग कैसा, भोग कैसा, रोज़े और नमाज़ कैसे?

देखते ही यार के शिकवे सारे भूल गये।
बस गूँगे बन कर बैठ गये कलमा कलाम भी भूल गये।

प्यारे प्रीतम के प्रेम की लहर चारों तरफ़ लहरा रही है। देख कर आँखें सहम सी गई हैं।

"दरियाय इश्क़ बह रहा लहरों से बेशुमार"

सरमद नाम का एक मशहूर सूफ़ी था। दारा इसको मानता था। इस लिए यह औरंगज़ेब का क्रोध–भाजन हुआ। औरंगज़ेब की आज्ञा से मक्कार मुसलमानों की एक कमेटी सरमद के न्याय करने को बैठी। चार्ज लगाया गया कि वह नंगा रहता है। अगर असल में औरंगज़ेब का यही मतलब था तो नागे–वैरागी पहले क़त्ल होने चाहिए थे, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। सरमद का बड़ा भारी और मुख्य अपराध तो यह था कि वह दारा का मित्र था। दारा के मरने पर भी औरंगज़ेब डरता था कि कहीं सरमद अपनी क़ूवत से कुछ बला न गिराये। औरंगज़ेब को पता नहीं था कि संत लोगों के लिए न कोई मित्र है और न कोई शत्रु और न संसार को तृण–समान जानने वाले महात्मा को औरंगज़ेब की सल्तनत और शान की परवाह थी। अधम औरंगज़ेब के अन्यायी न्यायकारियों ने फ़क़ीर को प्राणदण्ड की आज्ञा दी। लेकिन जो इन लोगों के लिए बड़ी भारी चीज़ थी वह सरमद के लिए महज़ दिल्लगी थी। जो दिन–रात प्रीतम के प्रेम में मतवाला रहता था वह कितने दिन तक उसका वियोग सह सकता था?

"कौनसी है वह जुदाई की घड़ी जो उम्र भर,
आरज़ूये वस्ल में यह दिल भटकता ही रहा"

लेकिन :—

"जाकर जापर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलत न कुछ संदेहू।"

जिसका जिस पर प्रेम होता है वह अवश्य उसे मिलता है।

"पा गया बस चेहरये मक़सूद को लैली के वह।
जो हुआ है मिस्ल मजनूँ बुलबुले गुलज़ारे इश्क़॥"

मौत की आज्ञा फ़क़ीर को सुनाई गई। उसके आनन्द का ठिकाना नहीं। इतने दिन अकेले रहने वाले, जुदाई में तपने वाले सरमद का अब ब्याह होगा। ब्याह होगा ऐसे पुरुष से जिससे बढ़ कर संसार में या कहीं भी कोई न हुआ और न कोई होगा। वह समझता था —

"भूली योवन मद फिरै अरी बावरी बाम।
यह नैहर दिन दोय को अंत कंत से काम॥"

मंडपरूपी सूली तैयार की गई। वहीं सरमद का उसके प्यारे का मिलन होगा। पल पल युग के समान बीत रहा है। अपने अवगुणों को ध्यान करके पैर आगे नहीं पड़ता है, कलेजा दहल रहा है, आनन्द, भय और लज्जा से रोमांच हो आये हैं, प्रीतम के दिव्य स्वरूप का ध्यान करके आँखें झप जाती हैं। देखते देखते घड़ी आ गई, ओफ़ कैसा दिव्य स्वरूप है! क्या बाँकी झाँकी है!

"तेरी सूरत से नहीं मिलती किसी की सूरत,
हम जहाँ में तेरी तसवीर लिये फिरते हैं।"

देखते देखते विवाह की घड़ी आ गई। अब प्रीतम सरमद के सिर में सिंदूर देंगे। उसके सिर में लालिमा की रेखा दौड़ेगी। ऐसे बड़े का ब्याह फिर चुटकी से ज़रा सिंदूर थोड़े ही दिया जायगा। प्रेम में भीगे हुए मस्ती में चूर प्रेमियों की शादी! सर्वांग लाल करना होगा, खड्ग-श्रृंगार किया जायगा। सरमद माथा खोले, सिर नीचे किये संकोच से सिकुड़ा हुआ खड़ा है। प्यारे ने आकर हाथ से ठुड्डी पकड़ मुँह ऊपर उठा दिया, आँखें मिल गईं, अन्तर न रहा, बिछुड़े हुए मिल कर एक हो गये। जो तुम वही हम और जो हम वही तुम, जब ऐसी बात है

फिर हम और तुम को भेद कहाँ !

"दरस बिनु दूखन लागो नैन ।
जब से तुम बिछुरे मेरे प्रभु जी कबहुँ न पायो चैन"

"हमरी उमरिया होरी खेलन की,
पिया मोसे मिलके बिछुर गयो हो ।
पिय हमरे हम पिय की पियारी,
पिय बिच अंतर परि गयो हो ।
पिया मिलैं तब जियों मोरी सजनी,
पिया बिनु जियरा निकर गयो हो ।
इत गोकुल उत मथुरा नगरी,
बीचि डगर पिय मिल गयो हो ।
धरमदास बिरहिनि पिय पाये,
चरन कमल चित गहि रहो हो ।"

अब सूली पर चढ़ा सरमद और सामने उसका मनचोर माखन-चोर हरी —

"यार को हमने जा बजा देखा ।
कहीं ज़ाहिर कहीं छिपा देखा ॥"

"गुम कर ख़ुदी को तो तुझे हासिल कमाल हो"

खड्ग ने अपना काम किया, सरमद और उसके प्रीतम एक मिल गये, प्रेम के गीत गाते हुए सरमद बिदा होगया ।

"साक़ी ने अपना हाथ दिया भर के जाम सोज़,
इस ज़िन्दगी के कैफ़ का टूटा ख़ुमार आज ।"

महात्मा इस लोक से हँसते हँसते बिदा हो गया । उसका नश्वर शरीर

नाश हो गया लेकिन अपना अमर नाम वह छोड़ गया और हमारे लिए "अनल-हक़" का उपदेश। सज्जन लोग दूसरों के लिए कष्ट उठाते हैं; कष्ट को वे कष्ट ही नहीं समझते। तो सोने की परीक्षा कैसे हो? खराद पर चढ़े बिना हीरे की जाँच कैसे हो?

"किया दावा अनलहक़ का हुआ सरदार आलम का।
अगर चढ़ता न सूली पै तो वह मंसूर क्यों होता?"

अत्याचार का मुख्य प्रयोजन होता है लोगों को दबाना, लेकिन परिणाम इसका उलटा होता है। दुनिया के इतिहास में जहाँ कहीं आप देखेंगे अत्याचार से असंतोष का फैलना पाया जाता है। रगड़ लगने से चंदन-वन में भी आग लग जाती है। उसी तरह औरंगज़ेब के ज़ुलम ने मरी हुई जाति को सचेत कर दिया। अकबर की कुटिल नीति के क्लोरोफ़ार्म से जो बेहोश हो गये थे औरंगज़ेब ने जोंके दे देकर उनको होश में ला दिया। साधू सिक्ख प्रबल योद्धा हो गये, लुटेरे मरहटे फ़तेह-याब दुश्मन हो गये, अपनी मर्यादा से गिरे हुए राजपूत फिर कमर कस खड़े हो गये।

इनके अतिरिक्त सतनामियों ने भी अत्याचार सह कर सर उठाये थे। एक मुसलमान सिपाही ने कुछ सतनामी किसानों को सताया जिससे पीड़ित होकर उन लोगों ने उसको दंड दिया। मुसलमानी राज्य में मार खाकर भी मुसलमान सिपाही को मारने का हिन्दुओं का क्या हक़ था? सतनामियों को दंड देने के लिए कुछ सिपाही भेजे गये जो परास्त हुए। अन्त में एक बड़ी सेना दंड देने के लिए भेजी गई। बहादुर सतनामी सामान के न होते हुए भी बड़ी वीरता से लड़ते रहे। अंत में परास्त हुए और हजारों की संख्या में मारे गये।

प्रेमचन्द

प्रेमचन्द की गद्य-शैली

——:o:——

जिस प्रकार प्रेमचन्द जी आजकल के सर्वश्रेष्ठ कहानी तथा उपन्यास-लेखकों में गिने जाते हैं, उसी प्रकार इस समय के सर्वोत्कृष्ट गद्य-लेखकों में उनका बड़ा ऊँचा स्थान है।

जिस ढँग की गद्य-शैली का आविष्कार तथा प्रचार आधुनिक युग में राजा शिवप्रसाद, पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा बाबू बालमुकुन्द गुप्त के सहयोग से हुआ उसी का परिपक्व रूप प्रेमचन्द में मिलता है। राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी के प्रचार की अधिक सम्भावना इसी बात में देखी कि उसका संस्कृत-पन घटाकर उसके बदले में उसका मेल उर्दू से किया जाय। इसी लिए उन्होंने शिक्षा-विभाग के एक ऊँचे पद पर भाषा तथा इतिहास की ऐसी पाठ्य पुस्तकें तैयार कीं जिनकी भाषा आधी उर्दू से भरी थी। पर, उन्होंने सिवाय हिन्दी और उर्दू का मिश्रण करने के तथा आगे के लिए यह पद्धति चला देने के कोई विशेष उल्लेख्य काम नहीं किया। उनका यह उद्योग शीघ्र ही उनके निकटवर्ती लेखकों की रचनाओं में

पल्लवित भी होने लगा। बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, तथा कई प्रसिद्ध उपन्यास–लेखकों की भाषा में राजा साहब का वह सत्प्रयत्न प्रतिबिम्बित हुआ।

भट्ट जी ने अपनी भाषा काफ़ी परिष्कृत तथा बामुहावरा लिखी, किन्तु उन्होंने स्वयं संस्कृतज्ञ होने के कारण उसमें संस्कृत का गहरा रंग लगाया और उनकी प्रकृति में जो हास्य-प्रियता थी उसकी भी अच्छी मात्रा रक्खी।

मिश्र जी ने तो मुहावरों की झड़ी लगा दी। उनकी भाषा भट्ट जी की भाषा की अपेक्षा अधिक सुबोध पर साहित्यिक दृष्टि से निम्नतर है। क्योंकि हिन्दी का प्रचार बढ़ाने के लिए ही उन्होंने 'नाक', 'भौं', 'दाँत', 'मरे का मारै शाह मदार', ऐसे सुगम विषयों पर लेख लिखे।

द्विवेदी जी ने भट्ट जी के प्रारम्भ किये हुए भाषा-परिशुद्धि के प्रयत्न को बड़ी सुचारु रीति से पूरा किया। हिन्दी-गद्य को काट-छाँट कर उसे नया रूप देने का श्रेय उन्हीं को है।

द्विवेदी जी के पीछे प्रेमचन्द जी का ही नाम आता है। जिस मिश्रित, मुहावरेदार, प्रसादगुणपूर्ण गद्य–शैली को द्विवेदी जी ने सँवारा है और उसका उपयोग वर्षों तक किया है उसी को प्रेमचन्द जी ने अधिक लचीला बनाया है और उसमें कुछ नये गुण उत्पन्न किये हैं।

प्रेमचन्द के गद्य की वर्णनात्मक शक्ति बड़ी प्रबल है। यह गुण न तो भट्ट जी के गद्य में ही है और न मिश्र जी तथा द्विवेदी

जो के गद्य में है। राजा शिवप्रसाद में अलबत्ता वर्णन करने की यह शक्ति कुछ कुछ थी। उनका लिखा हुआ 'औरंगज़ेब की फ़ौज का वर्णन' देखने योग्य है। और उनकी वर्णन करने की योग्यता केवल बाहरी वेष-भूषा तक ही परिमित है। जहाँ हृद्गत भावों को तथा प्राकृतिक सौन्दर्य को अंकित करने का काम पड़ा कि वे असमर्थ हो जाते हैं। द्विवेदी जी में भी वर्णन-शक्ति का अभाव सा है। अपने स्वतंत्र विचार चलती-फिरती सुबोध भाषा में विशद रीति से प्रकट करने में अवश्य वे सिद्धहस्त हैं।

प्रेमचन्द इस बात में उन सबों से बाज़ी मार ले जाते हैं। इसका कारण भी हो सकता है कि वे शुरू से कहानी तथा उपन्यास लिखने में ही विशेष रहे हैं। तभी वर्णन करते समय वे भाषा को विचित्र प्रकार से तोड़-मरोड़ लेना ख़ूब जानते हैं। जब कभी किसी वाह्य प्रकृति के दृश्य को अथवा वाह्य घटना को चित्रित करने लगते हैं तो ऐसा जान पड़ता है कि उनकी क़लम से भाषा-सौन्दर्य के फुहारे से छूटते हैं। एकही बात का उल्लेख वे कई उपमाओं या दृष्टान्तों से चुने हुए शब्दों में करते हैं। इस प्रकार के वर्णनों का नमूना लीजिए :—

"श्रावण का महीना था। आकाश पर काले काले बादल मँडला रहे थे, मानो काजल के पर्वत उड़े जा रहे हों। झरनों से दूध की धारें निकल रही थीं और चारों ओर हरियाली छाई हुई थी। नन्हीं नन्हीं फुहारें पड़ रही थीं मानो स्वर्ग से

अमृत की बूँदें टपक रही हों। जल की बूँदें फूलों और पत्तियों के गले में चमक रही थीं······इस ऋतु में माली.की कन्या धानी साड़ी पहन कर क्यारियों में अठिलाती हुई चंपा और बेले के फूलों से आँचल भरती है।······इन दिनों रमणी का चित्त आपही आप झूला झूलने के लिए विकल हो जाता है। जब वन के वृक्ष झूले झूलते हों, जल की तरंगें झूले झूलती हों, और गगन-मंडल के मेघ झूले झूलते हों, जब सारी प्रकृति आंदोलित हो रही हो, तो रमणी का कोमल हृदय क्यों न चंचल हो जाय!······" ('शाप')

तथा:—

"······उस संगीत में कोयल की सी मस्ती है, पपीहे की सी वेदना है, श्यामा की सी विह्वलता है, इसमें झरनों का सा ज़ोर है और आँधी का सा बम ······।"

अब देखिए किसी पुरुष की मानसिक दशा का दृश्य वे कैसे ज्यों का त्यों रख देते हैं:—

"······सदन के चेहरे पर आनन्द-विकाश की जगह भविष्य की शंका झलक रही थी, जैसे कोई विद्यार्थी परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद चिन्ता में ग्रस्त हो जाता है। उसे अनुभव होता है कि वह बाँध जो संसार रूपी नदी की बाढ़ से मुझे बचाये हुये था, टूट गया है और मैं अथाह सागर में खड़ा हूँ।" (सेवासदन-पृष्ठ ३१३)

"कोयल आम की डालियों पर बैठ कर, मछली शीतल

जलं में क्रीड़ा कर और मृग-शावक विस्तृत हरियालियों में छलाँगें भर कर इतने प्रसन्न नहीं होते, जितना मंगला के आभूषणों को पहन कर शीतला प्रसन्न हो रही है। उसके पैर ज़मीन पर नहीं पड़ते। वह आकाश में विचरती हुई जान पड़ती है। कभी केशों को सँवारती है, कभी सुरमा लगाती है। कुहरा फट गया है ; और निर्मल स्वच्छ चाँदनी निकल आई है···"

('आभूषण')

अभी प्रेमचन्द जी की जिस वर्णन-कुशलता का ज़िक्र किया गया है उसके सम्बन्ध में कई और भी बातें ध्यान देने योग्य हैं। उनकी वर्णन-शैली की हृदय-ग्राहिता मुख्यत: दो कारणों पर निर्भर है। एक तो वे जितने वाक्य लिखते हैं वे सदैव लम्बे होते हैं जिससे उनका प्रवाह बड़ा ही अबाध होता है। क्योंकि जितनी ही सूक्ष्म वाक्य-रचना होती है उतना ही उनका लय मुदित होता है और जितनी ही वह विस्तृत होती है उतनी ही अधिक उनमें प्रभावपूर्णता तथा व्यंजन-शक्ति होती है।

दूसरी बात यह है कि वे प्राय: समीकृत वाक्य लिखते हैं जिनमें एक ही भाव कई तद्रूप पदों से प्रकट होता है। ऐसे समीकृत वाक्यों से भाषा में अनोखा माधुर्य आ जाता है तथा वह चमत्कारपूर्ण हो जाती है।

उदाहरणार्थ:—

"···उसकी आँखों से आँसू की नदी बह रही थी। पति

ने प्रेम के मद में मत्त हो कर घूँघट हटा दिया। दीपक था, पर बुझा हुआ। फूल था, पर मुरझाया हुआ।" ('धोखा')

इन सब गुणों के अतिरिक्त प्रेमचन्द की लेखन-शैली की एक सबसे अधिक स्मरणीय विशेषता यह है कि वे यथास्थल न जाने कहाँ कहाँ से ढूँढ़ कर ऐसे भावपूर्ण मुहावरों का प्रयोग करते हैं जिनसे उनकी भाषा में अनुपम रोचकता आविर्भूत हो उठती है। वास्तव में मुहावरों का जितना सुन्दर उपयोग उन्होंने किया है उतना शायद ही आजकल के किसी अन्य गद्य-लेखक ने किया हो। शुद्धवादी साहित्यज्ञ इस मुहावरों की भरमार को चाहे भले ही कृत्तिमतापूर्ण ठहरावें, किन्तु जिसे भाषा-सौन्दर्य को परखने का और उससे आनन्द प्राप्त करने का चाव है उसे प्रेमचन्द की भाषा बिना रसीली प्रतीत हुए नहीं रह सकती। पर, यह तो मानना पड़ेगा कि मुहावरों का इतना आधिक्य होने से उनके गद्य की वर्णन-शक्ति का प्राबल्य प्रकट होता है। मालूम पड़ता है कि उन्होंने आख्यानोपयुक्त भाषा के ऊपर अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न किया है। एवं, अन्य गम्भीर विषयों पर लिखने में उनकी रचना-शैली उतनी सफल नहीं सिद्ध हो सकती जितनी कि कहानियाँ लिखने में वह सफल हुई है।

जिस प्रकार प्रेमचन्द जी ने अपनी भाषा में मुहावरों तथा उपमाओं को कुशलतापूर्वक गुम्फित करके अपनी व्यंजन-शक्ति की प्रगल्भता दिखाई है, उसी प्रकार उन्होंने भाषा के

साथ अनेक स्थलों पर क्रीड़ा सी की है। उन्हें गद्य-रचना करने में ऐसा हस्त-लाघव सा प्राप्त हो गया है कि कभी कभी केवल अपनी साहित्यिक रुचि को संतृप्त करने के उद्देश्य से ही वे एक ही बात को प्रकाशित करते समय शब्दों की झड़ी लगा देते हैं। जैसे :—

"विमल ने कुछ जवाब न दिया। विस्मित हो हो कर कभी शीतला को देखता और कभी घर को। मानो किसी नए संसार में पहुँच गया है। यह वह अधखिला फूल न था, जिसकी पखड़ियाँ अनुकूल जल-वायु न पाकर सिमट गई हों। यह पूर्ण विकसित कुसुम न था—ओस के जलकणों से जगमगाता और वायु के झोंकों से लहराता हुआ।"

('आभूषण')

तथा :—

"सुभद्रा वहीं पाषाण-मूर्ति की भाँति खड़ी रही।...उसे अब अपने हृदय में एक प्रकार के शून्य का अनुभव हो रहा था, जैसे कोई बस्ती उजड़ गई हो। जैसे कोई संगीत बंद हो गया हो, जैसे कोई दीपक बुझ गया हो"।

('सोहाग का शव')

इस तरह प्रेमचन्द भाषा के साथ अठखेलियाँ सी करते हैं। उसके द्वारा वे हार्दिक उल्लास का अनुभव करते हैं और वाचकों को भी वही उल्लास प्रदान करते हैं।

अब इस आलोचना को अधिक न बढ़ाकर उनकी गद्य-

शैली की विशेषताओं का संक्षेप में सिंहावलोकन करके इसे समाप्त करना है। अपने निकटवर्ती तथा पूर्ववर्ती हिन्दी–गद्य के प्रमुख उन्नायकों के मुक़ाबले में निस्सन्देह प्रेमचन्द जी ने अपनी रचनाओं के द्वारा गद्य–शैली को बहुत ही पल्लवित कर दिया है। जैसा कि अभी कह आये हैं उन्होंने पूर्वप्रचलित परम्परागत गद्य की भाषा में जिन नये उपादानों का समावेश किया है उनसे उसकी भाव–प्रदर्शन शक्ति अधिकाधिक व्यापक हो गई है। वर्णन प्रयोग के लिए तो वह सर्वोत्तम है ही, क्योंकि गूढ़ से गूढ़ तथा सरल से सरल भावों को सुगम किन्तु रोचक ढँग से प्रकट करने में वह सर्वथा समर्थ है। पर, इसके अलावा उनके मिश्रित भाषा में लिखे हुए तथा शिष्ट–समाज की बोल–चाल की भाषा से मिलते–जुलते गद्य ने हिन्दी की गद्य–शैली का साहित्यिक स्वरूप सदा के लिए एक निश्चित साँचे में ढाल दिया है। उनकी टकसाली भाषा–शैली ने अब भावी लेखकों को एक निर्धारित मार्ग दिखा दिया है। अब वह पुरानी बहस कि हिन्दी–गद्य की भाषा संस्कृतमय होनी चाहिए कि उर्दू मय सदा के लिए दब गई। पिछले गद्य–लेखकों का अधिकतर समय तथा उनकी साहित्यिक शक्तियाँ हिन्दी–प्रचार में तथा हिन्दी की भाषा का संस्कार करने ही में लगी रहीं। प्रेमचन्द ने स्वयं उर्दू दाँ होने के कारण तथा अपने पूर्ववर्ती हिन्दी–लेखकों के प्रयत्न से पूरा लाभ उठाते हुए एक सुन्दर, रोचकशैली का आविष्कार किया है।

बालकृष्ण भट्ट तथा द्विवेदी जी ने गद्य की भाषा को संस्कृत के हवाले सौंप दिया था। उसे इस फन्दे से प्रेमचन्द आदि कतिपय उर्दू ज्ञाता लेखकों ने युक्त किया है। इसी तरह द्विवेदी जी ने अपने पूर्वकालीन साहित्यिक जीवन में उसे बड़ा गम्भीर बना दिया था। इस अनावश्यक दुरूहता का प्रतीकार भी प्रेमचन्द ने किया है। उन्होंने उसे दुरूहता के दलदल से निकाल कर उसमें रोचकता ला कर उसकी रचना-तारल्य की वृद्धि की है।

इस विचार से प्रेमचन्द आधुनिक गद्य-साहित्य के सबसे बड़े उन्नायक हैं जिनके महत्वपूर्ण कार्य की जितनी प्रशंसा की जाय वह थोड़ी है।

मानसिक सन्ताप

सुमन झोंपड़े में चली गई, लेकिन शान्ता वहीं अँधेरे में चुपचाप सिर झुकाये खड़ी रो रही थी। जबसे उसने सदनसिंह के मुँह से वह बातें सुनी थी, उस दुखिया ने रो रो कर दिन काटे थे। उसे बार बार अपने मान करने पर पछतावा होता। वह सोचती यदि मैं उस समय उनके पैरों पर गिर पड़ती तो उन्हें मुझ पर अवश्य दया आ जाती। सदन की सूरत उसकी आँखों में फिरती और उसकी बातें उसके कान में गूँजतीं। बातें कठोर थीं, लेकिन शान्ता को वह प्रेम और करुणा से भरी हुई प्रतीत होती थीं। उसने अपने मन को समझा लिया था कि यह सब मेरे कुदिन का फल है, सदन का कोई अपराध नहीं। वह वास्तव

विवश है। अपने माता पिता की आज्ञा पालन करना उनका धर्म है। यह मेरी नीचता है कि मैं उन्हें धर्म के मार्ग से फेरना चाहती हूँ। हाँ, मैंने अपने स्वामी से मान किया, मैंने अपने आराध्यदेव का निरादर किया, मैंने अपने कुटिल स्वार्थ के वश होकर उनका अपमान किया। ज्यों ज्यों दिन बीतते थे, शान्ता की आत्मग्लानि बढ़ती जाती थी। इस शोक, चिन्ता और विरह पीड़ा से वह रमणी इस प्रकार सूख गई थी जैसे जेठ के महीने में नदी सूख जाती है। सुमन झोंपड़े में चली गई तो सदन धीरे धीरे शान्ता के सामने आया और काँपते हुए स्वर से बोला, शान्ता !

यह कहते कहते उसका गला रुक गया। शान्ता प्रेम से गद्‌गद् हो गई। उसका प्रेम उस विरत दशा को पहुँच गया था जब वह संकुचित स्वार्थ से मुक्त हो जाता है। उसने मन में कहा, जीवन का क्या भरोसा है। मालुम नहीं जीती रहूँ या न रहूँ। इनके दर्शन फिर हों या न हों। एक बार इनके चरणों पर सिर रख कर रोने की अभिलाषा क्यों रह जाय ! इसका इससे उत्तम और कौन सा अवसर मिलेगा ? स्वामी, तुम एक बार मुझे अपने हाथों से उठा कर मेरे आँसू पोंछ दोगे तो मेरा चित्त शान्त हो जायगा। मेरा जन्म सफल हो जायगा। मैं जब तक जीऊंगी इस सौभाग्य का आनंद उठाया करूंगी मैं तो तुम्हारे दर्शनों की आशा त्याग ही चुकी थी, किन्तु जब ईश्वर ने वह दिन दिखा दिया तब मैं अपनी मनोकामना क्यों न पूरी कर लूँ ? जीवन रूपी मरु भूमि में यह वृक्ष मिल गया है तो उसकी छाँह में बैठ कर क्यों न अपने दग्ध हृदय को शीतल कर लूँ ?

यह सोच कर शान्ता रोती हुई सदन के पैरों पर गिर पड़ी, किन्तु मुरझाया हुआ फूल हवा का झोंका लगते ही बिखर गया। सदन झुका कि उसे उठा कर छाती से लगा ले, चिमटा ले, लेकिन शान्ता की दशा देख कर उसका हृदय विकल हो गया। जब उसने उसे पहिले पहिल नदी के किनारे देखा था तब वह सौन्दर्य्य की एक नई कोमल पल्लव थी, पर आज वह सूखी पीली पत्ती थी जो बसन्तऋतु में गिर पड़ी है।

सदन का हृदय नदी में चंद्र-किरणों के सदृश थरथराने लगा। उसने काँपते हुए हाथों से उस संज्ञा-शून्य शरीर को उठा लिया। निराशावस्था में उसने ईश्वर की शरण ली। रोते हुए बोला, प्रभो, मैंने बड़ा पाप किया है, मैंने एक कोमल, संतप्त हृदय को बड़ी निर्दयता से कुचला है; पर उसका यह दण्ड असह्य है, इस अमूल्य रत्न को इतनी जल्दी मुझसे मत छीनो, तुम दयामय हो, मुझ पर दया करो।

शान्ता को छाती से लगाये हुए सदन झोंपड़े में गया और उसे पलँग पर लिटा कर, शोकातुर स्वर से बोला, सुमन, देखो यह कैसी हुई जाती है, मैं डाक्टर के पास दौड़ा जाता हूँ। सुमन ने समीप आकर बहन को देखा। माथे पर पसीने की बूँदें आ गईं थीं, आँखें पथराई हुई, नाड़ी का कहीं पता नहीं, मुख वर्णहीन हो गया था। उसने तुरंत पंखा उठा लिया और झलने लगी। वह क्रोध जो शान्ता की दशा को देख कर महीनों से उसके दिल में जमा हो रहा था, फूट निकला। सदन की ओर तिरस्कारपूर्ण नेत्रों से देख कर बोली यह तुम्हारे अत्याचार का फल है, यह तुम्हारी करनी है, तुम्हारे ही निर्दय हाथों ने इस फूल को यों मसला है, तुम्हीं ने अपने पैरों से इस पौधे को यूँ कुचला

है। लो, अब तुम्हारा गला छूटा जाता है। सदन, जिस दिन से इस दुखिया ने तुम्हारी वह अभिमान भरी बातें सुनी, उसके मुख पर हँसी नहीं आई, उसके आँसू कभी नहीं थमें, बहुत गला दबाने से दो चार कौर खा लिया करती थी। और तुमने उसके साथ यह अत्याचार केवल इस लिये कि मैं उसकी बहन हूँ, जिसके पैरों पर तुमने बरसों नाक रगड़ी है, जिसके तलुवे तुमने बरसों सुहलाये हैं, जिसके कुटिल प्रेम में तुम महीनों मतवाले रहे हो। उस समय भी तो तुम अपने माँ बाप के आज्ञाकारी पुत्र थे, या कोई और थे ? उस समय भी तो तुम वही उच्च कुल के ब्राह्मण थे या कोई और थे ? तब तुम्हारे दुष्कर्मों से ख़ानदान की नाक न कटती थी। आज तुम आकाश के देवता बने फिरते हो ! अँधेरे में झूठा खाने पर तैयार, पर उजाले में निमन्त्रण भी स्वीकार नहीं ! यह निरी धूर्त्तता, दग़ाबाज़ी है। जैसे तुमने इस दुखिया के साथ किया है उसका फल तुम्हें ईश्वर देंगे, इसे तो जो कुछ भुगतना था वह भुगत चुकी। आज न मरी कल मर जायगी, लेकिन तुम इसे याद करके रोओगे। कोई और स्त्री होती तो तुम्हारी बातें सुन कर फिर तुम्हारी ओर आँख उठा कर न देखती, तुम्हें कोसती, लेकिन यह अबला सदा तुम्हारे नाम पर मरती रही; लाओ थोड़ा ठंडा पानी। सदन अपराधी की भाँति सिर झुकाये ये सब बातें सुनता रहा। इससे उसका हृदय कुछ हलका हुआ। सुमन ने यदि उसे गालियाँ दीं होतीं तो और भी बोध होता। वह अपने को इस तिरस्कार के सर्वथा योग्य समझता था। उसने ठंडे पानी का कटोरा सुमन को दिया और स्वयं पंखा झलने लगा।

सुमन ने शान्ता के मुख पर पानी के कई छींटे दिये। इस पर भी जब

शान्ता ने आखें न खोलीं तो तब सदन घबराकर बोला, जाकर डाक्टर को बुला लाऊँ न ?

सुमन—नहीं घबराओ मत । ठंडक पहुँचते ही होश आ जायगा । डाक्टर के पास इसकी दवा नहीं है । सदन को कुछ तसल्ली हुई; बोला, सुमन चाहे तुम समझते हो कि मैं बातें बना रहा हूँ लेकिन मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि उसी मनहूस घड़ी से मेरी आत्मा को कभी शान्ति नहीं मिली । मैं बार बार अपनी मूर्खता पर पछताता था । कई बार इरादा किया कि चलकर अपराध क्षमा कराऊँ । लेकिन यह विचार उठता कि किस बूते पर जाऊँ, घर वालों से सहायता की कोई आशा न थी । और मुझे तो तुम जानती ही हो कि सदा कोतल घोड़ा बना रहा । बस, इसी चिंता में डूबा रहता था कि किसी प्रकार चार पैसे पैदा करूँ और अपनी झोंपड़ी अलग बनाऊँ । महीनों नौकरी की खोज में मारा मारा फिरा, कहीं ठिकाना न लगा । अन्त को मैने गंगा माता की शरण ली, और अब ईश्वर की दया से मेरी नाव चल निकली है, अब मुझे किसी के सहारे या मदद की आवश्यकता नहीं है। यहाँ झोपड़ी बना ली है । और बिचार है कि कुछ रुपये और आ जाँय तौ उस पार किसी गाँव में एक मकान बना लूँ, क्यों इनकी तबियत कुछ सँभलती हुई मालुम होती है ?

सुमन का क्रोध कुछ शान्त हुआ । बोली, हाँ, अब कोई भय नहीं है, केवल मूरछा थी । आँखें बन्द हो गईं और होठों का नीलापन जाता रहा । सदन को ऐसा आनन्द हुआ कि यदि वहाँ ईश्वर की कोई मूर्ति होती तो उसके पैरों पर सिर रख देता । बोला, सुमन, तुमने मेरे साथ

जो उपकार किया है उसको मैं सदा याद करता रहूँगा । अगर और कोई बात हो जाती इस लाश के साथ मेरी लाश भी निकलती ।

सुमन—यह कैसी बात मुँह से निकालते हो । परमात्मा चाहेंगे तो वह बिना दवा के ही अच्छी हो जायगी । और तुम दोनों बहुत दिनों तक सुख से रहोगे । तुम्हीं उसकी दवा हो, तुम्हारा प्रेम ही उसका जीवन है, तुम्हें पाकर अब उसे किसी वस्तु की लालसा नहीं है । लेकिन अगर तुमने भूल कर भी उसे अनादर या अपमान किया तो फिर उसकी यही दशा हो जायगी और तुम्हें हाथ मलना पड़ेगा ।

इतने में शान्ता ने करवट बदली और पानी माँगा सुमन ने पानी का गिलास उसके मुँह से लगा दिया । उसने दो तीन घूँट पानी पिया और तब चारपाई पर लेट गई । वह विस्मत नेत्रों से इधर–उधर ताक रही थी । मानो उसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं है । वह चौंक कर उठ बैठी और सुमन की ओर ताकते हुए बोली, क्यों, यही मेरा घर है न ? हाँ, हाँ, यही है । आकर मुझे दर्शन दें; बहुत जलाया है, उस दाह को बुझाएँ । मैं उन से कुछ पूछूँगी । क्या नहीं आते ? अच्छा तो लो मैं ही चलती हूँ । आज मेरी उनसे तकरार होगी । नहीं, मेरी उनसे तकरार होगी । नहीं, मैं उनसे तकरार न करूँगी, केवल यही कहूँगी कि अब मुझे छोड़ कर कहीं मत जाओ, चाहे गले का हार बना कर रक्खो, चाहे पैरों की बेड़ी बना कर रक्खो, पर अपने साथ रक्खो । वियोगदुःख अब सहा नहीं जाता । मैं जानती हूँ तुम मुझसे प्रेम करते हो, अच्छा न सही तुम मुझे नहीं चाहते तो मैं तो तुम्हें चाहती हूँ ? अच्छा, यह भी नहीं सही, मैं भी तुम्हें नहीं चाहती, मेरा विवाह तो तुमसे हुआ है ! नहीं,

नहीं हुआ, अच्छा कुछ न सही, मैं तुमसे विवाद नहीं करती, लेकिन मैं तुम्हारे साथ रहूँगी और अगर तुमने फिर आँख फेरी तो अच्छा न होगा, हाँ अच्छा न होगा। मैं संसार में रोने के लिए नहीं आई हूँ। प्यारे, रिसाओ मत, यह न होगा दो-चार आदमी हँसेगे, ताने देंगे मेरी ख़ातिर से सह लेना। क्या माँ बाप छोड़ देंगे; कैसी बात कहते हो? माँ बाप अपने लड़कों को नहीं छोड़ते। तुम देख लेना, मैं उन्हें खींच लाऊँगी, मैं अपनी सास के पैर धो धो पीऊंगी, अपने ससुर के पैर दबाऊंगी, क्या उन्हें मुझ पर दया न आवेगी? यह कहते कहते शान्ता की आँखें फिर बन्द हो गईं।

सुमन ने सदन से कहा, अब सो रही है, सोने दो, एक नींद सो लेगी तो उसका जी सँभल जायगा। रात अधिक बीत गई है अब तुम भी घर जाओ।

शर्मा जी बैठे घबराते होंगे। सदन-आज न जाऊँगा। सुमन-नहीं नहीं, वह लोग घबरायँगे। शान्ता अब अच्छी है। देखो कैसे सुख में सोती है। इतने दिनों में आज ही मैंने उसे यों सोता देखा है। सदन ने नहीं माना। वहीं बरांडे में आकर चौकी पर बैठ रहा और सोचने लगा।

['सेवासदन']

चतुरसेन

—:o:—

आजकल के गद्य-लेखकों में चतुरसेन जी उसी कोटि में आते हैं जिसमें जयशंकरप्रसाद जी, वियोगी हरि जी तथा राय कृष्णदास जी हैं। जिस प्रकार अन्तःप्रकृति के भावों को प्रकट करने में उनका गद्य विशेष रीति से समर्थ है, उसी प्रकार चतुरसेन जी की शैली भी बड़े ही मार्मिक तथा विशद ढँग से भिन्न भिन्न मनोभावों को अंकित करने में पूरे तौर से उपयुक्त है।

श्री वियोगी हरि जी भक्ति-सम्बन्धी तथा रसिकता-पूर्ण विषयों पर लिखने में अपनी शैली का पूरा चमत्कार दिखाते हैं। पर चतुरसेन जी मानव-हृदय की अनेक अवस्थाओं का तथा उसमें तरंगित होनेवाले भावों को चित्रण करने में अधिक दक्ष हैं। इस विचार से उनकी भाषा बड़ी ही लचीली है। वह अनेक भावात्मक मानसिक स्थितियों को अविकल एवं सजीव रूप में व्यक्त करने के लिए परम उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

प्रायः भावात्मक प्रबन्ध लिखने वाले लेखकों की भाषा दुरूह सी हो जाया करती है, क्योंकि ऐसे निगूढ़ तथा मनो-पिच्छित भावों की सूक्ष्म पर्यालोचना करते समय ऐसी ही

शब्दावली दिमाग़ से निकलने लगती है जो गम्भीर होती है। किन्तु, चतुरसेन जी के प्रबन्धों में यह बात बहुत कम है। एक तो अधिकतर उनके शब्द तत्सम नहीं हैं, और दूसरे उनका वाक्य-संगठन जटिल नहीं है।

वाक्य सीधे-सादे तथा सुबोध तो हैं ही, किन्तु साथ ही साथ उनका आकार भी छोटा ही है। भाषा के मुहावरों का यथास्थान प्रयोग जो उन्होंने यत्र-तत्र किया है उससे भी उनकी भाषा में प्रसादगुण की वृद्धि होती गई है। 'लोभ' के वश में पड़ कर मनुष्य की मानसिक अवस्था क्या से क्या हो जाती है, इसका चित्र कैसे जीते-जागते ढंग से चतुरसेन जी करते हैं।

"इसी का सारा नाता है — इसी की गर्मी ही मज़े की गर्मी है। सच कहा है किसी ने—"धरा पाताल और दिये कपाल।" ···कमा कर कौन धनी बना है? राम कहो "घर आये नाग न पूजिये, बाँबी पूजन जायँ।" भगवान् ने घर बैठे लक्ष्मी भेजी है — तो क्या मैं ढकेल दूँ? सबके यहाँ इसी तरह चुपचाप आती है। गा बजा कर किसके गई है······?"

उनकी भाषा की विशदता और भी एक युक्ति से सदैव ज्यों की त्यों बनी रहती है। अन्तस्तल में चाहे जितने गहरे गड़े हुए भाव क्यों न व्यक्त करने हों, उन्हें प्रकाशित करने को वे बड़े सजीव तथा साधारण जीवन से सम्बन्ध रखने वाली उपमाओं का प्रयोग करते हैं जिससे बाचकों पर उनकी कही

हुई बात का अच्छा असर पड़ता है। जैसे:—

"जैसे फूल से सुगन्ध उड़ जाती है, जैसे नदी का पानी सूख जाता है, जैसे चंद्रग्रहण पड़ जाता है......जैसे दिये का तेल जल जाता है,—वैसे ही उसकी नन्हीं सी जान निकल गई थी।"
('अन्तस्तल')

इस प्रसंग में यह बात विशेष उल्लेख के योग्य है कि जहाँ कहीं लेखक उपमाओं आदि ऐसे साधनों का उपयोग करता है वहाँ उसका यह प्रयत्न रहता है कि कहीं वे इस प्रकार गुम्फित न हो जावें कि जिनसे भाषा सरल होने के बदले कठिन हो जावे। इसी विचार से वे अपने अलंकार सीधे सादे रूप में जीवन की साधारण घटनाओं अथवा अनुभवों के आधार पर निर्मित करते हैं।

इन उपर्युक्त गुणों के अलावा चतुरसेन जी के गद्य में कई और ऐसी बातें हैं जो उन्हीं के समकक्ष लेखकों में भी कम मिलती हैं। यहाँ अभिप्राय विशेष कर दो से है। उनकी रचनाओं को पढ़ने पर बाचकों को स्वयं अनुभव होगा कि उनकी भाषा अत्यन्त द्रुतगामी है। शान्तरस से व्याप्त स्थलों पर भी ऐसा अनुभव होता है कि उनका दिमाग़ उनकी क़लम से आगे चल रहा है और बाचक के दिल में भी तद्रूप स्फूर्ति उत्पन्न करता जा रहा है।

उदाहरण के तौर पर यह अंश लीजिए:—

"...कैसा छटपटाया था, कितने हाथ पैर मारे थे, कितना

ज़ोर लगाया था, पर अन्त में ठंढा हो गया। आँखें बाहर निकल पड़ी थीं, जीभ हलक़ से लटक गई थी, गले की नसें फूल गई थीं, दो मिनट में दम उलट दिया।" ('भय')

यही नहीं 'अन्तस्तल' में 'दु:ख', 'शोक', 'कर्मयोग' ऐसे शान्तरसाप्लावित विषयों की पर्यालोचना करते हुए भी उनकी भाषा के प्रवाह का वेग कम नहीं होता।

इस भाषा की द्रुति के कारण उनके गद्य में कभी कभी वक्तृत्व का सा आभास प्रतीत होने लगता है और यह समझ पड़ने लगता है कि मानो लेखक लेक्चरार की सी तेज़ी तथा वावदूकता दिखाने का प्रयत्न कर रहा हो।

दूसरी विशेषता जो उनके लेखों में मिलती है वह है उनकी आत्मीयता की सच्ची झलक तथा वाचकों के साथ अपने मानसिक भावों का आदान-प्रदान करने का हार्दिक प्रयत्न। इसका प्रमाण उनके किसी भी प्रबन्ध में मिल सकता है। चाहे 'निराश' में चित्रित नैराश्यपूर्णता का वर्णन पढ़िए अथवा 'गर्व' में सूक्ष्मरीति से विश्लेषण किये हुए पुरुष के उद्दंडतापूर्ण व्यवहार का सच्चा वृत्तान्त पढ़िए, लेखक के मनोभावों को जानने की तथा उसके साथ साथ जीवन के विभिन्न विभागों का मार्मिक विवेचन करने की प्रबल उत्कंठा आप में अवश्य उत्पन्न होगी।

अन्त में चतुरसेन जी के गद्य को भावात्मक मान लेने पर यह विचार उठे बिना नहीं रहता कि अन्य भावात्मक लेखकों

की तरह केवल अन्तर्जगत में उथल-पुथल मचानेवाले भावों का दिग्दर्शन ही करने में वे प्रवीण नहीं है। प्रत्युत, यों भी वाह्य जीवन की घटनाओं का वर्णन करने में उनकी भाषा कहीं कहीं काफ़ी सफल होती है।

देखिए एक बुढ़िया का चित्र :—

"......वह बुढ़िया मुझे मीठे स्वर से 'बेटा' कह कर पुकारती थी, पर मेरे हृदय में उसके लिये कभी मातृभाव उदय नहीं हुआ। उसकी सूरत ही ऐसी थी। छोटी छोटी साँप जैसी आँखें, सिकुड़े हुए अपवित्र होंठ और बिल्ली जैसी चाल — मुझे भाती न थी।"

इस प्रकार की वर्णन-क्षमता होने पर उनके गद्य की उपयोगिता परिमित है। क्योंकि, वास्तव में व्यावहारिक जीवन के मामूली अनुभवों तथा विचारों को बिना उनके मानसिक स्रोतों तक पहुँचे सीधे सादे ढँग से प्रकट करने से अधिक सफल नहीं हो सकता। पर, हाँ आजकल के हिन्दी-गद्य की भाषा को सरल तथा भावपूर्ण बनाने में जहाँ जयशंकरप्रसाद जी आदि अन्य कई सुलेखकों के नाम लिये जावेंगे वहाँ चतुरसेन जी स्मरणीय रहेंगे। क्योंकि जिस गद्य को द्विवेदी जी आदि महारथियों ने परिष्कृत करके साहित्यिक प्रयोग के योग्य बनाया है उसमें रस का प्रवाह करने में चतुरसेन जी ने उल्लेख्य कार्य किया है।

आँसू

तुमने मृत्यु के समान ठण्डी और आशा के समान लम्बी निश्वासों के साथ बाहर आकर — उत्तप्त जल कण ! क्या पाया ? इतना भी न सह सके ? छीः, आप अधीर बने, मुझे भी अधीर बनाया । आख़िर आब खोई ।

तुमने कोमल हृदय के गम्भीर प्रदेश में जन्म लेकर इतनी गरम और उतावल प्रकृति कहाँ पाई ? और देखते ही देखते एकाएक आँखों में आकर क्या देख कर पानी पानी होगये ? निर्दयी ! हृदय का सारा रस निचोड़ लाये; क्या आँखों के तेज बुझाने का इरादा था ?

हे अमल, धवल, उज्ज्वल उत्तप्त जल-कण ! हे हृदय के रसीले रस ! ऐसा तो न करो, जब तक हृदय है तब तक उसी में रहो, उसे इतना न निचोड़ो । कुछ अपनी आबरू का ख़याल करो, कुछ मेरे प्यार का लिहाज़ करो, कुछ उस दिन का मान करो — जब रस बन कर रम रहे थे । कुछ उस दिन का ध्यान करो जब बाहर आकर दुर्लभ दृश्य पाया था ।

हे आनन्द के उज्ज्वल मोती ! इन आँखों में तुम ऐसे सज रहे हो जैसे हरे भरे वृक्ष की नवीन रक्ताभ कोंपल । पर तुम्हारा ढरकना — बहुत करुण है — बहुत उदास है — तुम ढरकते क्या हो — मानो प्यार से भरा हुआ जहाज़ समुद्र में डूब रहा है । तुम्हारे इस ढरकने का नीरव रव ग्रीष्म की ऊषा के प्रारम्भिक अन्धकार में अधजगे पक्षियों के कलख के समान उदास मालूम होता है ।

('अन्तस्तल')

परिशिष्ट

—:o:—

राय कृष्णदास

ये आजकल के होनहार गद्य-लेखकों में से हैं। इन्होंने कई प्रकार की रचनायें की हैं। कहानी, आलाप, कविता, गद्य-काव्य सभी प्रकार की रचनायें ये करते हैं। पर, इस प्रसंग में गद्य-लेखक के नाते इन पर संक्षेप से विचार किया जाता है।

गद्य-शैली

वैसे तो साधारण जीवन की घटनाओं पर भी वे कहानियाँ लिखते हैं। पर जहाँ कहीं मानव-हृदय की मनोवृत्तियों का चित्रण करने का उन्हें मौक़ा मिलता है तब तो वे बड़ी ही कुशलता दिखाते हैं। न केवल उन मनोवेगों का मार्मिक निरीक्षण करने में ही वे चतुरता का परिचय देते हैं, बल्कि वे ऐसी भावपूर्ण, कोमल-कान्त शब्दावली का प्रयोग करते हैं जो बड़ी ही आकर्षक होती है। वैसे भी प्रायः उनकी भाषा में एक प्रकार का गहरा मार्दव रहता है और उसके प्रत्येक शब्द में ऐसी तरलता रहती है जिससे पढ़नेवाले के हृदय पर शाब्दिक सौन्दर्य का अनोखा चित्र अंकित हो जाता है।

इसके सिवाय वे बहुत छोटे छोटे वाक्य लिखते हैं और ऐसा जान पड़ता है कि मानो बड़ी फ़ुर्सत से वे भाषा गढ़ते हैं और उनके मनोभाव आपसे आप झरते जाते हैं।

आजकल के रहस्यवादी कवियों के हाथ से भाषा में जो सजीवता तथा शाब्दिक चमत्कार आ रहा है उसका नमूना राय साहब के गद्य में मिलता है। पिछले हाल के गद्य-लेखकों ने गद्य की भाषा को हास्य तथा व्यंग से सराबोर करके उसको सुकुमार मनोभावों को व्यक्त करने के लिए सर्वथा अनुपयुक्त बना दिया था। उसी को कृष्णदास जी सरीखे अन्य लेखकों ने अच्छी तरह से पूरा करने की कोशिश की है।

उनकी लिखने की शैली में एक और भी बड़ा गुण है। मनोभावों को प्रकट करने की शक्ति होने के साथ साथ उसमें काल्पनिक छटा भी है। यह कल्पनाशक्ति उनकी प्रयुक्त हुई उपमाओं में देख पड़ती है। पर, इसका समुचित दिग्दर्शन ऐसे स्थलों पर बड़ी ख़ूबी के साथ होता है जहाँ वे प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करते हुए मानवी भावों तथा घटनाओं का तद्रूप दृश्य सा अंकित करते हैं।

अन्त में, उनकी गद्य-शैली वास्तव में शुद्ध संस्कृत परि-पाटीवाली कही जा सकती है। पर उसमें संस्कृत की दुरूहता नहीं है।

———

भाषा का नमूना

"चारों ओर छोटी छोटी टेकरियाँ थीं; उन पर हरियाली का अटल राज्य। सारी वन-स्थली फूलों से लदी थी। रंगों का मेला लग रहा था—वहीं प्रकृति का मीनाबाज़ार था। सौरभ का कोष खुला हुआ था।···"

('सुधांशु')

तथा,

"रमणी माया की तरह रहस्यमय, कुहुक की तरह चमत्कार-पूर्ण, शिशु-हृदय सी सरल, चंद्रिका की तरह निर्मल, कला की तरह मंजुल, ·········उसकी आँखें मरुस्थल की तरह सूखी, एवं उजाड़ गाँव की तरह सूनी थीं।"

('अनाख्या')

जयशंकरप्रसाद

जयशंकरप्रसाद जी नाटक, कहानी तथा कविता तीनों लिखने में सिद्धहस्त हैं। नाटक उन्होंने अधिकतर ऐतिहासिक विषयों पर लिखे हैं। बौद्धकालीन भारतीय संस्कृति तथा धार्मिक उत्थान का जो प्रामाणिक चित्र उन्होंने 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त' आदि नाटकों में खींचा है वह सर्वथा हृदयग्राही है। यह बात दूसरी है कि वे रंगमंच पर खेले जाने के उपयुक्त प्रतीत नहीं होते।

गद्य में भी प्रसाद जी ने राय कृष्णदास, आदि कई लेखकों की तरह एक नया चमत्कार दिखाया है। पिछले लेखकों ने हिन्दी गद्य को काट-छाँट कर उसे व्यावहारिक स्वरूप देने का

जो सराहनीय प्रयत्न किया था और उसमें हास्य-व्यंग का जो मिश्रण किया था उससे उसका कलेवर तथा उसकी साहित्यिक क्षमता तो अवश्य बढ़ गई थी, किन्तु कालान्तर में युग-प्रवृत्ति पलटने पर वह कुछ कुछ संकीर्ण-प्रयोग सिद्ध होने लगा। विज्ञान की अपूर्व वृद्धि होने के साथ ही साथ आधुनिक संसार की विचार-धारा में मननशीलता की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है। अब आजकल के जीवन में नित्य नई नई सामाजिक, राजनीतिक किम्वा दार्शनिक समस्यायें जटिल रूप में आविर्भूत होती रहती हैं जिनसे मानव-हृदय उद्वेलित हो रहा है। इसी जगद्व्यापी मनोगाम्भीर्य को अविकल रूप में व्यक्त करने के लिए पिछली शताब्दी के लेखकों की मख़ोलपने से सरावोर भाषा काम नहीं दे सकती। पुराने मनचले लेखक अपने समकालीन प्रश्नों का समाधान करते समय हास्य और व्यंग के द्वारा लोगों के दिलों में जो झटके दिया करते थे उनसे अब काम नहीं चलने का।

जयशंकरप्रसाद जी का महत्व ठीक इसी स्थल पर इसी प्रसंग में समझ पड़ने लगता है। उनकी लिखी हुई कोई भी कहानी ले लीजिए। उसमें आपको एतद्कालीन सामाजिक परिस्थिति से पले हुए किसी भी मननशील तथा आन्दोलित-हृदय पुरुष की मानसिक अवस्था का अच्छा हाल मिलेगा। उससे यह भी ज्ञात होगा कि आजकल के जीवन में अशान्ति सी व्याप्त हो रही है। किसी को व्यावहारिक जगत के रूढ़ि-

बन्धनों तथा स्वतन्त्र रीति से उद्भूत हुई वैयक्तिक भावनाओं के पारस्परिक संघर्ष के चक्कर में फँसे हुए देखते हैं तो किसी को अन्य रीति से क्षुब्ध पाते हैं।

ऐसी कोमल मानसिक परिस्थितियों का उपयुक्त चित्रण एक विशेष प्रकार की मार्दव-युक्त भाषा में ही हो सकता है। एवं, जयशंकरप्रसाद जी की गद्य-रचनायें कहीं से भी खोल कर देखिए, उनकी भाषा सदैव चुनी हुई तथा अत्यन्त कोमलता-युक्त मिलेगी। यह गुण वे केवल श्रुतिमधुर शब्दों के प्रयोग ही से नहीं लाते। शब्दों को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए वे एक युक्ति काम में लाते हैं। अर्थात्, जहाँ किसी पात्र के मनोभाव शान्तरूप में प्रकट करने होते हैं वहाँ वे उसकी मनोवस्था की तुलना वाह्यप्रकृति के तद्रूप दृश्यों से करते हैं। उनकी दृष्टि में वाह्यप्रकृति और अन्तर्प्रकृति समानान्तर रेखायें हैं जिनका सम्मिलन स्थूल दृष्टि से चाहे भले न दीख पड़े पर वे वास्तव में एक दूसरे से अदृश्य रीति से मिली हुई हैं।

प्राकृतिक दृश्यों से उन्हें मानव-हृदय के भीतर छिपे हुए भावों का प्रकटीकरण करने के लिए दृष्टान्त भी ख़ूब मिलते हैं। इन उदाहरणों अथवा तुलनाओं के प्रयोग से उनके गद्य में दुरूहता नहीं आने पाती। जैसे :—

'यौवन के ढलने में भी एक तीव्र प्रवाह था जैसे चाँदनी रात में पहाड़ से झरना गिर रहा हो।' इस प्रकार उनके गद्य की भाषा चित्रमय है। साथ ही साथ उससे लेखक की प्रबल

कल्पनाशक्ति तथा काव्योपयुक्त अनुपम सूझ का पता लगता है।

उनकी भाषा की कल्पनाशक्ति तथा चित्रमयता का प्रभाव उसकी व्यंजनाशक्ति अर्थात् सांकेतिकता से और भी अधिक बढ़ जाता है।

पर, जयशंकरप्रसाद के गद्य की वर्णनात्मक शक्ति नियमित है। क्योंकि कल्पनापेक्ष स्थलों पर तथा मनोभावों को प्रकट करने में ही वह अपना पूरा चमत्कार दिखाती है। जहाँ बाहरी बातों का वर्णन करना होता है, वहाँ बिना काल्पनिक उड़ान लिये उनकी भाषा लड़खड़ाने लगती है।

उदाहरणार्थ 'गुदड़ी में लाल' शीर्षक कहानी में एक बुढ़िया का वर्णन वे यों करते हैं:—

"दीर्घ निश्वासों का क्रीड़ास्थल, गर्म गर्म आँसुओं का फूटा हुआ पात्र! काल कराल की सारंगी, एक बुढ़िया का जीर्ण कंकाल, जिसमें अभिमान के लय में करुणा की रागिनी बजा करती है।"

अन्त में, उनकी गद्य-शैली काव्योचित गुणों से युक्त है और भावपूर्ण विषयों के प्रतिपादन में अधिक काम की है। इसके सिवाय उसका वर्गीकरण संस्कृत की ओर झुकी हुई शैलियों के साथ हो सकता है।

शान्त मनोभाव ही उससे मनोहारी ढँग से व्यंजित हो सकते हैं।

———

भाषा का नमूना

वनस्थली के रंगीन संसार में अरुण किरणों ने इठलाते हुए पदार्पण किया और वे चमक उठीं; देखा तो कोमल किसलय और कुसुमों की पँखुरियाँ, बसंत-पवन के घरों के समान हिल रही थीं। पीले पराग का अंगराग लगने से किरणें पीली पड़ गईं। बसंत का प्रभात था।

युवती कामिनी मालिन का काम करती थी। उसे और कोई न था। वह इस कुसुम-कानन से फूल चुन ले जाती और माला बनाकर बेचती। आज भी वह फूले हुए कचनार के नीचे बैठी हुई माला बना रही थी। भँवरे आये, गुनगुनाकर चले गए। बसंत के दूतों का संदेश उसने न सुना। मलय-पवन अंचल उड़ा कर, रूखी लटों को बिखरा कर, हट गया। मालिन बेसुध थी।

('आकाशद्वीप')

परीक्षोपयोगी प्रश्न

—:o:—

१. आजकल हिन्दी–गद्य की भाषा का जो रूप देख पड़ता है वह किस प्रकार उसे प्राप्त हुआ है ? इस सम्बन्ध में कुछ प्राचीन तथा नये लेखकों की भाषा की तुलनात्मक विवेचना कीजिए ।

२. मध्यकालीन साहित्यिक उत्थान के वेग में भी हिन्दी का गद्य क्यों अविकसित रहा ?

३. १९वीं शताब्दी के आस–पास हिन्दी–गद्य को कौन सी ऐसी अनुकूल परिस्थिति मिली जिसमें उसकी उत्तरोत्तर अभिवृद्धि ही होती गई ।

४. यह कहा जाता है कि मध्यकालीन भारत में वैष्णव सन्तों द्वारा जो देशव्यापी भक्ति–आन्दोलन हुआ वह यद्यपि गद्य–साहित्य के प्रचार का बाधक समझा जाता है, किन्तु वास्तव में उसके द्वारा उसका बीज बोया गया । इस विषय में सतर्क टिप्पणी लिखिए ।

५. हिन्दी–गद्य के विकास पर व्रजभाषा और खड़ी बोली का किस प्रकार का प्रभाव पड़ा है ? प्रमाण में भिन्न भिन्न लेखकों की भाषा के नमूने उद्धृत कीजिए ।

६. हाल में हिन्दी–गद्य की जो उन्नति हुई है उसे देखते हुए आप इस समस्या को किस तरह हल करेंगे कि गद्य की भाषा संस्कृतमयी हो अथवा उर्दू से मिली हुई ?

७. राजा शिवप्रसाद, सैयद इंशा तथा प्रेमचन्द कहाँ तक एक ही श्रेणी के गद्य–लेखक समझे जा सकते हैं ?

८. हिन्दी पत्र–पत्रिकाओं की अभिवृद्धि तथा प्रचार का गद्य–साहित्य पर तथा गद्य–शैली पर किस प्रकार का कहाँ तक प्रभाव पड़ा है अथवा पड़ने की सम्भावना है ?

९. हिन्दी में वास्तविक प्रबन्ध–लेखक कौन कहे जा सकते हैं और क्यों ?

१०. अँगरेज़ी शिक्षा की वृद्धि का हिन्दी–गद्य पर किन किन दिशाओं में कौन सा मुख्य प्रभाव पड़ा है ?

११. हिन्दी के गद्य–साहित्य के इतिहास में इनका क्या महत्व है :—

द्विवेदी जी, राजा लक्ष्मणसिंह, देवकीनन्दन खत्री, सन्त–साहित्य; राजनैतिक आन्दोलन, 'भारतमित्र', 'सरस्वती', आर्यसमाज, कथा–वार्ता, रहस्यवादी कविता, टैगोर की कविता, मुद्रणकला, पंडित पद्मसिंह शर्मा ।

———

कुछ उपयोगी ग्रन्थ

—:०:—

१. हिन्दी

१. हिन्दी भाषा और साहित्य	...	बाबू श्यामसुन्दरदास
२. साहित्यालोचन	...	बाबू श्यामसुन्दरदास
३. हिन्दी–साहित्य का इतिहास	...	पं० रामचन्द्र शुक्ल
४. हिन्दी–साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास		पं० सूर्यकान्त
५. हिन्दी की गद्य–शैली का विकास	...	पं० जगन्नाथ तिवारी
६. हिन्दी–भाषा की उत्पत्ति	...	पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

—:०:—

२. अँगरेज़ी

1. Style	...	Sir Walter Raleigh
2. An Introduction to the Study of Literature	...	W. I. Hudson (PP. 66--72)

———

हिन्दी-गद्य-मीमांसा

लेखक-पं० रमाकान्त त्रिपाठी एम० ए०,

अध्यापक जसवन्त कालेज, जोधपुर ।

पृष्ठ-संख्या ५०३ । मूल्य सजिल्द पुस्तक का ३॥)

इस ग्रन्थ में हिन्दी-गद्य के क्रमिक विकास का अत्यन्त विशद वर्णन है । गोस्वामी गोकुलनाथजी से लेकर वर्तमान काल तक हिन्दी-गद्य का इतिहास एक विस्तृत भूमिका में दिया गया है । तदनन्तर प्रसिद्ध गद्य-लेखकों के स्टाइल और विशेषताओं का सोदाहरण विस्तृत अध्ययन है । आज तक ऐसा ग्रन्थ कहीं नहीं छपा । इस ग्रन्थ का महत्त्व नीचे दी हुई हिन्दी भाषा के पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों की आलोचनाओं से स्पष्ट हो जायगा ।

पुस्तक प्रयाग-विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा की पाठ्य पुस्तकों के लिये स्वीकृत हो गई है ।

कुछ सम्मतियाँ

श्रीमान् पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी—

"पुस्तक बड़ी योग्यता से लिखी गई है । लेखक में विवेचना-शक्ति काफ़ी से भी ज़ियादह है । इसमें गद्य की

शैलियों की छानबीन बड़ी बारीकी से की गई है। उनके भेद-भाव का तारतम्य इतनी ख़ूबी के साथ दिखलाया गया है कि लेखक की मननशीलता और विवेचना-शक्ति की प्रशंसा किये बिना जी नहीं मानता। पं० रमाकान्त ने हिन्दी-गद्य का जैसा अध्ययन किया है, शायद ही और किसी ने किया हो।"

SIR GEORGE A. GRIERSON-CAMBERLEY (ENGLAND.)—

"A systematic history of Hindi prose, with notices of the chief writers and examples of their works, such as are here given, is a welcome addition to the library of every one who admires that beautiful language. I must congratulate the author on the success with which he has carried out his design."

श्रीयुत रेवरेण्ड एफ़० ए० के, एम० ए०, डि० लिट०, सागर--

"......It seems to be a most interesting publication......Such a book ought to help to form a standard for Hindi Prose."

श्रीमान् साहित्यरत्न पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय

"ग्रन्थ योग्यता से लिखा गया है। स्थान स्थान पर ग्रन्थकार की सूक्ष्मदर्शिणी प्रतिभा का चमत्कार दिखलाई पड़ता है। ग्रन्थ उपादेय है, और आशा है कि इसका समुचित आदर हिन्दी-संसार में होगा। ऐसे सुन्दर ग्रन्थ प्रकाशित करने के लिए मैं आप का अभिनन्दन करता हूँ।"

DR. SUNITI KUMAR CHATTERJI, M. A. D. LITT, PROFESSOR OF PHILOLOGY, CALCUTTA UNIVERSITY—

"The book will do admirably for students of Hindi in its development in prose. The introductory essay, so for as I could judge by glancing through it, is a well written piece of work, which students will read with profit. I hope your book will have the wide recognition it deserves."

श्रीमान् लाला सीताराम बी० ए०—

"पं० रमाकान्त त्रिपाठी का परिश्रम प्रशंसनीय है। ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता है, और हिन्दी-भाषा की उच्च परीक्षा में इसको स्थान मिलना चाहिए।"

PT. AMAR NATH, JHA M. A., READER, ALLAHABAD UNIVERSITY:—

"I have no hesitation in congratulating you on a work of such merit. It can be thoroughly relied on, and the arrangement of the reading matter is excellent."

THE LAEDER, ALLAHABAD.—

"It is an interesting account of the evolution of Hindi prose which Prof. Tripathi has given in the pages of his admirable book, which is the first of its kind in Hindi."

......The author......shows great judgement and a keen insight."

THE SEARCH-LIGHT, PATNA:—

"It is an excellent history of the evolution of Hindi prose."

पंडित विश्वेश्वरनाथ रेउ साहित्याचार्य्य जोधपुर—

"पुस्तक बड़े महत्व की है। इसकी प्रस्तावना हिन्दी-साहित्य के क्रम-विकाश की विशद जीवनी है। ऐसे ही स्थायी साहित्य से भाषा का महत्त्व बढ़ता है।"

मिलने का पताः—

व्यवस्थापक "हिन्दी-साहित्यमाला-कार्यालय"

कानपुर।